MAHIN-508

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा समालोचना – II

MA HINDI

4th Semester

Rajiv Gandhi University

ww.ide.rgu.ac.in

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा समालोचना –II

एम.ए. (हिंदी)

(चतुर्थ सत्र)

MAHIN-508

RAJIV GANDHI UNIVERSITY

Arunachal Pradesh, INDIA – 791 112

BOARD OF STUDIES	
Prof. Shyam Shankar Singh, (Head) Dept. Of Hindi Rajiv Gandhi University	**Chairman**
Prof. Chandan Kumar Dept. Of Hindi Delhi University	**External Member**
Prof. Dilip Medhi Dept. Of Hindi Guwahati University	**External Member**
Prof. Oken Lego Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Member**
Dr. Arun Kumar Pandey Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Co-ordinator**

Authors

Dr. Laxmi Pandey,
Yogesh Pandey

Revised Edition 2021

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Publisher.

"Infomation contained in this book has been published by Vikas Publishing House Pvt. Ltd, and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, IDE-Rajiv Gandhi University, the publishers and its Authors shall be in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use"

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.
Vikas® PUBLISHING HOUSE PVT LTD
E-28, Sector-8, Noida: 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 Fax: 0120-4078999
Regd. Office: 7561 Ravindra Mansion, Ram Nagar, New Delhi - 110055
Website: www.vikaspublishing.com Email: helpline @vikaspublishing.com

विश्वविद्यालय : एक परिचय

राजीव गाँधी विश्वविद्यालय अरुणाचल प्रदेश के (पूर्व में अरुणाचल विश्वविद्यालय) प्रमुख उच्च संस्थानों में से एक है। स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा गांधी ने जो तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री व फरवरी 1984 को रोनो हिल्स पर विश्वविद्यालय की नींव रखी थी यही विश्वविद्यालय का वर्तमान कप विद्यमान है। आरंभ से ही राजीव गांधी विश्वविद्यालय श्रेष्ठता हासिल करने और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है जो

आरंभ से ही राजीव गाँधी विश्वविद्यालय श्रेष्ठता हासिल करने और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है जो विश्वविद्यालय अधिनियम में निहित है। 28 मार्च 1985 में विश्वविद्यालय को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा सेक्शन 2 (F) के अंतर्गत अकादमिक मान्यता प्रदान की गई।

26 मार्च, 1994 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सेक्शन 12.V के अंतर्गत इसे वित्तीय मान्यता मिली। तब से, राजीव गांधी विश्वविद्यालय तत्कालीन अरुणाचल) ने देश के शैक्षिक परिदृश्य में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। विश्वविद्यालय (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा गठित विशेषज्ञों की एक उच्च स्तरीय समिति द्वारा देश के उन विश्वविद्यालयों में राजीव गांधी विश्वविद्यालय को भी चुना गया जिनमें श्रेष्ठता हासिल करने की संभावनाएं व सामर्थ्य है।

9 अप्रैल 2007 से विश्वविद्यालय को मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की एक अधिसूचना के माध्यम से केंद्रीय विश्वविद्यालय का दर्जा दिया गया।

यह विश्वविद्यालय रोनो हिल्स की चोटी पर 302 एकड़ के विहंगम प्राकृतिक अंचल में स्थित है जहां से दिक्रोंग नदी का अदभुत दृश्य देखने को मिलता है। यह राष्ट्रीय राजमार्ग 52-A से 6.5 कि.मी . और राज्य की राजधानी ईटानगर से 25 किकी दूरी पर स्थित है। दिक्रोंग .मी . पुल के द्वारा कैंपस राष्ट्रीय राजमार्ग से जुड़ा हुआ है।

विश्वविद्यालय के शैक्षिक व शोध कार्यक्रम इस प्रकार तैयार किए गए है कि वे राज्य के सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विकास में सकारात्मक भूमिका निभा सकें। विश्वविद्यालय स्नातक स्नातकोत्तर एमकार्यक्रम भी संचालित करता है। शिक्षा विभाग .डी .एच .फिल व पी . एड का कोर्स भी चलाता है। .बी

इस विश्वविद्यालय से 15 कॉलेज संबद्ध है। विश्वविद्यालय पड़ोसी राज्यों, विशेषकर असम के छात्रों को भी शैक्षिक सुविधाएं प्रदान कर रहा है। इसके विभिन्न विभागों व इससे जुड़े कॉलेजों में छात्रों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है।

यूजीसी व अन्य फडिंग एजेंसियों की वित्तीय सहायता से संकाय सदस्य भी शोध गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग ले रहे हैं। आरंभ से ही विभिन्न फडिंग एजेंसियों द्वारा

विश्वविद्यालय के विभिन्न शोध प्रस्तावों को स्वीकृत किया गया है। विभिन्न विभागों ने अनेक कार्यशालाओं, संगोष्ठियों व सम्मेलनों का आयोजन भी किया है। अनेक संकाय सदस्यों ने देश व विदेश में आयोजित सम्मेलनों व संगोष्ठियों में भाग लिया है देशविदेश के प्रमुख विद्वानों व - विशिष्ट व्यक्तियों ने1 विश्वविद्यालयों का दौरा किया है और अनेक विषयों पर अपने वक्तव्य भी प्रस्तुत किए है।

2000-2001 का अकादमिक वर्ष विश्वविद्यालय के लिए सुदृढीकरण का वर्ष रहा। वार्षिक परीक्षाओं से सेमेस्टर प्रणाली में परिवर्तन व्यवधानविहीन रहा और परिणामत छात्रों के प्रदर्शन में भी विशेष सुधार देखा गया बोर्ड ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज़ द्वारा बनाए गए विभिन्न पाठ्यक्रमों को लागू किया गया यूजीसी इंफोनेट कार्यक्रम के तहत ERNET इंडिया द्वारा VSAT सुविधा प्रदान की गई ताकि इंटरनेट एक्सेस प्रदान की जा सके।

मूलभूत संरचनागत सीमाओं के बावजूद विश्वविद्यालय अकादमिक श्रेष्ठता बनाए रखने में सफल रहा है। विश्वविद्यालय अकादमिक कैलेंडर का अनुशासित रूप से पालन करता है परीक्षाएं समय पर संचालित की जाती है और परिणाम भी समय पर घोषित होते हैं विश्वविद्यालय के छात्रों को न केवल राज्य व केंद्रीय सरकार में नौकरी के अवसर प्राप्त हुए है बल्कि वे विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थाओं उद्योगों व संस्थानों में नौकरी के अवसर प्राप्त करने में सफल रहे हैं। अनेक छात्र NET परीक्षाओं मैं भी सफल हुए हैं। अनेक छात्र परीक्षाओं में भी NET | सफल हुए हैं

आरंभ से अब तक विश्वविद्यालय ने शिक्षण, पाठ्यक्रम में नवीन परिवर्तन लाने व संरचनागत विकास में महत्वपूर्ण प्रगति की है |

आईडीई एक परिचय

हमारे देश में उम शिक्षा प्रणाली को सीमित सीटों सुविधाओं और बुनियादी संसाधनों की कमी के कारण अनेक सामना करना पड़ रहा है। विषयों से जुड़े शिक्षाविद मानते है कि शिक्षा की प्रणाली से अधिक महत्वपूर्ण और जानना है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली इन सभी बुनियादी समस्याओं और समाजिकआर्थिक बाधाओं को दूर करने का यह प्रणाली ऐसे लाखों लोगों की गुणवत्ता युक्त शिक्षा - पाने की मांग की पूर्ति कर रही है जो अपनी रखना चाहते है मगर नियमित रूप महाविद्यालयों में प्रवेश नहीं ले पाते। यह प्रणाली उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले बेरोजगार कार्यरत पुरुष और महिलाओं के लिए भी मददगार सिद्ध होती है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली उन लोगों के लिए भी उपयुक्त माध्यम है जो सामाजिक, आर्थिक अथवा अन्य कारणों से शिक्षा और शिक्षण संस्थानों से दूर हो गए या समय नही निकाल पाये। हमारा मुख्य उद्देश्य उन लोगों को उच्च शिक्षा की सुविधाएं प्रदान करना है जो मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय नियमित तथा व्यावसायिक शैक्षिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश नहीं ले पाते विशेषकर अरुणाचल प्रदेश के ग्रामीण व भौगोलिक रूप से दूरदराज स्थित क्षेत्रों में व सामान्यतया उत्तर पूर्वी भारत के दूरस्थ स्थित क्षेत्रों में रान-2008 में दूरस्थ शिक्षा केंद्र का नाम परिवर्तित कर दूरस्थ शिक्षा संस्थान रखा गया दूरस्थ शिक्षार्थियों के लिए (आईटीई) शिक्षा के अवसरों का विस्तार करने के प्रयास जारी रखते हुए आईडीई ने2013-14 के शैक्षणिक सत्र में पांच स्नातकोत्तर विषयों शिक्षा अंग्रेजी), हिंदी, इतिहास और राजनीति विज्ञानको शामिल किया (है।

दूरस्थ शिक्षा संस्थान में विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के पास ही शारीरिक विज्ञान संकाय भवन पहली मंजिल का निर्माण किया गया है। विश्वविद्याल)य परिसर राष्ट्रीय राजमार्ग 52 ए के एनईआरआईएसटी बिंदु से 6 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। विश्वविद्यालय की बसें एनईआरआईएसटी के लिए नियमित रूप से चलती रहती है।

दूरस्थ शिक्षा संस्थान की अन्य विशेषताएं

.1 **नियमित माध्यम के समकक्ष**-पात्रता, अर्हताएं, पाठ्यचर्या सामग्री, परीक्षाओं का माध्यम और डिग्री राजीव गांधी विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालय के विभागों के समकक्ष हैं।

2. **स्वयं शिक्षण अध्ययन सामग्री** -**(एसआईएसएम)**छात्रों को संस्थान द्वारा तैयार और दूरस्थ शिक्षा परिषद(डीईसी) नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित स्वयं शिक्षण अध्ययन सामग्री प्रदान की जाती है। यह सामग्री प्रदेश के समय आईडीई और अध्ययन केंद्रों में उपलब्ध कराई जाती है। यह सामग्री हिंदी विषय के अलावा सभी विषयों में अंग्रेजी में ही उपलब्ध कराई जाती है।

3. **संपर्क और परामर्श कार्यक्रम (सीसीपी)** शैक्षिक कार्यक्रम के प्रत्येक पाठ्यक्रम में व्यक्तिगत संपर्क द्वारा लगभग 7-15 दिनों की अवधि का परामर्श शामिल है। बीपाठ्यक्रमों के लिए सीसीपी .ए. के लिए सीसीपी में उपस्थिति .ए.अनिवार्य नहीं है। हालांकि व्यावसायिक पाठ्यक्रमों और एम अनिवार्य होगी।

.4 **फील्ड प्रशिक्षण और प्रोजेक्ट** -व्यावसायिक पाठ्क्रमों में फील्ड प्रशिक्षण और संबंधित विषय में प्रोजेक्ट लेखन का आवश्यक प्रावधान होगा।

5. **परीक्षा एवं निर्देश का माध्यम** -परीक्षा और शिक्षा का माध्यम उन विषयों को छोड़कर जिनमें संबंधित भाषा में लिखने की जरूरत हो, अंग्रेजी होगा।

6. **विषय परामर्श संयोजक** -पाठ्य सामग्री को तैयार करने के लिए आईडीई विश्वविद्यालय के अंदर और बाहर विषय समन्वयकों की नियुक्ति करती है। विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त परामर्श समन्वयक पीसीसीपी के अनुदेशों को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों से जुड़े रहते हैं ये परामर्श समन्वयक परामर्श कार्यक्रम के सुचारु रूप से संचालन तथा विद्यार्थियों के एसाइनमेंट्स का मूल्यांकन करने के लिए संबंधित व्यक्तियों से संपर्क कर आवश्यक समन्वय करते हैं। विद्यार्थी भी इन परामर्श समन्वयकों से संपर्क कर अपने विषय से संबंधित परेशानियों और शंकाओं का समाधान प्राप्त कर सकते है

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE
भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा समालोचना – II

Syllabi- MAHIN-508	**Mapping in Book**
इकाई 1 : काव्य के प्रकार ; रस सिद्धांत ; रस के अंग ; रस निष्पत्ति ; साधारणीकरण ; सहृदय की अवधारणा ; सारांश	**इकाई1** : **भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास –II**
इकाई 2 : वक्रोक्ति सम्प्रदाय : स्वरुप एवं मूल स्थापनाएं ; औचित्य सिद्धांत : स्वरुप एवं मूल स्थापनाएं ; सारांश	**इकाई 2** : **काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय – II**
इकाई 3 : क्रोचे का अभिव्यंजना सिद्धांत ; कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत ; वर्ड्सवर्थ का भाषा-चिंतन ; आई.ए.रिचर्ड्स का मूल्य-सिद्धांत एवं काव्य भाषा ; टी.एस इलियट के काव्य सिद्धांत ; सारांश	**इकाई 3** : **पाश्चात्य काव्य सिद्धांत – II**
इकाई 4 : मार्क्सवादी आलोचना ; समाजशास्त्रीय आलोचना ; सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना ; शैली वैज्ञानिक ; नई समीक्षा आलोचना प्रणालियां ; सारांश	**इकाई 4** : **हिंदी आलोचना के सिद्धांत एवं प्रणालियां – II**
इकाई 5 : परिचय ; आचार्य रामचंद्र शुक्ल ; शिवदान सिंह चौहान ; आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ; डॉ. नगेन्द्र ; आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ; डॉ. रामविलास शर्मा ; मुक्तिबोध ; डॉ. नामवर सिंह ; सारांश	**इकाई 5** : **हिंदी के प्रमुख आलोचक – II**

विषय-सूची

परिचय

इकाई 1 : भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास – II

1.0 काव्य के प्रकार
1.2 रस सिद्धांत
1.3 रस के अंग
1.4 रस निष्पत्ति
1.5 साधारणीकरण
1.6 सहृदय की अवधारणा
1.7 सारांश

इकाई 2 : काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय – II

2.0 वक्रोक्ति सम्प्रदाय : स्वरुप एवं मूल स्थापनाएं
2.1 औचित्य सिद्धांत : स्वरुप एवं मूल स्थापनाएं
2.2 सारांश

इकाई 3 : पाश्चात्य काव्य सिद्धांत – II

3.0 क्रोचे का अभिव्यंजना सिद्धांत
3.1 कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत
3.2 वर्ड्सवर्थ का भाषा-चिंतन
3.3 आई.ए.रिचर्ड्स का मूल्य-सिद्धांत एवं काव्य भाषा
3.4 टी.एस इलियट के काव्य सिद्धांत
3.5 सारांश

इकाई 4 : हिंदी आलोचना के सिद्धांत एवं प्रणालियां – II

4.0 मार्क्सवादी आलोचना
4.1 समाजशास्त्रीय आलोचना
4.2 सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना
4.3 शैली वैज्ञानिक
4.4 नई समीक्षा आलोचना प्रणालियां
4.5 सारांश

इकाई 5 : हिंदी के प्रमुख आलोचक – II

5.0 परिचय
5.1 आचार्य रामचंद्र शुक्ल
5.2 शिवदान सिंह चौहान
5.3 आचार्य नंददुलारे वाजपेयी
5.4 डॉ. नगेन्द्र
5.5 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
5.6 डॉ. रामविलास शर्मा
5.7 मुक्तिबोध
5.8 डॉ. नामवर सिंह
5.9 सारांश

1.6 काव्य के प्रकार

काव्य को शैली एवं स्वरूप दो प्रमुख दृष्टियों से वर्गीकृत किया जा सकता है। जिसका विवरण इस प्रकार है-

1.6.1 शैली की दृष्टि से काव्य भेद

शैली की दृष्टि से काव्य के तीन भेद होते हैं– (1) गद्य (2) पद्य (3) चंपू।

1. **गद्य–** शब्दाचार या व्याकरण के आधार पर की गई रचना को गद्य कहते हैं। इसके अंतर्गत अभिनय नाटक, उपन्यास, कहानी एवं आलोचनाएं इत्यादि आते हैं। पद्य की अपेक्षा गद्यकाव्य में सफलता प्राप्त करना अधिक कठिन होता है। इसीलिए कहा भी है – 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'–अर्थात गद्य काव्य कवियों की निकषं (कसौटी) है।

2. **पद्य–** पिंगलशास्त्र के नियमों से बद्ध रचना को पद्य कहते हैं। आधुनिक कविगण पिंगल के नियमों की उपेक्षा करके एक प्रकार के लयात्मक छंदों (स्वच्छंद छंदों)

की रचनाएं करने लगे हैं जिनमें लय का प्राधान्य होता है। हिंदी साहित्य में ऐसी रचनाएं भी पद्य के अंतर्गत समझी जाती हैं। पद्य के अंतर्गत सूक्तियां और कविताएं भी आती हैं, जिनके लक्षण और उदाहरण क्रमशः नीचे दिए गए हैं-

(क) **सूक्ति**– वह चमत्कार उत्पन्न करने वाली युक्ति, जिसमें वर्ण विन्यास की विशेषता से कथन को विशिष्ट ढंग से कहा जाता है, उसे 'सूक्ति' कहते हैं। यथा–

'रात्रिराज! सुकुमारशरीर! कः सहेत तव नाम मयूखान्।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयम् चन्द्रकांतदृषदोपि गलंति।। –*मंखक*

(ख) **कविता**– जिस उक्ति में ध्वनि या गुणीभूत व्यंग्य की प्रधानता होती है, उसे 'कविता' कहते हैं।

'आयासः परहिंसा वैतंसिक, सारमेय! तव सारः।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एषोऽधुनैवान्यैः।। –*गोवर्धनाचार्य*

इसके दो भेद हैं–(1) समास और (2) व्यास।

1. **समास**–जहां किसी विस्तृत बात का वर्णन घटाकर अत्यंत थोड़े में किया जाता है, वहां समास कविता होती है।
2. **व्यास**–जहां किसी थोड़ी सी बात का वर्णन अत्यंत बढ़ा-चढ़ा कर किया जाता है वहां व्यास कविता होती है।

3. **चंपू/मिश्रकाव्य**–'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।'

अर्थात ऐसी रचनाएं जो पद्य और गद्य दोनों में लिखी जाती हैं, उन्हें चंपू या मिश्रकाव्य कहते हैं।

1.6.2 स्वरूप की दृष्टि से भेद

स्वरूप की दृष्टि से काव्य के दो भेद हैं–(क) दृश्य और (ख) श्रव्य।

(क) **दृश्य काव्य**–जिस काव्य की रसानुभूति केवल श्रवण या पठन मात्र से नहीं, परंतु अभिनयादि के देखने से होती है, उसे दृश्य काव्य कहते हैं। श्रव्य काव्य का रसास्वादन केवल पठित वर्ग ही कर सकता है, परंतु दृश्य-काव्य का रसास्वादन पठित और अपठित दोनों वर्ग कर सकते हैं। इसलिए इसे भरतमुनि ने पांचवां वेद कहा है–

"न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सर्ववर्णिकम्।। (नाट्यशास्त्र–प्रथमोध्याय)

दृश्यकाव्य के अंतर्गत रूपक और उपरूपक आते हैं, जिनमें से रूपक के 10 और उपरूपक के 18 भेद होते हैं।

रूपक के 10 भेद

1. **नाटक**–यह शब्द 'नट्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है 'अभिनय करना'। अधिकांश व्यक्ति 'नाटक' को 'रूपक' का पर्यायवाची शब्द समझते

है, परंतु वास्तव में यह रूपक के 10 भेदों में से एक भेद है। 'रूपक' के 2 अर्थ है 'रूप धारण करना' और 'अभिनय करने योग्य वस्तु'। यदि हम रूपक का अर्थ 'रूप धारण करना' लें तब भी यही भाव आता है। जब नायक और नायिका रंगभूमि पर विभिन्न रूपों को धारण कर दर्शकों के मन को मोहते है, उसे रूपक कहते हैं।

2. **प्रकरण**–इसकी कथा लौकिक या कवि कल्पित होती है। इसका नायक द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) होता है। नायिका कोई श्रेष्ठकुल कन्या या वेश्या होती है। इसमें शृंगार रस प्रधान होता है। इसका एक भेद मद्यप (जुआरी और शराबी) विट चेटादि की चेष्टाओं से परिपूर्ण होता है। अन्य सब बातें नाटक के समान होती हैं।

3. **भाण**–इसकी कथा काल्पनिक होती है। इसमें एक ही अंक और एक ही पात्र होता है, वह भी कोई विट होता है। वह रंगमंच पर अपनी या औरों की अनुभूत बातों को कथोपकथन के रूप में स्वयं ही प्रश्न करता और उसका उत्तर देता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसमें केवल धूर्तों का ही चरित्र चित्रण किया जाता है।

4. **प्रहसन**–इसमें हास्य रस की प्रधानता होती है। इसका नायक कोई तपस्वी (झूठा) नपुंसक, कंचुकी या पुरोहित होता है। अन्य सब बातें 'भाण' के समान होती हैं।

5. **डिम**–इसकी कथा इतिहास प्रसिद्ध होती है। इसमें गंधर्व, यक्ष, सुर, असुर, भूत, प्रेत आदि अत्यंत उद्धत 16 नायक होते हैं। इसमें इंद्रजाल, संग्राम, क्रोध और भूत प्रेतादिकों की चेष्टाओं का वर्णन ज्यादा से ज्यादा 4 अंकों में किया जाता है। रौद्र रस प्रधान और अन्य रस उसके सहायक होते हैं।

6. **व्यायोग**–इसकी कथा लोक या पुराण प्रसिद्ध होती है। इसका नायक धीरोद्धत अथवा धीरोदात्त होता है। इसमें एक ही अंक होता है जिसमें वीर रस प्रधान होता है। इसमें स्त्री पात्रों का अभाव व पुरुष पात्रों की बहुलता होती है।

7. **समवकार**–इसकी कथा पुराण प्रसिद्ध होती है, जिसमें सुरासुरान्वित घटनाओं का वर्णन तीन अंकों में किया जाता है। इसमें बारह सुर, असुर आदि नायक होते हैं तथा वीर रस प्रधान रहता है। अन्य सब रस उसके सहायक होते हैं।

8. **वीथी**–इसमें शृंगार रस की प्रधानता रहती है। शेष सब बातें 'भाण' के ही समान होती हैं।

9. **ईहामृग**– इसकी कथावस्तु कुछ काल्पनिक और कुछ इतिहास प्रसिद्ध होती है। इसका नायक धीरोद्धत, मनुष्य या दिव्य (देवता) होता है। इसमें एक ही अंक होता है।

10. **अंक**–इसकी कथा लोक प्रसिद्ध होती है और नायक कोई साधारण व्यक्ति होता है। इसमें भी एक ही अंक होता है जिसमें स्त्रियों के करुण रुदन की अधिकता होने से करुण रस प्रधान होता है।

उपरूपक के 18 भेद होते हैं

1. **नाटिका**–इसकी कथा लोक प्रसिद्ध होती है, नायक धीरललित कोई राजा, और नायिका राजवंश की कोई संगीतज्ञा कन्या होती है। इसमें चार अंक होते हैं, जिसमें कि अधिकांश पात्र स्त्रियां होती हैं।
2. **त्रोटक**–इसमें पांच से लेकर आठ या नौ तक अंक होते हैं और प्रत्येक अंक में विदूषक (नकलची) का कार्य होता है।शृंगार रस प्रधान होता है।
3. **गोष्ठी**–इसमें एक अंक होता है, जिसमें चार-पांच स्त्री पात्र और आठ-दस पुरुष पात्रों का कार्य वर्णित होता है। संभोग शृंगार रस की प्रधानता होती है।
4. **सट्टक**–इसके अंकों को 'जनबिका' कहते हैं, जिसमें अद्भुत रस की प्रधानता होती है। अन्य सब बातें 'नाटिका' के सदृश होती हैं। विशेष–यह केवल प्राकृत भाषा में ही लिखा जाता है।
5. **नाट्यरासक**–इसमें एक ही अंक होता है, जिसमें शृंगार मिश्रित हास्य रस की प्रधानता रहती है। इसका उपनायक नर्म सचिव या पीठमर्द होता है और नायिका वासकसज्जा (विविध शृंगारों से अलंकृत होकर पतिदेवता की प्रतीक्षा करने वाली) होती है।
6. **प्रस्थानक**–इसमें दो अंक होते हैं, नायक दास, उपनायक बलहीन व्यक्ति और नायिका दासी होती है।
7. **उल्लाप्य**–इसमें तीन अंक होते हैं, कथा अलौकिक, नायक धीरोदात्त तथा शृंगार, हास्य और करुण रस की प्रधानता रहती है।
8. **काव्य**–इसमें एक अंक होता है, जिसमें संगीत और हास्य रस की प्रचुरता रहती है।
9. **रासक**–इसमें एक अंक होता है, पांच पात्र होते हैं, पर सूत्रधार नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। इसमें उदात्त भाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किया जाता है।
10. **प्रेक्षण**–इसमें एक अंक होता है, नायक बलहीन होता है और सूत्रधार नहीं होता। नान्दी तथा प्ररोचना नेपथ्य (पर्दे के पीछे से) से पढ़ी जाती है।
11. **संलापक**–इसमें चार अंक होते हैं और नायक धूर्त होता है। इसमें संग्रामादि का विशद वर्णन रहता है।
12. **श्रीगदित**–इसमें एक अंक होता है। नायक धीरोदात्त और नायिका लोक प्रसिद्ध होती है।

13. **शिल्पक**–इसमें चार अंक होते हैं और नायक ब्राह्मण होता है। इसमें श्मशान, प्रेतादि का वर्णन रहता है, जिसमें शांत और हास्य रस को छोड़कर शेष सब रस हो सकते हैं।
14. **विलासिका**–इसमें एक ही अंक होता है। नायक कोई विदूषक, विट या गुणहीन व्यक्ति होता है।शृंगार या हास्य रस का प्राधान्य रहता है।
15. **दुर्मल्लिका**–इसमें चार अंक होते हैं। पहले अंक में विट की क्रीड़ा, दूसरे में विदूषक का विलास, तीसरे में पीठमर्द या नर्मसचिव का विलास और चौथे में नागरिकों की क्रीड़ा रहती है। इन चारों अंकों का प्रदर्शन क्रमशः 6, 10, 12 और 20 घड़ी (1 घड़ी–24 मिनट) का रहता है।
16. **प्रकरणिका**–इसका नायक व्यापारी होता है और नायिका इसकी सजातीया होती है। इसकी कथा लोक प्रसिद्ध अथवा काल्पनिक होती है। इसमें शृंगार रस प्रधान होता है और नायक धर्म, अर्थ और काम में परायण धीर होता है। इसमें पांच अंक होते हैं।
17. **हल्लीश**–इसमें एक अंक होता है। पांच या छः स्त्री पात्र होते हैं और एक उदात्त नायक होता है। इसमें संगीत की अधिकता रहती है।
18. **भाणिका**–इसमें भी एक ही अंक होता है। नायक मूर्ख, नायिका उदात्त होती है।

ख) **श्रव्य काव्य**–जिस काव्य का आनंद श्रवण करने या पठन करने से प्राप्त होता है, उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। इसके दो भेद हैं–(अ) प्रबंध काव्य और (आ) मुक्तक काव्य।

(अ) **प्रबंध काव्य**–जिस काव्य की रचना प्राचीन कथा वस्तु के आधार पर की जाती है उसे प्रबंध काव्य कहते हैं। इसका प्रत्येक छंद एक दूसरे से शृंखलित अथवा जुड़ा हुआ होता है। जैसे–मैथिलीशरण गुप्त लिखित–जयद्रथ- वध। इसके दो भेद हैं–(1) महाकाव्य और (2) खंड काव्य।

(1) **महाकाव्य**–प्रबंध काव्य के दो भेद हैं–महाकाव्य और खंडकाव्य। महाकाव्य बड़ा काव्य होता है। इसमें जीवन के अनेक रूपों की अभिव्यक्ति होती है। घटनाओं का बहुविध विस्तार होता है। यह बड़े महत्व की रचना होती है, जैसे नाटक के तीन प्रमुख तत्व होते हैं वैसे ही महाकाव्य के माने गए हैं और वे हैं–1. वस्तु, 2. नेता, 3. रस।

आचार्यों ने महाकाव्य के अनेक लक्षण बताए हैं। इनमें सबसे विस्तारपूर्वक वर्णन आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण नामक ग्रंथ में किया है। उनके अनुसार महाकाव्य सर्गबद्ध रचना होती है। उसमें देवता, श्रेष्ठ वंश का क्षत्रिय नायक होता है। कहीं एक वंश के कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर, शांत में से एक रस मुख्य होता है। इनका विस्तृत विवरण इस प्रकार है–

महाकाव्य के विश्वनाथ सम्मत लक्षण इस प्रकार है--

1. महाकाव्य एक बड़ा काव्य होता है। वह सर्गबद्ध रचना होती है। उसमें 8 से अधिक सर्ग होते है।
2. इसके प्रत्येक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छंद भी होते है। सर्ग के अंत में छंद भिन्न होता है और उसमें अगले सर्ग की कथा का संकेत होता है।
3. इसका एक नायक होता है। वह देवता या श्रेष्ठ वंश का क्षत्रिय होता है जिसमें प्राय: धीरोदात्त आदि गुण होते हैं। कहीं-कहीं एक वंश के तत्कुलीन अनेक राजा भी नायक होते है, जैसे-कालिदास के रघुवंश में है।
4. महाकाव्य में श्रृंगार, वीर और शांत रस में से एक रस अंगी होता है, शेष रस गौण होते हैं।
5. महाकाव्य में नाटक की सभी संधियां भी होती हैं, जैसे-मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अविमर्श, निर्वहण।
6. इसकी कथा लोकप्रसिद्ध सज्जन संबंधी या ऐतिहासिक कथा होनी चाहिए।
7. महाकाव्य की फल प्राप्ति में धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन होना चाहिए।
8. महाकाव्य के आरंभ में मंगलाचरण होना चाहिए जो नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और वस्तु निर्देशात्मक हो सकता है।
9. इसमें सज्जनों की प्रशंसा और खलों की निंदा का भी वर्णन होना चाहिए, जैसे- तुलसीदास के रामचरितमानस में।
10. महाकाव्य में विस्तार होता है। उसमें विभिन्न वर्णन होते हैं। जैसे-संध्या, सूर्योदय व अस्त, चंद्रोदय, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, वन, समुद्र, संग्राम, यात्रा, विवाह, संयोग, वियोग, मृगया, ऋतुएं आदि।
11. महाकाव्य का नामकरण कवि के नाम से या नायक के नाम से या चरित्र के नाम से किया जाता है।
12. सर्ग की वर्णनीय कथा के आधार पर सर्ग का नामकरण होता है।

महाकाव्यों की परंपरा संस्कृत साहित्य से देखने में आती है। वाल्मीकि रामायण और महाभारत भी संस्कृत के महाकाव्य माने जाते हैं। प्राय: कालिदास के रघुवंश और कुमारसंभव, भारवि का किरातार्जुनीय, माघ का शिशुपालवध श्रेष्ठ महाकाव्य माने गए हैं। हिंदी में चंदवरदाई का पृथ्वीराज रासो, जायसी का पद्मावत, तुलसी का रामचरितमानस, केशव की रामचंद्रिका, मैथिलीशरण गुप्त का साकेत, जयशंकर प्रसाद की कामायनी, हरिऔध का प्रिय-प्रवास श्रेष्ठ महाकाव्य हैं।

महाप्रबंध को हम चार कोटियों में रख सकते हैं–(1) पुराण, (2) आख्यान, (3) चरित, (4) निबद्ध काव्य।

इनमें पुराण, प्रागैतिहासिक घटनाओं का विभिन्न युगों और कल्पों के क्रम में किसी विशेष उद्देश्य के प्रतिपादन अथवा शिक्षा के प्रचार के लिए अनेक चमत्कारी घटनाओं से युक्त चित्रण करने वाला विशालकाय महाप्रबंध होता है। पुराण का विशेष विकास संस्कृत साहित्य में हुआ और हिंदी में भी उनके आधार पर स्वतंत्र रूप में अथवा अनुवाद के रूप में पुराणों की रचना हुई। पुराण काव्य की मुख्य विशेषताओं को हम निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं–

1. इसमें ईश्वर के एक या अनेक अवतारों का तथा अवतारी पुरुषों, महात्माओं और संबद्ध ऋषि-मुनियों की कथाओं का इस प्रकार वर्णन होता है जिससे ईश्वरीय सत्ता के ऐश्वर्य का प्रतिपादन हो।
2. इसके अंतर्गत सत्य अथवा ईश्वर-भक्ति की महिमा सिद्ध करने के लिए सज्जनों और सद्वृत्तियों की विजय तथा दुर्जनों और दुर्वृत्तियों की पराजय के द्वारा समाज में सद्गुणों की प्रतिष्ठा की जाती है।
3. पुराण की कथा में सृष्टि के प्रारंभ, विकास और प्रलय का वर्णन होता है और कथा का सूत्र युग-युगांतर व्यापी रहता है।
4. पुराण अनेक स्कंधों में विभाजित होते हैं, जिसके एक-एक स्कंध में अनेक अध्याय होते हैं।
5. पुराण में प्राय: किसी शंका या प्रश्न को उठाकर शंका-निवारण या प्रश्न के उत्तर स्वरूप विभिन्न आख्यानों का विकास होता है, जिनके द्वारा किसी सिद्धांत का प्रतिपादन और दैवीय ऐश्वर्य की महत्ता सिद्ध की जाती है।
6. इसमें विभिन्न कल्पों, मन्वंतरों और युगों में उत्पन्न हुए राजाओं ओर उनके देशों का विस्तार से वर्णन रहता है।
7. पुराण में प्राय: प्रत्येक अध्याय के अंत में पुराण के माहात्म्य का अनुकथन रहता है।
8. पुराण के बीच में वर्णन के साथ-साथ वार्तालाप भी रहता है और इस प्रकार भावुकता और विस्तार के साथ विभिन्न शंकाओं का समाधान करते हुए अनेक अलौकिक और आश्चर्यजनक कृत्यों के वर्णन द्वारा जीवन की उपयोगी शिक्षाओं को प्रस्तुत करते हुए पुराण की रोचक रचना की जाती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पुराण इतिहास और काव्य का मिश्रित, किंतु अत्यंत विस्तृत स्वरूप है, जिसका मुख्य उद्देश्य किसी सिद्धांत का प्रतिपादन या महिमा का स्पष्टीकरण होता है।

आख्यान– आख्यान भी एक विस्तृत प्रबंध काव्य होता है। इसका कथानक प्रायः काल्पनिक या मिश्रित रहता है। उस कथानक के नायक से संबंधित जीवन वृत्त और घटनाओं का अत्यंत रोचक और चमत्कारी ढंग से इसमें वर्णन किया जाता है। यद्यपि यह पुराण सा विस्तृत नहीं रहता, लेकिन प्रधान कथानक के साथ कुछ गौण कथाओं का संघटन रहता है। इसे प्रामाणिक बनाने के लिए कभी-कभी ऐतिहासिक स्थानों और चरित्रों का भी समावेश किया जाता है। इन आख्यानों का उद्देश्य कोई शिक्षा देना रहता है। इनके अंतर्गत प्रेम, नीति, भक्ति आदि का प्रतिपादन रहता है और इन्हीं के आधार पर आख्यान के प्रमुख भेद, प्रेमाख्यान, नीत्याख्यान, साहसिक आख्यान आदि रहते हैं। हिंदी में लिखे गए इस कोटि में पद्मावत, मृगावती, मधुमालती, इंद्रावती, नलोपाख्यान, ढोला मारू– रा-दूहा, छिताईवार्ता ग्रंथ आते हैं।

चरित काव्य– चरित काव्य भी वर्णनात्मक प्रबंध काव्य है, जिसके अंतर्गत किसी महापुरुष या वीर व्यक्ति की वीरता और साहस से युक्त घटनाओं का वर्णन करते हुए चरित लिखा जाता है और चरित काव्य इतिहास-सम्मत और तथ्यात्मक होता है। हिंदी के चरित काव्य इस दृष्टि से संस्कृत से भिन्न हैं– इनमें कुछ चरित आत्मकथात्मक होते हैं, कुछ में कवित्वपूर्ण रोचक वर्णन होते हैं और कुछ में इतिवृत्तात्मक वर्णन। प्रबंध की इस कोटि में हिंदी के कई काव्य आते हैं, जैसे–

(अ) वीरसिंहदेव चरित, जहांगीर जसचंद्रिका, रतनबावनी, सुजान चरित, छत्र प्रकाश, हमीर रासो आदि।

(आ) संतो की परिचयियां, और

(इ) बनारसीदास जैन कृत अर्थकथानक आदि।

इनमें प्रथम कोटि के वर्णन प्रधान चरित काव्य हैं, जो राजाओं और वीरों का जीवन प्रस्तुत करते हैं। तृतीय कोटि में आत्मचरित हैं। चरित काव्य के ये रूप हिंदी के पूर्ववर्ती साहित्य में ही मिलते हैं। आधुनिक साहित्य में इनका गद्यात्मक रूप ही रह गया है, काव्यात्मक रूप नहीं।

निबद्ध काव्य– निबद्ध काव्य वे कृतियां हैं, जिनमें कथा की सूत्रता न होकर किसी भाव या विचार की सूत्रता रहती है। एक प्रकार से ये पद्यात्मक निबंध है। इन निबंध काव्यों में किसी एक भाव या विचार का सशक्त शैली में प्रतिपादन किया जाता है। इनमें वैयक्तिक अनुभव, विचार और भाव की विशेष रूप से अभिव्यक्ति की जाती है। इसके उदाहरण में प्रतापनारायण मिश्र का 'बुढ़ापा', श्रीधर पाठक की 'काश्मीर सुषमा', प्रसाद की 'प्रलय की छाया', 'आंसू', निराला के 'छत्रपति शिवाजी का पत्र' और 'कुकुरमुत्ता', पंत का 'परिवर्तन' आदि हैं। हिंदी साहित्य में निबद्ध काव्य द्विवेदी और छायावाद युग में विशेष रूप से लिखा गया। इसी के आधार पर देश प्रेम, राष्ट्रीयता,

समाज सुधार तथा वैयक्तिक प्रेम और समाज की कुरीतियों संबंधी व्यंग्य लिखे गए। पद्य काव्य की यह विधा भी हिंदी की विशेष देन कही जा सकती है, क्योंकि संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में इसका इस रूप में विकास नहीं हुआ।

(2) **खंड काव्य**– प्रबंध काव्य के दो भेदों में से दूसरा खंड काव्य है। प्रबंध काव्य होने के कारण इसमें कथा चलती है। एक छंद का दूसरे छंद के साथ पूर्वापर संबंध होता है। इसमें भी कथा का सर्गों में विभाजन रहता है। इसके भी प्रायः वे ही प्रमुख तत्व होते हैं जो महाकाव्य के होते हैं। परंतु महाकाव्य से खंड काव्य अनेक मायनों में भिन्न होता है। साहित्य दर्पणकार ने उसका लक्षण बताते हुए कहा है कि काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खंड काव्य होता है। इसका तात्पर्य यह है कि खंड काव्य में किसी एक प्रधान घटना का वर्णन होता है। उसमें जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर कथा चलती है। विद्वानों ने खंड काव्य के स्वरूप पर साहित्य दर्पणकार के संकेत से आगे बढ़कर विचार किया है। उनकी दृष्टि में खंड काव्य का स्वरूप एक लघु कथा के रूप में होता है और वह लघु कथा जीवन के विभिन्न पक्षों को न छूती हुई कथा नायक के चरित्र को विकसित करती है। संक्षेप में खंड काव्य में चार बातें मुख्य रूप से होनी चाहिए–

1. खंड काव्य एक लघु कथा काव्य होता है।
2. उसमें जीवन की विविधता नहीं रहती।
3. उसमें घटनाओं की बहुलता नहीं होती।
4. खंड काव्य चरित्र-प्रधान न होकर घटना-प्रधान काव्य होता है।

इस तरह महाकाव्य में जीवन के अनेक अंशों का समूचा चित्र होता है पर खंड काव्य में जीवन के एक ही अंश का चित्रण होता है। महाकाव्य में प्रधान पात्र या घटनाओं का विशिष्ट महत्व होता है परंतु गौण पात्र और सहायक घटनाएं भी अपना मूल्य रखती हैं। खंड काव्य में प्रधान पात्र या घटना का ही महत्व होता है। जैसे तुलसी के 'रामचरितमानस' में राम के जीवन की समग्रता है परंतु मैथिलीशरण गुप्त के 'पंचवटी' काव्य में शूर्पनखा के नाक काटने की एक घटना है। 'रामचरितमानस' महाकाव्य है और 'पंचवटी' खंड काव्य है। हिंदी में बहुत से खंड काव्य लिखे गए हैं। कुछ लोग तुलसीदास के 'जानकी मंगल', 'पार्वती मंगल' काव्यों को और नंददास के 'भंवरगीत' को भी खंड काव्य मानते हैं। वस्तुतः नरोत्तम दास का 'सुदामा चरित', मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथवध', 'नहुष' और रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक', 'मिलन' तथा 'स्वप्न' हिंदी के अच्छे खंड काव्य हैं।

खंड प्रबंध– खंड प्रबंध में कथा का सूत्र रहता है, परंतु महाप्रबंध जैसा विस्तार और वैविध्य उसमें अपेक्षित नहीं है। खंड प्रबंध के लक्षणों और भेद प्रभेदों पर अधिक विचार प्राप्त नहीं होता, परंतु खंड प्रबंध के कुछ भेदों की

कल्पना हिंदी काव्यरचनाओं के आधार पर की जा सकती है। खंड प्रबंध का मुख्य भेद खंडकाव्य है। जिस प्रकार महाप्रबंध के अंतर्गत कई भेदों का विवेचन हुआ है और उनमें से कवित्व और शिल्प की दृष्टि से महाकाव्य सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होता है, उसी प्रकार खंड प्रबंधों में खंड काव्य कलात्मक दृष्टि से सुव्यवस्थित और सर्वोत्कृष्ट रचना सिद्ध होती है।

खंड काव्य की विशेषताओं का निरूपण हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. खंड काव्य की कथा समग्र जीवन से संबंधित और विस्तृत नहीं होती, वरन् उसका एक खंड मात्र ही होती है।
2. वह कथानक किसी विशिष्ट घटना या प्रसंग के चित्रण से संबंध रखता है और वह प्रसंग ऐसा होना चाहिए कि जो किसी भी रूप में पूर्ण ज्ञात हो।
3. उसमें प्रायः एक छंद का प्रयोग होना चाहिए। यदि सर्ग एक से अधिक हैं, तो अनेक छंदों का प्रयोग हो सकता है। इसके बीच में या पूरे प्रबंध में गीत भी रखे जाते हैं।
4. इसमें वर्णन रोचक काव्यपूर्ण और मर्मस्पर्शी होने चाहिए।
5. यथावश्यक अलंकृति और चमत्कृति भी इस काव्य में आवश्यक है। कथावस्तु के आग्रह स्वरूप संवाद भी उसमें रखे जा सकते हैं।
6. इसके अंतर्गत वर्णन की विशिष्टता, चरित्र मिश्रण की मार्मिकता और किन्हीं एक दो रसों का वर्णन हो सकता है।
7. इसकी भाषा शैली प्रसंग के अनुकूल कवित्व पूर्ण होनी चाहिए।

इन खंड काव्यों में अनेक कथाएं नहीं रहतीं। इसलिए कथानक के आधार पर इनके भेद-प्रभेद नहीं किए जा सकते, परंतु सर्गों की संख्या, उद्देश्य और गेयत्व के आधार पर हम इनके भेद-प्रभेदों पर विचार कर सकते हैं। जिस प्रबंध काव्य में एक छंद, एक भाव और उद्देश्य को लेकर रचना की जाए, उसे संघात या एकार्थ खंड काव्य कह सकते हैं। परंतु जिसमें अनेक छंदों में अनेक सर्गों को लेकर एकाधिक भावों और अर्थों का निरूपण हो उसको अनेकार्थ खंड काव्य कहना उपयुक्त होगा। हिंदी साहित्य में पंचवटी, रंग में भंग, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल आदि कृतियां प्रथम कोटि में आती हैं। दूसरे प्रकार की कृतियों में जयद्रथवध, गंगावतरण, कुणाल, उद्धवशतक आदि हैं।

गेयत्व के आधार पर हम दो प्रकार के खंड-काव्य देख सकते हैं, एक वे जो गेय नहीं केवल छंदोबद्ध हैं और द्वितीय जो कि गेय भी हैं और जिन्हें हम गीति काव्य के रूप में देखते हैं। इस दूसरी कोटि में मेघदूत को लिया जा सकता है। हिंदी काव्य के अंतर्गत, जयद्रथवध, नहुष, पथिक, तुलसीदास की रचनाएं आदि दूसरी कोटि में रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार कल्पित और ऐतिहासिक कथातत्व के आधार पर भी खंड काव्यों के भेद किए जा सकते हैं।

(आ) **मुक्तक काव्य**

मुक्तक काव्य ऐसे पद्यों का समूह होता है जो पूर्वापर संबंध से मुक्त होते है। उसके छंद तक एक दूसरे से निरपेक्ष होते हैं। आचार्यों ने मुक्तक का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि छंद में लिखे गए काव्य को पद्य कहते हैं। यदि वह मुक्त यानी दूसरे पद्य से निरपेक्ष हो तो उसे मुक्तक कहते हैं। इसी को दूसरे शब्दों में यों भी कहा गया है कि जो अन्य पद्यों के संबंध से मुक्त हो वह मुक्त कहलाता है-अन्यै: मुक्तम् इति मुक्तकम्। मुक्तक काव्यों के कुछ संग्रह ऐसे भी होते हैं जिनमें हल्का सा कथा सूत्र भी रहता है। सूरदास का 'सूरसागर' और तुलसीदास की 'गीतावली' ऐसी ही रचनाएं हैं, फिर भी उनमें छंद अपने आप में स्वत: पूर्ण और मुक्त हैं। एक छंद दूसरे छंद की अपेक्षा नहीं रखता।

यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि पूर्वापर संबंध से निरपेक्ष रहते हुए भी विभिन्न छंदों का कोई संग्रह मुक्तक काव्य नहीं कहला सकता। उसमें काव्य का सार भूत तत्व यानी रस रहना चाहिए। इसलिए आचार्य अभिनव गुप्त ने कहा है कि पूर्वापर निरपेक्ष होते हुए भी जिसके द्वारा रस की अनुभूति कराई जाती हो वही मुक्तक कहलाएगा। पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्तक काव्य को 'स्वानुभूति निरूपक' कहा है। इसमें कवि की सुख, दुख, हर्ष, विषाद आदि की अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। इसमें कवि दूसरों के जीवन और जगत की बात न कहकर अपने मन की बात कहता है। इसे ही 'विषयीप्रधान' भी कहते हैं इसमें अपने विषय यानी कवि के भावों को प्रधानता दी जाती है। संस्कृत में मुक्तक काव्यों की बड़ी समर्थ रचनाएं देखने में आती हैं। 'अमरूकशतक' मुक्तक काव्य की उच्च कोटि की रचना है।

मुक्तक काव्य परंपरा

मुक्तक काव्य की परंपरा हमें प्राचीन काल से प्राप्त होती है और संस्कृत में अनेक प्रकार का चमत्कार पाया जाता है। व्यापक रूप से मुक्तक अनिबद्ध काव्य है। इसमें किसी कथा या विचारसूत्र के स्थान पर उस छंद या पद्य को समझने की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि वह अपने में ही परिपूर्ण होता है। संस्कृत साहित्य के आधार पर मुक्तक अनिबद्ध काव्य का एक भेद है। अग्निपुराण में मुक्तक की परिभाषा इस प्रकार दी गई है। 'मुक्त श्लोक के एवैकश्चमत्कारक्षम: सताम्' अर्थात एक छंद में पूर्ण अर्थ एवं चमत्कार को प्रकट करने वाला अनिबद्ध काव्य मुक्तक कहलाता है। अनिबद्ध काव्य के भी संस्कृत में कुछ भेद मिलते हैं। उनके उल्लेख और नामावली हमें काव्यशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों एवं उनकी टीकाओं के आधार पर प्राप्त होते हैं। इनके नामों में परस्पर भिन्नता भी है। दंडीकृत काव्यादर्श की तर्कवागीश कृत टीका के अनुसार तीन छंदों वाले अनिबद्ध काव्य को गुणवती, चार वाले को प्रभद्रक, पांच के समूह को बाणावली और छ: छंदों वाले काव्य को करहाटक कहा गया है।

इससे कुछ भिन्न नाम आचार्य हेमचंद के काव्यानुशासन में मिलते हैं। आठवें परिच्छेद में उन्होंने 'अनिबद्ध मुक्तकम्' सूत्र का स्पष्टीकरण करते हुए यह लिखा है कि एक छंद वाला मुक्तक, दो छंदों वाला सदानितक, तीन छंदों वाला विशेषक, चार छंदों वाला कलापक कहलाता है, परंतु आचार्य विश्वनाथ का मत इससे थोड़ा भिन्न पड़ता है। उनके अनुसार दो छंदों वाला कुलक होता है। इसका उल्लेख उन्होंने अपने ग्रंथ साहित्य दर्पण में किया है। इस प्रकार एक से लेकर छः छंदों वाले अनिबद्ध काव्य के जिन नामों का उल्लेख संस्कृत साहित्य में मिलता है वे हैं मुक्तक, युग्मक, संदानितक या गुणवती, कलापक या प्रभद्रक, कुलक या बाणावली और करहाटक।

हिंदी काव्य के अंतर्गत मुक्तक के अतिरिक्त अन्य नाम प्रचलित नहीं हुए। मुक्तक कविताओं के ही छोटे-बड़े अनेक प्रकार के संग्रह हिंदी में देखने को मिलते हैं। इन संग्रहों को छंद संख्या के आधार पर पंचक, सप्तक, अष्टक, दशक, बीसी, पचीसी, बत्तीसी, चालीसा, पचासा, बावनी, शतक, सतसई और हजारा नाम दिए गए और हिंदी साहित्य में इनका काफी प्रचलन हुआ। मुक्तक की धारणा हिंदी काव्य के अंतर्गत एक छंद या एक गीत के रूप में ही रही, जिसमें कि कोई चमत्कार या अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति निहित हो। इस प्रकार की मुक्तक रचना कभी-कभी प्रबंध काव्य के बीच भी आ जाती है। इसका व्यवहार हिंदी में ही नहीं हुआ, वरन संस्कृत में भी यह परंपरा मिलती है। इसका संकेत करते हुए अभिनव गुप्त पादाचार्य ने लिखा है, **'मुक्तमन्येनानालिंगितम् तस्य संज्ञापनम्। तेन स्वतंत्रतया परिसमाप्तनिराकांक्षार्थमपि, प्रबंध मध्यवर्ती मुक्तकमित्युच्यते।... पूर्वा परनिरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदैव मुक्तकम्।'** इससे स्पष्ट है कि जो स्वतंत्र रूप से आशय को प्रकट करने में सक्षम हो और पूर्ववर्ती या परवर्ती छंद या प्रसंग के बिना जिसमें रसास्वादन कराने की क्षमता हो, वह मुक्तक होता है। यह प्रबंध के मध्य में भी आ सकता है।

मुक्तक काव्य के अनेक भेद हो सकते हैं, जैसे–प्रथम प्रकार का भेद तो पाठ्य और गेय मुक्तकों में और द्वितीय प्रकार का भेद आत्मपरक और वस्तुपरक मुक्तकों के रूप में किया जा सकता है। आत्मपरक गेय मुक्तक ही प्रगीत अथवा गेय या गीतिकाव्य के रूप में हिंदी में प्रचलित है। पाठ्य मुक्तक भी अनेक प्रकार के संग्रहों में मिलते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। हिंदी साहित्य के पूर्ववर्ती युगों में मुक्तक रचनाओं के लिए विशेषरूप से प्रयुक्त छंद दोहा, सोरठा, सवैया, छप्पय, कुंडलियां और घनाक्षरी रहे हैं, परंतु आधुनिक युग में अन्य मात्रिक और वार्णिक छंदों का प्रयोग हुआ है। आजकल कुछ मुक्तक उर्दू छंद शैली में भी लिखा जाता है। इन पाठ्य मुक्तकों में भी कुछ वस्तुपरक होते हैं, कुछ भावपरक, जिनके अनेक उदाहरण हमें हिंदी साहित्य में मिलते हैं।

मुक्तक काव्यों के दो प्रमुख प्रकार देखने में आते हैं पाठ्य मुक्तक और गेय अथवा प्रगीति।

पाठ्य मुक्तक– मुक्तक काव्यों में से कुछ ऐसे होते हैं जिनमें कवि अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर नीति और उपदेशपरक उक्तियां कहता है। शृंगार विषयक, वीरता संबंधी और तरह-तरह की सूक्तियों के छंद भी इसी प्रकार होते हैं। मुख्य बात यह है कि एक ही छंद में चमत्कृत कर देने वाली या रोचक बात होती है। आचार्यों ने माना है कि कुछ कवि ऐसे हुए हैं जिनके द्वारा रचे गए मुक्तकों में प्रबंध काव्य के समान ही रस की अभिव्यक्ति की गई है। इस तरह के मुक्तक काव्यों में भर्तृहरि के तीनों शतक– 'शृंगार शतक', 'नीति शतक', 'वैराग्य शतक' और अमरूक का 'अमरूकशतक' आता है। हिंदी में कबीर के दोहे, रहीम के दोहे, वृंद के दोहे, गिरिधर की कुंडलियां ऐसे ही मुक्तक हैं। इन्हें पाठ्य मुक्तक कहा जाता है। वैसे पाठ्य मुक्तक और गेय मुक्तक की कोई बहुत मजबूत विभाजक रेखा नहीं है। बहुत से पाठ्य मुक्तक भी गेय हो सकते हैं। मुख्य बात यह है कि पाठ्य में विषय प्रधानता अधिक रहती है यानी पाठ्य में कवि अपने मन की बात न कहकर विभिन्न विषयों पर चमत्कारपूर्ण विचित्र बात कहता है। गेय में विषयी– प्रधानता है यानी विषयी (कवि) अपनी अनुभूति की बात कहता है, निजी अनुभूति की बात कहता है।

गेय मुक्तक– गेय या गीति मुक्तक ऐसे मुक्तक होते हैं जिनमें गीति तत्व प्रमुख होता है। कवि की निजी अनुभूति की अभिव्यक्तियां होती हैं। सुख-दुख के आवेश के अंदर से स्वयं फूटते हुए उद्‌गार होते हैं। ये अभिव्यक्तियां मर्म को छूने वाली होती हैं ओर इनमें संगीतात्मकता की प्रधानता रहती है। चित्त को पिघला देने वाले भाव करुण और शृंगार के अधिक माने गए हैं, वात्सल्य के भाव भी ऐसे ही हैं। इन सब भावों से संबंधित उद्‌गार अच्छे गीति मुक्तक बन जाते हैं। संक्षिप्तता, भावात्मकता, संगीतात्मकता अनुभूति की तीव्रता, कोमलकांत पदावली – ये गीति मुक्तक की सामान्य विशषताएं हैं। संस्कृत में जयदेव का गीतिगोविंद, गीतिमुक्तक का अच्छा उदाहरण है। विद्यापति की पदावली, कबीर, सूर, मीरा के पद, महादेवी वर्मा के गीत इसी तरह के गेय मुक्तक हैं।

गेय मुक्तक के भेद– गेय मुक्तकों में भी अनेक भेद-प्रभेद हिंदी साहित्य के अंतर्गत विकसित हुए हैं। आम तौर पर हम गेय मुक्तक काव्य को दो भेदों में देख सकते हैं–(1) साहित्यिक या कलागीत और (2) लोकगीत।

1. **कलागीत–** ये गीत साहित्यिक अलंकृत शैली में लिखे गए हैं, जिनमें भावों और विचारों को परिमार्जित, शिष्ट, नागरिक भाषा में प्रस्तुत किया जाता है। ये भी वस्तुपरक और भावपरक दो प्रकार के हो सकते हैं।
2. **लोकगीत–** ये सहज और स्वाभाविक उद्‌गार के रूप में प्रकट होते हैं। ये हमारे लोक-जीवन में विविध संस्कारों, क्रियाकलापों, उत्सवों, त्यौहारों,

ऋतुओं में गाए जाते हैं। प्राय: लोकगीत वे कहे जाते हैं, जिनका लेखक अज्ञात होता है और अनेक जिह्वाओं पर गाते गाते जो सहज परिष्कार पा चुके होते हैं, परंतु आजकल कुछ प्रसिद्ध कवियों के द्वारा लोकगीत शैली में लिखे गए गीत भी मिलने लगे हैं, जो इस बात के द्योतक हैं कि लोकगीत में कवित्व का नैसर्गिक आकर्षण होता है, इसके अंतर्गत जीवन सहज आशाओं, आकांक्षाओं, हर्ष-विषाद, खीझ, उल्लास आदि के रूप में बहता रहता है। लोकगीत भी दो भेदों में हमें मिलते हैं, जैसे–एक तो भाव–प्रधान, दूसरे वस्तु या वर्णन-प्रधान। भाव-प्रधान या लोकगीतियों के अनेक रूप हमारे ग्रामीण समाज के बीच प्रचलित हैं, जिनके प्रमुख भेद निम्नलिखित हैं, जैसे–(1) संस्कार गीत, (2)उत्सव त्योहार गीत, (3) ऋतु गीत, (4) धार्मिक गीत, (5) दिनचर्या गीत, (6) विविध। ये लोक गीत न केवल हिंदी काव्य की अमूल्य संपत्ति हैं, वरन् इनका प्रभाव हिंदी के गेय काव्य पर बहुत अधिक पड़ता है।

गीति काव्य या प्रगीत

प्राय: भाव प्रधान गीतों को गीतिकाव्य या प्रगीत की संज्ञा दी जाती है। इस गीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. गीतिकाव्य गाने योग्य होना चाहिए।
2. इसके अंतर्गत स्वानुभूति का प्रकाशन होना चाहिए।
3. इसमें सुकुमार भावों की घनीभूत एवं तीव्र अभिव्यक्ति होनी चाहिए।
4. एक गीत में एक ही भाव का प्रकाशन होना चाहिए। हिंदी में गीतिकाव्य भी अनेक भेदों-प्रभेदों में मिलता है, जैसे–प्रणय गीत, वीर गीत, देश गीत, शोक गीत आदि।

गीति काव्य अनुभूति प्रधान काव्य है। इसमें किसी वस्तु या भाव को कवि अपनी अनुभूति में उतार कर प्रकट करता है। गीतियों में कवि की आत्मा, चेतना और संवेदना झांकती है। अनुभूति की तीव्रता में गीत कवि का सहज उद्‌गार है। अतएव स्वानुभूति इस काव्य का प्रमुख तत्व है। जर्मनी के प्रसिद्ध विचारक हीगेल के मतानुसार काव्य का शुद्ध और प्रकृत रूप गीतिकाव्य ही है। कविता का यह सहज नैसर्गिक और मनोरम रूप है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि गीति भावना कविता की सार वस्तु है।

हिंदी काव्य में प्रगीत और उसके विविध रूप

प्रगीतात्मकता की मनोदशा में कवि अपने व्यक्तित्व के सबसे समीप होता है। इसके अंतर्गत मनोभावना के साथ-साथ ही शैली अर्थात कथन का ढंग भी विशेष महत्वपूर्ण होता है। इस प्रवृत्ति के अंतर्गत कवि संगीतमयी, मधुर रचना के सहारे अपनी निजी अनुभूतियों का प्रकाशन करता है। वह अपने ही व्यक्तित्व का विश्लेषण करता तथा अपने स्मरणीय पक्षों का सजीव चित्रण करता है। उसकी कल्पना या तो अपने ही अभ्यंतर में डूबकर विश्व के सामने, अपनी भावनाओं और अनुभूतियों का भंडार खोलती है अथवा वह आकाश में उड़ कर प्रकृति के बीच विचरण कर, प्रकृति के पदार्थों में आत्मीयता का अनुभव करती है और उन्हीं में छिपी

भावनाओं को प्रकट करती है। कवि के सचेतन व्यक्तित्व का अपनी कल्पना पर पूरा और सुदृढ़ अधिकार रहता है और वह प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना को अपनी व्यक्तिगत भावना के रंग से रंगी हुई देखता है। जो कुछ भी वह देखता है, गाता है, वह उसकी हृदय से निकलती हुई, स्वानुभूति से स्पंदित स्वर लहरी होती है। इस प्रवृत्ति में कवि भावों में तन्मय होकर लिखता है, इसी कारण से प्रगीतात्मक काव्य सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। कवि अपने दुख-सुख के अनुभवों को सीधे ढंग से अपना कहकर व्यक्त करता है, किंतु वे उसके होते हुए भी सारी मानवता के होते हैं, क्योंकि तीव्र सात्विक अनुभूति की अवस्था में एक सहृदय मानव दूसरे से अधिक भिन्न नहीं होता।

प्रगीतात्मक काव्य में भावानुभूति बहुत प्रबल होती है। इसके अतिरिक्त कवि अपने भाव बहुधा प्रथम पुरुष में अपने ही मुख से सीधे ढंग से व्यक्त करता है, वहां प्रगीतात्मक काव्य में 'प्रखर चेतना' काम करती है। प्रगीत काव्य में हम कवि के साथ सहानुभूति रखते हैं, उसके लिए रोते हैं, उसके प्रति दया करते हैं, परिस्थितियों या भाग्य को कोसते हैं, उससे प्यार करते हैं या उससे घृणा करते हैं। प्रबंध काव्य में कवि, समाज और पात्रों से ऊंचा उठ जाता है, वह उसका विधायक है, निर्माता है, पर प्रगीत काव्य में पाठक और श्रोता कवि से ऊंचे होते हैं।

हिंदी कविता के प्रगीतों के प्रमुख स्वरूपों का हम निम्नलिखित भेदों में अध्ययन कर सकते हैं–विनयगीत, प्रेम गीत और ग्राम गीत।

विनय प्रगीत

इन प्रगीतों के अंतर्गत, आत्म समर्पण, प्रार्थना, याचना, आत्मदीनता आदि की भावना प्रधान रहती है और व्यक्ति स्वयं अपनी बात परमात्मा से निवेदन करता है। परमात्मा की प्रशंसा इन भावनाओं के साथ रहती है और उसमें दयालुता, न्यायप्रियता, उदारता आदि गुणों का विशेष रूप से आरोप किया जाता है। विनय प्रगीतों में कवि सांसारिक संबंधियों को असमर्थ समझ कर परमात्मा से प्रार्थना किया करता है, अतिशय दुख के कारण और कभी-कभी सफलता द्वारा उत्पन्न हर्ष के आवेश में वह इस भावना से ओत-प्रोत होता है। अतः विनय प्रगीत का मूल कारण मनुष्य की अभावानुभूति है। एक पूर्ण समर्थ शक्ति में कवि का यह विश्वास होता है कि विनय द्वारा वही शक्ति प्रसन्न होकर उसका कल्याण करेगी। इनमें हम प्रायः दो भावनाएं प्रधान देखते हैं–प्रथम आत्म निवेदन की है। इसके अंतर्गत अपने दोषों और पापों का वर्णन करते हुए, आत्मोत्सर्ग का भाव विशेष रूप से रहता है। दूसरी भावना परमात्मा में उनके कृत्य और दया आदि में विश्वास की है।

तुलसी की विनय पत्रिका तो विनयगीतों का भंडार ही है। यही भावनाएं वहां देखने को मिलती हैं–

तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंज हारी।।
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसों।
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसों।।

प्रेम प्रगीत-आध्यात्मिक

प्रगीतों का दूसरा भेद प्रेम प्रगीतों का है। इनके अंतर्गत आध्यात्मिक प्रेम और भौतिक प्रेम के प्रगीत हैं। आध्यात्मिक प्रेम प्रगीत, विनय गीतों से इस कारण से भिन्न है कि आध्यात्मिक

प्रेम प्रगीतों में प्रधान भावना प्रेम की है, जबकि विनय प्रगीतों में प्रधान भावना श्रद्धा, विश्वास और दीनता की है। इनमें परमात्मा के प्रति तीव्र और गहरी उमगती प्रेम भावना भरी रहती है।

परमात्मा के साथ जाने का आनंद कबीर नीचे के पद में वर्णित करते हैं–

मैं अपने साहब संग चली।
हाथ में नारियल मुख में बीड़ा, मोतियन मांग भरी।
लिल्ली घोड़ी जरद बछेड़ी, तापै चढ़ि के चली।।
नदी किनारे सतगुर भेटे, तुरत जनम सुधरी।
कहै कबीर सुनो भई साधो, दोउ कुल तारि चली।

प्रेम प्रगीत-2 लौकिक (भौतिक)

प्रेम प्रगीतों में प्रेम की तीखी और व्यापक हिलोर भरी रहती है। इनमें प्राय: कला की उत्कृष्ट कोटि देखने में आती है, क्योंकि प्रेम सबसे प्रबल भाव है और विश्व की उत्कृष्ट कविता का स्रोत है। प्रेमानुभूति और कल्पना कविता की दो शक्तियां हैं।

प्रेम का परिचय नीचे के छंद में देखिए–

अति खीन मृणाल के तारहु ते, देहि ऊपर पाव दे आवनौ है।
सुई बेह के द्वार सकै न जहां, परतीति को टांड़ो लदावनो है।।
कवि बोधा अनी घनी नेजहु, चढ़ि तापै न चित्त डिगावनो है।
यह प्रेम को पंथ करार है री, तरवारि की धार पै धावनो है।

लोकगीत

प्रगीतों का अति स्वाभाविक रूप लोकगीतों में देखने को मिलता है। ये लोकगीत ग्राम्य मनुष्यों और विशेषकर महिलाओं के द्वारा किसी त्योहार, उत्सव, संस्कार के अवसर पर या नित्यप्रति काम करते समय गाए जाते हैं। इनके भीतर उस अवसर के अनुकूल व्यक्ति की बड़ी तीव्र भावना अंतर्निहित रहती है और स्वानुभूति का स्वर हृदय पर स्थायी चोट करने वाला होता है। इनकी विशेषता अवसर विशेष की व्यापक अनुभूति को वैयक्तिक तीव्रता के साथ वर्णन करने में है। अवध के पास ऋतु, त्योहार, उत्सव, संस्कार आदि के अवसर पर गाए जाने वाले ग्रामीणों का विस्तृत भंडार है, जिसकी विभिन्नता भी कम आकर्षक नहीं।

ग्राम्य-जनों का दैनिक जीवन गीतों से भरा हुआ है। प्रभात के समय जब स्त्रियां चक्की पीसती हैं, उस समय उषाकाल की शांत, शीतल और सुरभित वायु को मधुर स्वर लहरी से भर देती हैं, जो एकरस चलने वाली चक्की की घर्र-घर्र के साथ विषमता ही नहीं पैदा करती अपितु उसे भी माधुर्य और सरसता देती है, वैसे ही जैसे उजाड़ में उगे हुए कुछ हरे-भरे पौधे। सबसे सुंदर समय में गाए जाने और स्त्रियों के कोकिल कंठों की मधुराई से युक्त होने के साथ-साथ ही गीत स्वत: सुंदर कल्पना और गहरे भावों से भरे-पूरे होते हैं। प्रभात के बाद दिन के समय जब गांव के लोग वर्षा के दिनों खेतों में निराई करते हैं अथवा किसी पेड़ की डाल पर बैठे गायों को चराते हैं और कोई हल्का काम करते हैं, तब एकाध गीत की लड़ी पास के बगीचों में प्रतिध्वनि करती हुई सुनाई पड़ती है। वर्षा की

भिन्न भिन्न ऋतुओं के लिए अवसर के अनुकूल गीत होते हैं, जैसे हिंडोला, चौमासा, बारहमासा, दीवाली, होली, फाग, मलार और इसी प्रकार से पूजा, बटगमनी, लोरी आदि के गीत हैं। पावस हमारे लिए ग्रीष्म के बाद आनंदमय परिवर्तन उपस्थित करता है। इसीलिए भारतवर्ष में इस समय अचानक गीतों का भी प्रस्फुटन होता है। यह आनंद पशु पक्षी, कीट-पतंगों तक में देखा जाता है। चारों ओर चहक मचती है, तब मनुष्य का आनंद विभोर होकर गाना तो और भी स्वाभाविक है। इस समय के गीतों में बड़ा आनंद भरा रहता है। हृदय के उच्छ्वास के समान ही सहज निकले हुए ये गीत होते हैं, इनमें जीवन का उल्लास अथवा निराशा भरी रहती है, अत: इसका बड़ा प्रभाव है। विशेष अवसरों पर गाए जाने वाले ग्रामगीतों में सोहिल (सोहर), जनेऊ, बधाई, विवाह आदि के गीत विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें से किसी में उल्लास की भावना है और किसी में विषाद की अनुभूति। इन ग्रामगीतों में नीचे लिखी विशेषताएं मिलती हैं–

1. पहली यह कि पूरे गीत में एक ही भाव रहता है।
2. दूसरे, ये व्यक्तिगत अनुभूति के सीधे और सहज प्रकाशन है।
3. इनमें अनुभूति पर प्रभाव डालने वाले, अवसर विशेष के अनुकूल स्वाभाविक और सहज प्रकाशन अपनाया गया है।
4. इनमें केवल वर्णन नहीं, वरन् भावानुभूति की ही प्रधानता रहती है।
5. ये अकेले अथवा समूह के द्वारा, ढोलक, मंजीरा या और बाजों के साथ गाने के लिए रचे गए हैं।
6. अधिकांश शब्दों और पदों की पुनरावृत्ति उन्हें सहज स्मरणीय बनाती है।
7. अपनी विशेष संस्कृति की झलक दिखाते हुए इनमें विश्वव्यापी भावों का चित्रण है।

इन विशेषताओं के साथ ग्रामगीतों के अंतर्गत साहित्य की प्रमुख विशेषताओं, भाव और भाषा, दोनों का सौंदर्य है और इनकी विशेषताएं इन्हें प्रगीत का सौंदर्य प्रदान करती है।

1.7 रस सिद्धांत

रस सिद्धांत काव्यशास्त्र का मूल एवं महत्वपूर्ण सिद्धांत है। काव्यशास्त्रीय अध्ययन की परंपरा का आरंभ इसी सिद्धांत से किया जाता है। यह काव्य की आत्मा है। 'रसो वै स:' रस ही वह है। वह अर्थात् आत्मा, परमात्मा और अलौकिक शक्ति। आत्मा के अस्तित्व पर ही देह का अस्तित्व संभव है। भिन्न रूपों में उपस्थित परमात्मा की तरह यह भी भिन्न-भिन्न काव्यीय रूपों में आस्वादन का अनुभव कराता है।

1.7.1 रस की अवधारणा

प्राचीन काल से 'रस' शब्द का प्रयोग जल, सार, द्रव, स्वाद, धातु, वीर्य, षड्रस, औषधि, पारद, सुरा, शोणित एवं परमात्मा आदि अर्थों में किया जाता रहा है। यहां परमात्मा के अतिरिक्त उपरोक्त सभी प्रयुक्त अर्थों में रस का लौकिक स्वरूप है। परमात्मा अलौकिक है,

अनुभवगम्य है अतः रस का यहां प्रयुक्त अर्थ अलौकिक हुआ। इस तरह रस के दो रूप प्राप्त हुए–लौकिक एवं अलौकिक। संस्कृत साहित्य में प्राचीन काल से ही 'रस' के लौकिक एवं अलौलिक रूपों की चर्चा होती रही है। काव्य में प्रयुक्त रस अलौकिक एवं अनुभवगम्य होता है। इसलिए इसकी तुलना परमात्मा से की गई है। रस पर आधारित काव्यशास्त्रीय चिंतन एक तरह से ब्रह्म से एकात्म होने का प्रयास है इसलिए तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है–**'रसो वै सः'** यानी रस ही वह ब्रह्म है। इसीलिए वह ब्रह्मानंद सहोदर है।

काव्य में प्रयुक्त रसों के प्रतिपादन की परंपरा पर दृष्टि डालें तो ऋग्वेद में इसके बीजों की उपस्थिति का भान होता है। कुछ आचार्य रस परंपरा का आरंभ अथर्ववेद के अभिचार मंत्रों से मानते हैं तो कुछ रामायण, महाभारत से। किंतु ऋग्वेद कहता है–

'यौ वः शिवतमो रसः' यहां जल रूपी रस को शिवतम या आनंदमय बतलाया गया है। वह काव्य रस की आनंदमयता का बीज है। इस तरह रस परंपरा का आरंभ ऋग्वेद से ही माना जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण में भी छंद रस या काव्यरस की उपस्थिति के प्रमाण मिलते हैं। इसमें छंद रस को सभी रसों में सर्वश्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट मानते हुए कहा गया है कि छंदों के सरस होने पर ही इष्टसिद्धि होती है और यज्ञ का विस्तार होता है। काव्य और नाटक के सरस होने का आधार भी सरस छंद ही है। इसमें काव्य रस का स्पष्ट संकेत है–**'छंदसां रसो लोकानप्येष्यतीति तं परस्ताच्छन्दोभिः पर्यगृह्णात् ... पुनः छंदः सु रसाद धात्। सरसैर्हास्य छंदोभिरिष्टिं भवति सरसैश्छंदोभिर्यज्ञं तनुते।'** इसी 'शतपथ ब्राह्मण' में ही–**'यावानु वै रसस्तावानात्मा'** कहकर जितने रस उतनी आत्माओं का उल्लेख करके रस और आत्मा का संबंध बताया गया है। बाद में इसी आधार पर काव्य-रस को आत्मा कहा गया। रस को अपरिमित मानते हुए **'रसो वै सः'** जैसा संकेत प्राप्त हुआ। तैत्तिरीय उपनिषद में स्पष्ट है–'रसो वै सः'। रसं हयेवायं लब्ध्वानन्दी भवित।' परमात्मा रसरूप है एवं आनंद का मूल कारण है। यह रस परंपरा निरंतर अधिकाधिक विस्तार पाती गई। रामायण और महाभारत में अनेक रसों का विधान हुआ।

1.7.2 रस का स्वरूप

रस एक अलौकिक स्थिति है, आत्मानुभूति है, ब्रह्मानंद सहोदर है। काव्य के सृजन, पठन, श्रवण और देखने से सर्जक, दर्शक, पाठक और श्रोता उस भाव-भूमि पर पहुंच जाता है, जहां पर केवल निर्विकल्प, निर्लेप शुद्ध आनंदमयी चेतना का ही साम्राज्य होता है। उस भावभूमि को प्राप्त कर लेने की स्थिति का नाम ही रस है। काव्य सहृदय सामाजिक को या सर्जक को उस भावभूमि पर पहुंचाकर ही सार्थक होता है। यदि वह ऐसा करने में, इस भावदशा तक पहुंचाने में असमर्थ है तो वह काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं। उस शुद्ध, आनंदमयी स्थिति तक पहुंचने के लिए सर्जक एवं सहृदय को भी निर्मल हृदय का अधिकारी होना चाहिए। वह दुर्बल सांसारिक बंधनों की उपेक्षा कर काव्य के पठन, सृजन, श्रवण में डूब जाए तभी उस भाव भूमि तक पहुंच सकता है। अन्यथा मोह-माया के, छल-कपट के व्यापार में रमा हृदय उसे उस आनंदानुभूति से विरक्त या दूर ही रखेगा। प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने इसलिए बार-बार काव्य के साथ 'सहृदय' शब्द का प्रयोग किया है। कुछ आचार्यों जैसे अभिनव गुप्त, मम्मट आदि ने 'स्व' के परित्याग की ओर ध्यान आकर्षित कराया है। यह और बात है कि रस की व्याख्या करते हुए वे इसका निर्वाह नहीं कर पाए। काव्य में निहित भाव एवं कवि अपने

विचारों का जिस हृदयग्राही रीति से मर्मस्पर्शी निरूपण करता है वही सहृदय सामाजिक को उस भाव दशा तक ले जाता है। कुछ काव्य की अपनी शक्ति और कुछ सहृदयता पाठक के हृदय की, भावों की स्थिति एवं प्रवृत्ति ही सहृदय को उस आनंद सरोवर तक ले जाती है। जब सहृदय सामाजिक आनंदानुभूति की उस चरम स्थिति में पहुंच जाता है तो उसे उस निर्विकल्प अवस्था में यह ज्ञान ही नहीं रहता कि वह किस रस का अनुभव कर रहा है। शृंगार, करुण या वात्सल्य रस का...। उसकी अवस्था ध्यानस्थ योगी जैसी होती है जो आत्म-प्रकाश में प्रकाशमान हो, जिसमें केवल आत्म-स्वरूप सत्ता ही शेष हो। वह केवल हृदय ही हृदय, आत्म ही आत्म होता है शेष बाह्यावरण लुप्त हो जाते हैं। रसमग्न, ध्यानस्थ, आनंदमग्न उस योगी के 'सत् और चित्' स्वरूप भी इस आनंद की छाया में लुप्त हो जाते हैं। धरती, आकाश, जड़-चेतन आदि प्रकृति की सभी चेष्टाएं तिरोहित हो जाती हैं। इसलिए आचार्य विश्वनाथ इस स्थिति के लिए 'सत्वोद्रेक' की बात कहते हैं। इस अवस्था को ही 'रस' का नाम दिया गया है। विभिन्न आचार्यों ने अपनी रुचि, प्रतिभा एवं दृष्टिकोण के आधार पर रस के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। अभिनव गुप्त इसे आनंदमयी चेतना कहते हैं तथा स्थायी भाव से विलक्षण स्वरूप वाला मानते हैं।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रस परंपरा का प्रामाणिक ग्रंथ नाट्यशास्त्र को माना जाता है जिसे पांचवां वेद भी स्वीकार किया गया है। इसके प्रणेता आचार्य भरतमुनि रस की महत्ता को प्रतिपादित करने वाले प्रथम आचार्य माने गए हैं यद्यपि इनसे पूर्व रस की चर्चा करने के संबंध में आचार्य नंदिकेश्वर एवं उनके ग्रंथ अभिनवदर्पण का उल्लेख किया जाता है किंतु इसके अप्रामाणिक एवं अप्राप्य होने के कारण भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही रस संबंधी प्रथम ग्रंथ ठहरता है। रस के महत्व को रेखांकित करते हुए छठे अध्याय में रस और सातवें अध्याय में विभाव, अनुभाव आदि का विवेचन करते हुए भरतमुनि ने कहा है–

+ नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।
+ विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।
+ एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्।
+ एवमेतेह्यऽलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः। प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम्।

यहां रस को संगीत, अभिनय एवं पाठ्य या वस्तु तत्व, इन तीनों अंगों का नियंता स्वीकार किया गया है। काव्य के सभी तत्व रसों पर आश्रित होते हैं। रस के बिना किसी की किसी में प्रवृत्ति नहीं होती। भरतमुनि कहते हैं कि आस्वादमय होने के कारण ही उसे रस की संज्ञा प्राप्त है, **'आस्वादनात्मानुभवः रसः काव्यार्थ इष्यते।'** रस आस्वादन स्वरूप अनुभव है और वही काव्यार्थ है। जिस प्रकार नाना व्यंजनों एवं औषधि आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है उसी तरह नाना भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है– **"यथा नाना व्यञ्जनौषधि द्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निवर्तन्ते तथा नानाभावोपगता अपि।"** भरतमुनि ने चार प्रधान रस ही स्वीकार किए हैं–शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स रस। पुनःशृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत एवं वीभत्स से भयानक, इस तरह उन्होंने कुल आठ रस स्वीकार किए हैं। नौवां शांत रस बाद में स्वीकृत हुआ किंतु इसमें अभिनय करना संभव नहीं है। **'शममपि केचित् प्राहुः**

पुष्टिर्नाद्येषु नैतस्य।' कहकर दशरूपककार ने भी इसे काव्य के लिए अस्वीकृत किया। रुद्रट ने काव्यालंकार में 'प्रेयस्' नामक दसवें रस की चर्चा की गई है तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वात्सल्य रस को मान्यता प्रदान की है।

रौद्रः शान्तः प्रेयानीतिमतस्याः रसाः सर्वे।

स्फुटं चमत्कारित्वा वत्सलं च रसं विदुः॥

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** कहकर रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। रुद्रट रस को काव्यात्मा मानते हैं तथा राजशेखर ने भी रस को काव्यात्मा मानते हुए काव्यमीमांसा में लिखा है "रस आत्मा रोमाणि छन्दांसि।" अग्निपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख है–**'वाग्वैदग्ध्य रस एवात्र जीवितम्।'** काव्य में रस का महत्व और काव्यात्मा के रूप में रस का स्थान दृढ़ से सुदृढ़ होता गया।

आचार्य भरतमुनि के रस सूत्र–'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की चार टीकाकारों ने अपने-अपने तरीके से व्याख्या की। भट्ट लोल्लट ने 'निष्पत्ति' शब्द को 'उत्पत्ति' के अर्थ में लेते हुए 'उत्पत्तिवाद' की प्रतिष्ठा की वहीं शंकुक ने रस को अनुमान का विषय बताते हुए 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति के रूप में लिया और 'अनुमितिवाद' की स्थापना की। भट्टनायक ने निष्पत्ति शब्द को भुक्ति के अर्थ में तथा संयोग शब्द को भोज्य-भोजक संबंध के रूप में मानते हुए भुक्तिवाद की स्थापना की। ये तीनों वाद स्वीकार्य नहीं हुए। अभिनवगुप्त ने अभिव्यंजना की चर्चा की जो सर्वमान्य हुई। उन्होंने संयोग शब्द को व्यंग्यव्यंजक भाव तथा निष्पत्ति को अभिव्यक्ति या व्यंजना के अर्थ में लिया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक के हृदय में प्रेम, शोक, भय, घृणा आदि वासनाएं स्थायी भाव के रूप में रहती हैं। सभी सहृदयों के हृदय में स्थित सुप्त स्थायी भाव विभावादिकों को ग्रहण करके रसानुभूति से सिक्त हो जाते हैं और आनंद का अनुभव करते हैं। अभिनव गुप्त ने कहा–**"नाट्य-रसाःस्मृताः। सर्वानुग्राहकं हि, शास्त्रमितिन्यायात्तेन नाट्य एव रसा न लोके इत्यर्थः। काव्यं च नाट्यमेवा।"**

रसानुभूति की आवश्यक शर्त है सहृदय होना। जो सहृदय है वह अपनी संवेदनाओं से प्रकृति के जड़-चेतन सभी के सुख-दुख को अनुभव कर सकता है। सरस प्रकृति के भीतर परमात्मा की उपस्थिति को अनुभव कर सकता है, वह रसानुभूति में डूबकर ब्रह्मानंद को प्राप्त कर सकता है। रसानुभूति से पाया हुआ ब्रह्मानंद हृदय को शांति और मुख पर कांति बिखेर देता है। वामन कहते हैं–**दीप्तरसत्वं कांतिः।** मम्मट भी रस के महत्व को स्वीकार करते हैं।

भोज ने शृंगारप्रकाश में केवल एक रस शृंगार को ही मान्यता दी है। वे कहते हैं शृंगार का रूप अभिमान और अहंकार जैसा ही है। **रसोभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते।** भानुदत्त मिश्र ने रसतरंगिणी और रसमंजरी में रसों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। माणिक्य चंद्र कहते हैं–**'काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्।'** अर्थात एक विशेष प्रकार का सुख पैदा करने वाला रस आदि से भरा वाक्य काव्य कहा जाता है। रस काव्य की आत्मा है यह निर्विवाद होता चला गया। काव्य में औचित्य से रसानुभूति होती है जिससे चमत्कार उत्पन्न होता है। अनौचित्य से रसभंग होता है। सिद्धांत चाहे कोई भी हो–औचित्य, चमत्कार, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति सभी के मूल में महत्व रस का ही है। बलदेव उपाध्याय ने नारायण पंडित के

विचारों को उद्धृत किया है **"रसो साराश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते"** अर्थात रस चित्त विस्तार या आनंद का जनक होता है अतः रसानुभूति चमत्कार रूपिणी होती है। अभिनवगुप्त ध्वन्यालोक लोचन में रस को चमत्कार की आत्मा कहते हैं। लोचनकार सत्य कहते हैं, रस के बिना चमत्कार संभव नहीं है। विश्वेश्वर पांडेय ने रसगंगाधर में रसों पर विस्तृत चर्चा की है। रुद्रभट्ट ध्वनिपूर्व रसवादी भाषा के अंतिम आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने शृंगार रस को रेखांकित करते हुए लिखा है "स्वामिनी सेन्दुना युक्ता नारीव रमणं विना। लक्ष्मीरिव कृते त्यागान्नो वाणी भाति नीरसा:।" अभिनगुप्त के गुरु भट्टतौत भी रसवादी धारा के संवर्धन में सहयोगी बने। आचार्य भरतमुनि से पंडितराज जगन्नाथ तक रसवादी आचार्यों की सुदीर्घ परंपरा दृष्टिगोचर होती है। पंडितराज जगन्नाथ लिखते हैं 'एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परम रमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते।' इस रस का एक रूप भक्ति रस के रूप में हमें रूपगोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि में मिलता है। इसमें भक्ति के पांच प्रकार–शांत, हास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य माने गए हैं। ये सभी भाव कृष्ण को समर्पित हैं। माधुर्य भाव को भक्ति रसराट् कहते हैं। रसवादी आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के साथ रसवाद पुष्ट और विकसित होता गया।

आचार्य विश्वनाथ के विवेचन में रस का संपूर्ण स्वरूप समाहित हो गया है। आचार्य विश्वनाथ का कथन इस प्रकार है–

सत्वोद्रेक अखण्ड–स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

उपर्युक्त श्लोकों से रस के स्वरूप निर्धारण में निम्न बिंदु स्पष्ट होते हैं–

1. सहृदय के हृदय में सत्व गुण के उद्रेक के पश्चात रस का स्वरूप स्पष्ट होता है।
2. रस अखंड होता है।
3. रस स्वप्रकाशानंद है।
4. रस चिन्मय होता है।
5. रस वेद्यांतर स्पर्श शून्य है।
6. रस ब्रह्मानंद के समान है।
7. रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है।
8. रस सामाजिक से अभिन्न रूप होता है।

समस्त बिंदुओं को इस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है–

(1) **सत्वोद्रेक**–सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मक होती है। ये तीन गुण हैं– (1) सत्व गुण, (2) रजोगुण और (3) तमोगुण। सत्व गुण अधिकतर रजोगुण और तमोगुण से आच्छादित रहता है। सत्व गुण ही व्यक्ति को शुद्ध-बुद्ध आत्मा (पुरुष) को पहचानने की क्षमता प्रदान करता है। आत्मा का निर्मल स्वरूप भी सत्व गुण के

प्राधान्य में अभिव्यक्त होता है। फलतः आचार्य ने सर्वप्रथम रस के स्वरूप के लिए सामाजिक में सत्वगुण के आविर्भाव को प्रमुखता प्रदान की है। सत्व गुण के उदित होने पर व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त होने लगता है और रसास्वाद के लिए राग-द्वेष से मुक्ति प्राप्त करना पहली अनिवार्य शर्त है।

(2) **रस अखंड है**—विश्वनाथ रस की कोटियां या उसके उच्च, मध्यम या निम्न जैसे स्तर स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार रस आनंदमयी चेतना है। फलतः उसके खंड नहीं किए जा सकते। डॉ. नगेंद्र के अनुसार इसकी व्याख्याएं भी की जा सकती है कि रस स्थिति में विभावादि की पृथक-पृथक अनुभूति नहीं होती, बल्कि उनकी समंजित अनुभूति होती है। वस्तुतः विभावादि तो रस स्थिति उत्पन्न करने के सहायक उपकरण मात्र हैं। अतः रस स्थिति में इनके अनुभव का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः स्पष्ट है कि अखंड से तात्पर्य आत्मानुभूति की पूर्णता से है।

(3) **रस स्वप्रकाशानंद है**—विश्वनाथ का स्वप्रकाशानंद से तात्पर्य है—आत्मा का प्राकृतिक मलों से विनिर्मुक्त होना, क्योंकि आत्मा प्रकाशमयी चेतन सत्ता है, किंतु जिस प्रकार मेघाच्छादित सूर्य की आभा मलिन प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा के प्रकाश का भी मलाच्छादित होने के कारण सामाजिक अवलोकन या अनुभव नहीं कर पाता। रस-दशा में वे मल तिरोहित हो जाते हैं और उस समय केवल आत्मा अपने मूल रूप में प्रकाशित होने लगती है। आत्मा के प्रकाशमान स्वरूप का ही नाम आनंद है।

(4) **रस चिन्मय होता है**—विश्वनाथ का चिन्मय से तात्पर्य आत्म-स्वरूप से है। रस स्थिति आत्म-स्वरूप स्थिति है। जहां केवल शुद्ध-बुद्ध आत्मा ही व्यक्त रहती है। शेष सभी मलों का तिरोभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में रस और आत्मा में कोई अंतर नहीं रह जाता। इसीलिए उपनिषत्कारों ने 'रसौ वै सः' कह कर रस की चिन्मयता की घोषणा बहुत पहले ही कर दी है। उस समय जब रस चिन्मय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, तब लौकिक ऐंद्रिय मूल या अनुभूतियों के लिए अवकाश नहीं रह जाता।

(5) **वेद्यांतर स्पर्शशून्य**—अन्य सभी प्रकार के ज्ञान का अभाव ही रस स्थिति का भाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि रस की स्थिति में प्रमाता में स्व, पर, तटस्थ आदि की अनुभूति का तिरोभाव हो जाता है। अर्थात उस दशा में प्रमाता देशकाल की परिधि को लांघ जाता है और आत्मलीन हो जाता है। उस स्थिति में तन्मयता के अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञान कुछ समय के लिए समाप्त हो जाते हैं। समस्त जड़ चेतन समुदाय ब्रह्ममय दृष्टिगत होने लगता है।

(6) **ब्रह्मानंद सहोदर**—विश्वनाथ ने काव्यानंद या काव्य रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि काव्यास्वाद और ब्रह्मानंद में कोई तात्विक अंतर नहीं है। अंतर केवल अवधि का है। ब्रह्मानंद स्थायी होता है जिसका एक बार आस्वादन कर लिए जाने के पश्चात् वह आस्वाद कभी समाप्त नहीं होता, जबकि काव्यास्वाद अस्थायी होता है क्योंकि काव्यादि की सहायता से मलों का तिरोभाव ही होता है उनका समूल नाश नहीं होता। फलतः काव्योपकरणों के अभाव में मलों का पुनः आविर्भाव हो जाता

है और सहृदय पुनः इस लौकिक जगत में प्रवेश कर जाता है। काव्यास्वाद सरल एवं शीघ्राधिगम्य तो होता है, किंतु स्थायी नहीं हो पाता। इसलिए विश्वनाथ ने रस को 'ब्रह्मास्वाद' न कह कर 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा है।

(7) **लोकोत्तर चमत्कार प्राण**–रस में पाया जाने वाला चमत्कार लौकिक न होकर अलौकिक होता है। इसलिए रस को पूर्णतया परिभाषित नहीं किया जा सकता और ब्रह्मानंद सहोदर होने के कारण अनेक आचार्य इसे अनिर्वचनीय भी कह देते हैं। वस्तुतः यहां पर इसीलिए विश्वनाथ ने 'अलौकिक' शब्द का प्रयोग न कर 'लोकोत्तर' शब्द का प्रयोग किया है और संभवतः यहां 'लोक' शब्द से आचार्य का मन्तव्य 'इंद्रिय' से रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रसोद्गत चमत्कार इंद्रिय अनुभव से परे की वस्तु है, क्योंकि लौकिक चमत्कार का अनुभव इंद्रियों द्वारा किया जाता है, किंतु रस चमत्कार के लिए इंद्रियों के प्रवेश का अवसर नहीं रहता। अतः यह एक ऐसा चमत्कार है जो इंद्रियानुभूत नहीं होता। फलतः यह चमत्कार लोकोत्तर है और यही लोकोत्तर चमत्कार रस का प्राणभूत तत्व है।

(8) **स्वाकारवदभिन्नत्व**–रस की स्थिति अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में होती है। इसका तात्पर्य यह है कि आस्वाद और रस कोई दो भिन्न-भिन्न तत्व नहीं है, जिस प्रकार आत्मा या परमात्मा के 'सत्, चित् और आनंद' कोई भिन्न तत्व नहीं है। ब्रह्म सच्चिदानंद है और सच्चिदानंद का नाम ही ब्रह्म है। इसी प्रकार रस का नाम ही आस्वाद और आस्वाद ही रस है। अर्थात रस अनुभूति का विषय नहीं है बल्कि अनुभूति ही स्वयं रस है। इस प्रसंग में अनुभूति भी अनुभव करने की कोई वृति नहीं है अपितु अनुभूति ही आत्मा है। अनुभूति का स्वयं प्रकाशमान स्वरूप ही आनंद का पर्याय है। 'आनंद' कोई अनुभव करने का विषय नहीं है, बल्कि आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'हृदय की मुक्तावस्था ही आनंद है और यही रस है।'

परवर्ती आचार्यों में पंडितराज जगन्नाथ ने आनंद की तीन कोटियां मानी हैं–(1) विषयानंद (लौकिक सुख), (2) ब्रह्मानंद और (3) काव्यानंद।

पंडितराज के अनुसार–

(1) विषयानंद चेतना से आभासित अंतःकरण की वृत्तियों के विषय के साथ सामंजस्य से व्युत्पन्न होता है तथा ऐंद्रिक होता है।

(2) ब्रह्मानंद में समस्त सांसारिक उपाधियों का नाश होकर केवल चैतन्य-स्वरूप का भाव ही आनंद स्वरूप होता है।

(3) काव्यानंद रति आदि भावों की उपाधि बने रहने पर भी चैतन्य स्वरूप का आभास है।

'आनंद' आत्मा का स्वरूप एवं एक मुक्त प्राकृतिक, नैसर्गिक स्थिति है। काव्यानंद एवं ब्रह्मानंद में अंतर है। काव्यानंद में चित्त के विकार छिप जाते हैं। लुप्त होते हैं लेकिन बाद में उनके प्रत्यक्ष होने की संभावना शेष रहती है जबकि ब्रह्मानंद में विकारों का नाश हो जाता है और उनके प्रत्यक्षीकरण की कोई संभावना शेष नहीं रहती। ब्रह्मानंद को इसलिए चरम स्थिति माना गया है। काव्य में सांसारिक दुख भी सुख बनकर उपस्थित होता है इसलिए करुण रस

के काव्य के दुखद वर्णनों को भी हम बार बार पढ़ते हैं। पढ़ते हैं, रोते हैं और फिर पढ़ते हुए सुख का ही अनुभव करते हैं। इसलिए रस दशा 'आनंद' की ही द्योतक मानी गई है। 'रस' का स्वरूप 'ब्रह्म' के पर्याय के रूप में लिया गया है। 'रसो वै सः' रस ही वह ब्रह्म है।

रस एवं उनके स्थाई भाव

शृंगार रस –	रति/प्रेम	भयानक रस –	भय
हास्य रस –	हास	वीभत्स रस –	जुगुप्सा/घृणा
करुण रस –	शोक	अद्भुत रस –	विस्मय/आश्चर्य
वीर रस –	उत्साह	शांत रस –	शम/निर्वेद (वैराग्य/वीतराग)
रौद्र रस –	क्रोध	वात्सल्य रस –	वात्सल्य
भक्ति रस –	भगवद् विषयक रति/अनुराग		

1.8 रस के अंग

भरतमुनि के अनुसार जब स्थायी भाव का विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के साथ संयोग होता है तब रस निष्पत्ति होती है। 'विभानुभाव व्यभिचारी संयोगात् रस निष्पत्तिः।' इस सूत्र के आधार पर रस के चार अवयव निश्चित हुए–स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव। स्थायी भाव की सर्वस्वीकृत परिभाषा यह है कि–"स्थायी भाव सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना रूप में (जन्मजात) स्थित वे अनुभूतियां हैं जो स्थायी रूप से विद्यमान रहती हैं। ये सभी के हृदय में पाई जाती हैं। स्थायी भाव का आधार 'अहंकार' है। इसकी दो मुख्य वृत्तियां–राग एवं द्वेष हैं जो क्रमशः सुखात्मक एवं दुखात्मक हैं। स्थायी भाव मनोविकारों एवं भौतिक या शारीरिक प्रतिक्रियाओं के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इनकी संख्या दस हैं–(1) शोक, (2) हास, (3) रति, (4) निर्वेद, (5) उत्साह, (6) विस्मय, (7) भय, (8) जुगुप्सा, (9) क्रोध, और (10) वात्सल्य।

- **विभाव**–इसके अंतर्गत समस्त सृष्टि या ब्रह्मांड आ जाता है। ये स्थायी भावों को जागृत करने का कार्य करते हैं। ये आलंबन एवं उद्दीपन दो भागों में बांटे जाते हैं।

  1. **आलंबन**- भावों का उद्गम जिस मुख्य भाव या वस्तु के कारण हो उसे काव्य का आलंबन कहते हैं। 'विषय' और 'आश्रय' आलंबन के अंतर्गत आते हैं। जिस पात्र के प्रति किसी पात्र के भाव जागृत होते हैं वह विषय है। जिस पात्र में भाव जागृत होते हैं, वह आश्रय कहलाता है। उदाहरणस्वरूप वीर रस के स्थाई भाव उत्साह के लिए सामने खड़ा हुआ शत्रु आलंबन विभाव है।

  2. **उद्दीपन**- स्थाई भाव को जागृत रखने में सहायक कारण उद्दीपन कहलाता है। इसके दो रूप होते हैं विषयगत और बहिर्गत। विषयगत के अंतर्गत आलंबन की उक्तियां और चेष्टाएं आती हैं और बहिर्गत के अंतर्गत वातावरण से संबंधित वस्तुएं एवं दृश्य। शत्रु के साथ सेना, युद्ध के बाजे, शत्रु की दर्पोक्तियां, शस्त्र-संचालन आदि उद्दीपन विभाव के उदाहरण हैं।

- **अनुभाव**–'अनु' यानी पीछे चलने वाले। ये स्थायी भाव के बाद प्रकट होने वाले मनोविकार और आश्रय की चेष्टाएं हैं। अतः ये स्थायी भाव और विभाव के आश्रयगत होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं–सात्विक या अयत्नज और कायिक या यत्नज।

  स्थाई भाव के जागृत होने पर सहज रूप से प्रत्यक्ष होने वाले अंगविकार सात्विक अनुभाव के उदाहरण हैं। जैसे-रोमांच, मुश्कान, अश्रु, कम्प आदि। इनके लिए आश्रय को कोई बाह्य चेष्टा नहीं करनी पड़ती, इसीलिए इन्हें अयत्नज भी कहा जाता है। आश्रय की शरीर संबंधी चेष्टाएं कायिक अनुभाव की उदाहरण हैं। ये चेष्टाएं शरीर के अंगों द्वारा प्रयत्नपूर्वक की जाती हैं, इसलिए इन्हें यत्नज भी कहा जाता है। जैसे आरोपित या कृत्रिम वेष रचना, रतिभाव के जागृत होने पर भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष आदि यत्नपूर्वक किए गए व्यापार। अनुभाव भावों के विगलन की प्रक्रिया की सूचना देते हैं।

- **संचारी भाव**–भरतमुनि इन्हें व्याभिचारी भाव कहते हैं। ये ऐसे मनोवेग या शारीरिक प्रतिक्रियाएं हैं जो स्थायी भावों की पुष्टि के लिए संचरणशील होते हैं। एक ही संचारी भाव अनेक रसों की पुष्टि के लिए प्रकट हो जाता है इसलिए संचरणशील होने के कारण संचारी और एक ही भाव से इनका निश्चित संबंध न होने के कारण इन्हें व्यभिचारी नाम दिया गया। (1) ये स्थायी भाव के उपकारक धर्म हैं। जो स्थायी भावों को दीप्त कर उन्हें रसदशा तक पहुंचाने में सहायक होते हैं। (2) क्षणिकता इनका लक्षण है। अतः इन्हें मन की अस्थिर वृत्तियां कहा गया है। (3) स्थायी भावों के साथ इनका संबंध सागर एवं तरंगों के समान होता है जो सागर में उठती गिरती हैं। संचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी गई है–

  (1) निर्वेद, (2) ग्लानि, (3) शंका, (4) असूया, (5) श्रम, (6) मद, (7) धृति, (8) आलस्य, (9) विषाद, (10) मति, (11) चिंता, (12) मोह, (13) स्वप्न, (14) विबोध, (15) स्मृति, (16) अमर्ष, (17) गर्व, (18) औत्सुक्य, (19) अवहित्थ, (20) दैन्य, (21) हर्ष, (22) क्रीड़ा, (23) उग्रता, (24) निद्रा, (25) व्याधि, (26) मरण, (27) अपस्मार, (28) आवेग, (29) त्रास, (30) उन्माद, (31) जड़ता, (32) चलता और (33) वितर्क।

रसों की संख्या दस हैं–शृंगार, वीर, हास्य, रौद्र, भयानक, वीभत्स, करुण, अद्भुत, शांत और वात्सल्य। 'भक्ति रस' को ग्यारहवें रस के रूप में देखा जाता है। रस ही काव्य की आत्मा है, ऐसा मानने वाले आचार्य गण मानते हैं कि कई बार उक्ति अनौचित्य या काव्य में रस का पूर्ण परिपाक न होने के कारण उक्ति में रसत्व तो विद्यमान रहता है किंतु उसमें तीव्र या दीप्त रसत्व का अभाव होता है। इसी कारण इसे 'रस' के समान नहीं माना जाता। इस प्रकार की उक्तियों को सात प्रकारों में बांट सकते हैं–(1) भाव, (2) रसाभास, (3) भावाभास, (4) भावोदय, (5) भावशांति, (6) भाव संधि, (7) भाव सबलता।

1.9 रस निष्पत्ति

रस निष्पत्ति के प्रश्न को हल करने के लिए भरत के रस सूत्र की टीकाकारों ने अपनी-अपनी तरह से व्याख्या की है। 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों का क्या तात्पर्य है? रस की निष्पत्ति किस प्रकार की और किसमें होती है? सामाजिक को, कवि को, विभाव को या अनुभाव को? चार प्रमुख टीकाकार हुए हैं–भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त।

भरत के रससूत्र में आए 'निष्पत्ति' शब्द को 'उत्पत्ति' के अर्थ में लेते हुए उत्पत्तिवादी भट्टलोल्लट ने उत्पत्तिवाद की प्रतिष्ठा की। आचार्य लोल्लट नायक में रस (सौन्दर्य) की स्थिति मानते हुए दर्शक में उसकी उत्पत्ति मानते हैं। लोल्लट के मतानुसार 'संयोगात्' का अर्थ 'संबंध' से है और 'निष्पत्ति' का तात्पर्य है 'उत्पत्ति'। उनका मत 'उत्पत्तिवाद' कहलाता है। भट्टलोल्लट के मतानुसार विभावादि और रस में कारण-कार्य का संबंध है। आचार्य भरत मुनि के सूत्र की व्याख्या यदि हम लोल्लट के दृष्टिकोण से करना चाहें तो इस प्रकार कह सकते हैं "विभावानुभावव्यभिचारिसम्बन्धात् रस-उत्पत्तिः।" इनका मानना है कि नाटक में रस मुख्यतः नायक-नायिका में ही उत्पन्न होता है परंतु उनका अभिनय द्वारा अनुकरण करने वाले नटों में उस रस की प्रतीति होती है। इस रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तीनों के संयोग से होती है। विभाव के द्वारा रस उत्पन्न होता है। अनुभाव के द्वारा रस की प्रतीति होती है और संचारी भाव द्वारा रस की पुष्टि होती है। इस मत से यह पता नहीं चलता कि सामाजिक प्राणी जो दर्शक है, श्रोता है, उसे रस की अनुभूति क्यों होती है?

भरत के सूत्र के दूसरे व्याख्याकार आचार्य शंकुक भी नायक में रस की स्थिति मानकर फिर दर्शक में रस की अनुमिति मानते हैं। शंकुक के मतानुसार 'संयोगात्' का अर्थ 'अनुमान से' है और निष्पत्ति का तात्पर्य है 'अनुमिति'। उनका मत 'अनुमितिवाद' कहलाता है। शंकुक के मतानुसार विभावादि और रस में अनुमापक-अनुमाप्य का संबंध है। भरत मुनि के सूत्र की व्याख्या शंकुक के दृष्टिकोण से यह हो सकती है–"विभावानुभावव्यभिचारि अनुमात् रस-अनुमितिः।" शंकुक ने अनुमितिवाद के द्वारा रस को अनुमान का विषय बताया है। सूत्र के 'संयोगात' शब्द का अर्थ 'अनुमानात्' और 'निष्पत्ति' का अर्थ वे 'अनुमिति' के रूप में लेते हैं।

शंकुक के मतानुसार अभिनेताओं का अभिनय इतना स्वाभाविक और प्रभावी होता है कि वे जिन पात्रों का अभिनय कर रहे होते हैं, दर्शक उन पात्रों में उत्पन्न रस का आरोप अनुमान के आधार पर ही अभिनेताओं पर कर लेते हैं और स्वयं भी अनुमान के आधार पर उस रस को ग्रहण कर आनंदित और अभिभूत हो जाते हैं। किंतु चूंकि अनुमान के द्वारा वह आनंद, वह रसानुभूति कभी प्राप्त नहीं हो सकती है जो अपेक्षित है अतः इस मत को भी आधार प्राप्त नहीं हो सका।

उक्त दोनों व्याख्याकार आचार्यों के मतों को देखकर स्पष्ट होता है कि दोनों ही सौन्दर्य अर्थात रस को अस्तित्वगत विषय मानते हैं। उनके मत से सौन्दर्य वस्तुगत माना गया है।

भट्टनायक ने भुक्तिवाद की बात की। उन्होंने काव्य में व्यापार को मुख्य मानते हुए उसके तीन रूपों–अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व की चर्चा की। वे भरत सूत्र में आए 'संयोग' शब्द को 'भोज्य-भोजक संबंध' और 'निष्पत्ति' शब्द को 'भुक्ति' के अर्थ में स्वीकार करते हैं। अभिधा के द्वारा शब्द के अर्थ की प्रतीति होने पर सामाजिक के भीतर सात्विक भाव का उदय होता है। भावकत्व के द्वारा साधारणीकरण होने से सामाजिक का सात्विक हृदय उस (ऐतिहासिक या धार्मिक) पात्र को जिसका अभिनय अभिनेता करता है, साधारण मनुष्य के

रूप में लेते हैं और भोजकत्व व्यापार द्वारा उन्हें उस अभिनय को देखते हुए रस की अनुभूति होती है। भट्टनायक का मत 'मुक्तिवाद' कहलाता है। आचार्य भट्टनायक के मतानुसार विभावादि और रस में भोजक-भोज्य का संबंध है। भरत मुनि के सूत्र की व्याख्या भट्टनायक के दृष्टिकोण से इस प्रकार की जा सकती है- "विभावानुभावव्यभिचारिभोगात् रस-भुक्ति।" इसमें भट्टनायक ने सामाजिक को स्थान दिया है किंतु त्रिविध व्यापार की असंगत कल्पना के कारण इस मत को भी मान्यता नहीं मिली।

आचार्य अभिनवगुप्त भी रस का अस्तित्व विषयी में ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'संयोगात्' का अर्थ है 'ध्वनन् से' और 'निष्पत्ति' का तात्पर्य है 'अभिव्यक्ति' अर्थात 'आनन्दरूप अभिव्यक्ति'। उनका मत 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है। आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार दर्शक के हृदय का सुप्त स्थायी भाव जागरित होकर रस रूप में अभिव्यक्त होता है। अभिनवगुप्त के दृष्टिकोण से भरत के सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है- "विभावानुभावव्यभिचारि ध्वननात् रसाभिव्यक्ति।" अभिनवगुप्त व्यंजनावादी हैं। उन्होंने भरत के सूत्र के 'संयोग' शब्द को 'व्यंग्यव्यंजक भाव' तथा 'निष्पत्ति' को 'अभिव्यक्ति या व्यंजना' के अर्थ में लिया।

अभिनवगुप्त ने कहा कि प्रत्येक मनुष्य के हृदय में प्रेम, शोक, भय, घृणा आदि वासनाएं स्थायी भाव के रूप में रहती हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा इन स्थायी भावों की अभिव्यंजना होती है। सभी सहृदयों के हृदय में स्थित सुप्त स्थायी भाव विभावादिकों को ग्रहण करके रसानुभूति से सिक्त हो जाते हैं और आनंद का अनुभव करते हैं। यह मत सभी विद्वानों को मान्य है।

भट्टनायक और अभिनवगुप्त में साम्य यह है कि आचार्य भट्टनायक और अभिनवगुप्त रस अर्थात सौन्दर्य की स्थिति विषयी में बताते हैं। भट्टनायक रसानुभूति में साधारणीकरण की अवस्था को मानते हैं। वे अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नाम की शब्द-शक्तियों के स्थान पर अभिषा, भावकत्व और भोजकत्व नाम देते हैं और कहते हैं कि दर्शक अभिधा शक्ति से नायक-नायिका के सम्वादों का अर्थ ग्रहण करता है और फिर भावकत्व शक्ति से उसका भावन (मनन-चिंतन पूर्वक आत्मरमण) होता है- अर्थात जो भाव काव्यगत नायक-नायिका में व्यक्तिगत संबंध के कारण होते हैं, वे काव्यपठन से अथवा नाटक देखने से सहृदय पाठक या दर्शक में साधारणीकृत हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उनमें से ममत्व तथा परत्व की भावना निकल जाती है। वे भाव सभी पाठकों (दर्शकों) के लिए सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। सर्वसाधारण के ग्रहण योग्य भाव तभी बनते हैं, जब उनमें भोजक वृत्ति काम करती है। भावकत्व और भोजकत्व के कारण दर्शक विशेषत्य से रहित होकर साधारणीकृत हो जाता है-अर्थात शकुन्तला नाटक देखने वाले दर्शक का भाव शकुन्तला के प्रति ठीक वैसा ही न होगा, जैसा कि दुष्यंत का शकुन्तला के प्रति था। दुष्यंत का शकुन्तला के प्रति जो रति-भाव है, वह सहृदय दर्शक के लिए शुद्ध सात्विक रति-भाव बन जायेगा जिसमें शकुन्तला केवल स्त्री होगी, पत्नी नहीं।

अभिनवगुप्त ने कहा कि-**'नाट्यरसाः स्मृताः।' सर्वानुग्राहकं हि शास्त्रमितिन्यायातेन नाट्य एव रसा न लोके इत्यर्थः। काव्यं च नाट्यमेव।'** अभिनवगुप्त का रस संसार में एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो गया। आज भी किंचित संशोधनों के साथ अभिनवगुप्त की रस संबंधी मान्यताएं स्वीकृत हैं। अभिनवगुप्त की कुछ मौलिक उद्भावनाएं इस प्रकार हैं-

1. रस निष्पत्ति सहृदय सामाजिक की होती है। (भट्टनायक को स्वीकार कर लिया)
2. रस आनंदमय है (भट्ट नायक कह चुके थे)।
3. रस आस्वाद है (भट्ट नायक रस को भोग्य (आस्वाद्य) मानते हैं)।
4. निष्पत्ति का अर्थ है अभिव्यक्ति।
5. संयोग का अर्थ है–व्यंग्य व्यंजक भाव संबंध।
6. साधारणीकरण व्यष्टि के धरातल पर न होकर समष्टि के धरातल पर होता है।
7. साधारणीकरण भावकत्व व्यापार का परिणाम नहीं अपितु व्यंजना का ध्वनन व्यापार है।

वामन कहते हैं–**'दीप्तरसत्वं कान्तिः।'** भोज ने शृंगारप्रकाश में 'रस एक ही है' सिद्धांत की स्थापना की और इस एक रस को शृंगार कहा जिसका रूप अभिमान और अहंकार जैसा ही है। **'रसोभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते।'** भानुदत्त मिश्र ने 'रसतरंगिणी और रसमंजरी' में रसों की विस्तृत व्यख्या की। श्री विश्वेश्वर पांडेय की 'रसचंद्रिका' में रसों पर चर्चा है। रुद्रभट्ट ध्वनिपूर्ण रसवादी धारा के अंतिम आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने शृंगार रस पर विस्तार से लिखा–

'यामिनी वेन्दुना युक्ता नारीव रमणं विना। लक्ष्मीरिव कृते त्यागान्नो वाणी भति नीरसा।' अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने भी रसवादी धारा के विकास में सहयोग दिया। भरतमुनि से पंडितराज जगन्नाथ तक रसवादी आचार्यों की सुदीर्घ परंपरा के दर्शन होते हैं। पंडितराज जगन्नाथ लिखते हैं–**"एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परम रमणीयता रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते।'** इसके अतिरिक्त आचार्य मम्मट ने भी रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। इस रस सिद्धांत का एक रूप 'भक्ति रस' के रूप में हमें रूपगोस्वामी की 'उज्ज्वल नीलमणि' में मिलता है, जिसमें भक्ति रस के पांच प्रकार–शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य माने गए हैं। ये सभी भाव कृष्ण के प्रति ही होते हैं। इस माधुर्य भाव को 'भक्ति-रसराट्' कहते हैं। इस प्रकार रसवादी आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के साथ 'रसवाद' पुष्ट और विकसित होता गया। इनके साथ परवर्ती आचार्यों के तर्क-वितर्कों तथा अलंकार आदि को काव्यात्मा मानने के तर्क-वितर्कों के बीच रस सिद्धांत ने रस-संप्रदाय का रूप धारण किया। हिंदी काव्यशास्त्रियों ने भी रस के महत्व को स्वीकार किया है।

1.10 साधारणीकरण

इस सिद्धांत की स्थापना भट्टनायक ने की। काव्य में रस को मूल तत्व और आत्मा स्वीकार कर लिए जाने के पश्चात प्रश्न उठा था कि रस निष्पत्ति किसमें होती है? इस प्रश्न को हल करते-करते एक प्रश्न और उठा कि रस निष्पत्ति कैसे होती है? काव्य और सहृदय सामाजिक का परस्पर क्या संबंध है? इस प्रश्न का उत्तर सर्वप्रथम भट्टनायक ने 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया के रूप में दिया तथा अभिनव गुप्त ने इसे दार्शनिक आधार प्रदान कर इस साधारणीकरण की स्थिति को पुष्ट एवं स्थिर बना दिया। इसे 'साधारणीकरण' के सिद्धांत की संज्ञा प्राप्त हुई। 'साधारणीकरण' का अर्थ है असाधारण अर्थात विशेष का साधारण (सामान्य) रूप में परिवर्तित हो जाना।

भट्टनायक के अनुसार काव्य रस का भोग सहृदय सामाजिक करता है। सामाजिकों के हृदयों में स्थायी रूप से स्थित स्थायी भाव काव्य में वर्णित विभावादि के कारण उद्बुद्ध होकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं। इसके लिए भट्ट नायक ने तीन स्थितियों का विवेचन किया (1) अभिधा, (2) भावकत्व और (3) भोजकत्व। काव्य में सदैव साधारण या विशेष का ही प्रतिपादन किया जाता है। काव्य का वह विशेष जब साधारण या सामान्य रूप में प्रतिभासित होने लगता है, तब वह स्थिति साधारणीकरण की स्थिति कहलाती है। जब काव्य में वर्णित 'राम', राम न रह कर एक सामान्य पुरुष और 'सीता', सीता न रहकर एक सामान्य युवती के रूप में भासित होने लगते हैं, तब साधारणीकरण की स्थिति होती है। यही काव्यात्मक साधारणीकरण कहलाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है। इस पर सिद्धांतों में मतभेद है। इस प्रसंग में साधारणीकरण से संबद्ध विचारों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

1. विभावादिकों और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है।
2. विभावादिकों के साथ साथ सहृदय सामाजिक की चित्तवृत्ति का भी साधारणीकरण होता है।
3. केवल विभावादिकों का साधारणीकरण होता है और सहृदय सामाजिक का आश्रय से तादात्म्य हो जाता है।
4. कवि की भावनाओं का साधारणीकरण होता है और सहृदय सामाजिक का कवि के साथ तादात्म्य हो जाता है।
5. साधारणीकरण व्यर्थ एवं अनावश्यक सिद्धांत है।

(1) **विभावादिकों और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है**—इस सिद्धांत के संस्थापक एवं पोषक आचार्य भट्टनायक हैं। उनके अनुसार-

1. विभावादि व्यापार ही साधारणीकरण है।
2. विभावादि अर्थात आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी एवं स्थायी भावों का साधारणीकरण हो जाता है।
3. स्थायी भाव के साधारणीकरण का तात्पर्य है विशिष्ट संबंधों से मुक्ति।
4. भावकत्व से भाव्यमान स्थायी भाव ही रस है। भाव्यमान से तात्पर्य साधारणीकृत रूप से ही है।

जहां तक साधारणीकरण के संदर्भ में भट्टनायक की व्याख्या का प्रश्न है, यह उनकी रस सामग्री की व्याख्या से किंचित पृथक है। उनकी काव्य प्रकाश की टीका में साधारणीकरण को इन शब्दों में समझाया गया है

"भावकत्वं हि साधारणीकरणम्।
तेन हि व्यापारेण विभादयः
स्थायी च साधारणी क्रियते।"

इस तरह स्पष्ट है कि वस्तुतः भट्टनायक के भावकाव्य का अर्थ ही साधारणीकरण है। भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार की दो विशेषताएं प्रस्तुत की हैं

1. निविडनिज मोह संकटतानिवारणकारिणा, और

2. विभावादि साधारणीकरणात्मना।

जब तक प्रमाता अपने आपको काव्य की विषय-सामग्री से पृथक या असंपृक्त रखेगा तब तक वह उस आनंदमयी चेतना का अवलोकन नहीं कर पाएगा जिसे प्रकारांतर में रस कहा जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए संभवत: भट्टनायक ने यह कहा होगा कि भावकत्व व्यापार का पहला कार्य है प्रमाता के निजत्व मोह के संकट का निवारण करना अर्थात उसे अपने-पराए की संज्ञा से मुक्त करना। दूसरे, प्रमाता द्वारा ही विभावादिकों के विशिष्ट संबंधों को मुक्तावस्था में देखना अर्थात उन्हें राम-सीतादि के रूप में न देखकर केवल भाव रूप में ग्रहण करना। जिस प्रकार एक रुग्ण व्यक्ति दवा को केवल रोग-निवारक के रूप में ही ग्रहण करता है, न कि उस औषधि के नाम-रूप में या उसमें मिश्रित विभिन्न रसायनों के रूप में।

(2) विभावादिकों के साथ साथ सहृदय सामाजिक की चित्तवृत्ति का भी साधारणीकरण होता है–भट्टनायक के पश्चात रस सिद्धांत के सर्वाधिक पोषक अभिनवगुप्त थे। इन्होंने भट्टनायक के रस संबंधी विचारों को मूल रूप में तो स्वीकृति दी किंतु उनकी व्याख्या अपने अनुसार की है बल्कि यों कहना चाहिए कि उन्हें दार्शनिकता से आवृत्त कर दिया। दूसरी ओर उनके विचारों में संशोधन भी किया तथा उन्हें तर्कसम्मत स्पष्ट रूप भी प्रदान किया। अभिनवगुप्त के अनुसार–

1. विभावादिकों का ही साधारणीकरण नहीं होता, बल्कि स्थायी भाव का भी साधारणीकरण होता है। विभावादिकों के साधारणीकरण के कारण ही स्थायीभाव का साधारणीकरण होता है।

2. स्थायी भाव के साधारणीकरण से तात्पर्य है देश-काल के बंधनों से मुक्ति। साधारणीकरण की स्थिति में विशेषत्व का अभाव हो जाता है क्योंकि विशेषत्व ही सुख-दुख का कारण होता है। उस (विशेषत्व) के अभाव में ऐंद्रिक सुख-दुख की भावना नष्ट हो जाती है।

3. भाव का साधारणीकरण व्यक्तिनिष्ठ न होकर समष्टिनिष्ठ होता है क्योंकि सभी सामाजिकों में संस्कार-रूप से समान भाव की स्थिति वासना-रूप में विद्यमान रहती है। अत: यह साधारणत्व परिमित नहीं होता।

4. साधारणीकरण का अर्थ है सुख-दुखात्मक अनुभूतियों एवं देशकाल के संबंधों से मुक्ति।

साधारणीकरण का आधार है रस। रसवादी आचार्य भट्टनायक साधारणीकरण में दर्शन का भी सहारा लेते हैं। इसकी अभिपुष्टि उनकी रस संदर्भित अवधारणा से भी होती है। 'भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की पहचान' पुस्तक में प्रो. हरिमोहन कहते हैं, "भट्टनायक के मत का उल्लेख 'अभिनव भारती' में मिलता है। उनके अनुसार रस न प्रतीत होता, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। अत: रस न स्वगत है (क्योंकि करुण रस में सामाजिक को दु:ख का अनुभव न होकर, आनंद का ही अनुभव होता है), न परगत है (क्योंकि परगत मानने पर सामाजिक का उस भाव से संबंध ही क्या रहेगा? वह उदासीन हो

जायेगा), न प्रतीति है और न परोक्ष। यह अनुकृति-अभिव्यक्ति में भी भिन्न मात्र भावक व्यापार है।" यह अवधारणा भट्टनायक की दार्शनिकता की सूचक है।

अभिनवगुप्त की या भट्टनायक की मूल धारणा तो यही है कि 'भाव' पर सुख-दुखात्मकता का जो आवरण चढ़ा हुआ है, वह साधारणीकरण से नष्ट हो जाता है। अभिनव गुप्त और भट्टनायक दोनों ही सुख-दुख को भाव का अंग नहीं मानते, बल्कि देश-काल के विभाग या विशेषत्व को सुख-दुख का कारण मानते हैं। इसीलिए वे इस बात पर बल देते हैं कि साधारणीकरण होने से देश-काल का बंधन निरस्त हो जाता है जो ऐंद्रिक सुख-दुख या विघ्न-बहुलता का कारण है।

(3) केवल विभावादिकों का साधारणीकरण होता है और प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य होता है–इस सिद्धांत के अनुयायी विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ को माना जाता है। आधुनिक हिंदी आलोचकों में आचार्य शुक्ल का नाम आता है। संस्कृत आचार्यों ने (विश्वनाथ एवं जगन्नाथ) तादात्म्य की बात को उतना प्रत्यक्ष नहीं कहा, जितना आचार्य शुक्ल ने कहा है। आचार्य विश्वनाथ यद्यपि अभिनव गुप्त का ही अनुसरण करते हैं किंतु उनके कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे आश्रय का साधारणीकरण नहीं मानते, यथा–**व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः। तत्प्रभावेण यस्यासन्नाथौ विप्लवनादयः॥ प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।** (साहित्य दर्पण 3/9-10)

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति॥ (3.11)

उपर्युक्त पंक्तियों की व्याख्या विश्वनाथ के अनुसार ऐसे होगी कि मंच पर अभिनीत हनुमानजी के समुद्रलंघन दृश्य को देख कर प्रमाता अपने आपको हनुमानजी से अभिन्न मानने लगता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। संभवतः विश्वनाथ तादात्म्य भाव को भी साधारणीकरण का ही परिणाम मानते हैं। इसी कारण मानव भी, जिसके लिए समुद्रादि का संतरण लौकिक परिस्थितियों में संभव नहीं है, समुद्रसंतरण का अनुभव करता है अर्थात वह भी छलांग लगा कर सागर को पार कर सकता है, इस प्रकार के उत्साह का अनुभव करने लगता है। उस स्थिति में वह अपने आपको आश्रय यानी हनुमान मानने लग जाता है। इन्हीं के पश्चात हुए पंडितराज ने भी प्रकारांतर से प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य माना है।

(4) कवि की भावनाओं का साधारणीकरण होता है और सहृदय सामाजिक का कवि के साथ तादात्म्य हो जाता है–इस सिद्धांत के संस्थापक हैं आचार्य डॉ. नगेंद्र। आपके अनुसार कवि-भावना का साधारणीकरण होता है।

(5) साधारणीकरण व्यर्थ एवं अनामंत्रित सिद्धांत है–आधुनिक भारतीय आलोचक मनोविज्ञान का आश्रय लेकर रस-सिद्धांत की व्याख्या करने में लगे हैं। फलतः उन्हें साधारणीकरण जैसा सिद्धांत व्यर्थ प्रतीत होता है।

'साधारणीकरण' का सामान्य या विशेष अर्थ यही होगा कि असाधारण का साधारण होकर मन के अनुकूल हो जाना। कवि अपने कौशल से जो रचना करता है सहृदय की मनःस्थिति कवि की मनःस्थिति के अनुकूल होकर समभाव के स्तर पर पहुंच जाती है और कवि तथा सहृदय के भावों में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। सहृदय उसी शिद्दत से काव्य के

भावों में डूबता-उतराता है जिस भाव सरिता में पैठ तक कवि ने रचना की। यही भाव साम्य 'साधारणीकरण' है।

1.11 सहृदय की अवधारणा

काव्य चिंतन के संदर्भ में 'सर्जक' यानी कवि को तो सहृदय माना ही जाता है किंतु विशेष बल 'ग्राहक' अर्थात 'पाठक' को सहृदय मानने पर है। यहां सहृदय की अवधारणा पाठक के संबंध में ही है। इस 'सहृदय' का प्रथम प्रयोग संभवतः अथर्ववेद में मिलता है। 'अथर्ववेद' में इस शब्द की प्राप्ति महत्वपूर्ण है। भरतमुनि ने 'रस' को 'अथर्ववेद' से ही लिया। आयुर्वेद उसका उपवेद है और उसमें भी अपने तरीके से 'रस' भाव का विवेचन है। भवभूति आयुर्वेद का आधार लेकर ही राम के करुण रस को **'पुटपाकप्रतीकाश'** कहते हैं तथा क्षेमेंद्र रसायनतंत्र को संदर्भित करते हुए **'औचित्य रस-सिद्धस्य'** कहते हैं। इसलिए अथर्ववेद में प्रयुक्त 'सहृदय' को महत्वपूर्ण माना जाता है। उसमें 'सहृदयं सामनस्यमाविद्वेषं कृणोमिवः' पंक्ति मिलती है जिसमें 'सहृदय' का अर्थ 'समान हृदय' है। 'समान' तथा 'हृदय' दो पदों से निर्मित यह सामासिक शब्द है। समान के लिए 'स' का उपयोग किया गया है। अतः 'सहृदय' का तात्पर्य है 'समान हृदय वाला'। काव्य में रचनाकार एवं पाठक या श्रोता अनुभव साम्य की दृष्टि से समान हृदय वाले अर्थात 'सहृदय' कहे जाते हैं। भट्टतौत कहते हैं-"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।' नाट्यशास्त्र में 'सहृदय' के स्थान पर 'सुमनस प्रेक्षक' का प्रयोग मिलता है। विभिन्न आचार्यों ने 'सहृदय' के समानार्थक शब्दों का प्रयोग किया है लेकिन इसका सर्वाधिक और स्पष्ट प्रयोग आनंदवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' में मिलता है। आनंदवर्द्धन ने 'सहृदयता' को 'रसज्ञता' का पर्याय माना है। अभिनवगुप्त ने तंत्रवाद के आलोक में 'सहृदय' की मार्मिक व्याख्या की है। इसके लिए उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' एवं 'ध्वन्यालोक' को आधार बनाया है। यह व्याख्या 'अभिनवभारती', 'लोचन', 'तंत्रालोक', परात्रिंशिका' तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्तिविमर्शिनी' में मिलती है।

अभिनवगुप्त ने 'सहृदय' पर चिति, चैत्य तथा चित्त तीनों कोणों से प्रकाश डालते हुए उसकी तीन स्वरूपगत विशेषताएं बताई हैं–

(1) स्वहृदय संवाद भाजकता–अर्थात ऐसा पाठक या श्रोता जिसका हृदय स्वयं से संवाद करने में कुशल हो, सचेत हो। वह कवि के संवाद को भी आत्मसात कर लेगा। इसका संबंध चिति से है।

(2) वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता–इसका संबंध चैत्य से है, इसमें वर्णन की जाने वाली कथावस्तु पर बल दिया जाता है, उसे सुनना और आत्मसात करना।

(3) 'तादात्म्यसमापत्तियोग्यता'–इसका संबंध चित्त से है। जब कवि एवं पाठक, श्रोता या सहृदय के चित्त के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है, वे एक हो जाते हैं। उनकी अनुभूति एकरस हो जाती है।

निष्कर्ष यह है कि 'सहृदयता' हृदय की 'योग्यता', 'उत्कर्ष', 'संवेदनशीलता', 'आत्मसात् करने की क्षमता' का ही नाम है। जो जितना संवेदनशील होगा, योग्य हृदय का, उत्कर्षशील हृदय का स्वामी होगा, वह लोकोत्तर आनंदमय स्थिति को प्राप्त करने का

अधिकारी होगा। हृदय की यह योग्यता साहित्य के अध्ययन, चिंतन-मनन की निरंतरता और अभ्यास से आती है। सभी का हृदय इसका अधिकारी नहीं होता। 'सहृदय' होने की योग्यता के लिए लंबे धैर्य और निरंतरता के साथ काव्यानुशीलनात्मक अभ्यास की आवश्यकता है। तभी तुलसीदास के साथ दशरथ मरण के प्रसंग पर रो सकेंगे।

अभिनवगुप्त तो कहते हैं कि अभ्यास के साथ पूर्व जन्म के पुण्यों का होना भी आवश्यक है तभी चित्त काव्यानुशीलन में रमेगा यदि पुण्य के स्थान पर पाप होंगे तो वे मनुष्य को इस दिशा से विमुख करेंगे। अभिनवगुप्त 'हृदय की निर्मलता' को भी महत्त्व देते है। समुन्नत मस्तिष्क वाला, दैहिक आवश्यकताओं की परिधि से उठा हुआ, निर्व्यसन और साथ में सुकुमार यानी कोमल हृदय वाला मनुष्य ही काव्यानुशीलन सच्चा का पथगामी हो सकता है, 'सहृदय' हो सकता है। दूसरी तरह से कहा जाए तो श्रेष्ठ मानवीय संवेदनाओं से परिपूर्ण मनुष्य शिक्षित और परिष्कृत संस्कारों की पूंजी धारण कर 'सहृदय' बन सकता है। 'सहृदय' के भीतर वह प्रतिभा और शक्ति होती है कि वह काव्यार्थ को उसी शिद्दत और गहनता, पूर्णता एवं तीव्रता के साथ अनुभव करता है, जानता है। 'तन्मयीभवन' की योग्यता ही सहृदयता है। पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं कि जिस प्रकार समाधिस्थ योगी को स्वरूपानंदाकार चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है वह स्वयं आनंद स्वरूप और ब्रह्म रूप हो जाता है उसी प्रकार तन्मयीभवन योग्यता के कारण सहृदय कवि के चित्त के साथ तन्मय होकर काव्यानंद के मर्म तक पहुंच जाता है। 'सहृदय' बाह्य सौंदर्य पर नहीं टिकता वह अंतर्मन का भेदन करता हुआ समभाव पर पहुंचता है। रचना को नहीं रचना के कारण को भी लक्ष्य बनाता है। आत्मप्रकाश से भर उठने वाले हृदय की रचनात्मक सौंदर्य के प्रति दृष्टि गहन होती है। इसलिए आचार्यों ने हृदय को 'विमर्श' भी कहा है। विमर्श या हृदय जो सूखे झुर्रीदार मुख के पीछे छिपी तपस्या के सौंदर्य को अनुभूत कर जगमगा उठता हो उसे रचनात्मक सौंदर्य के नाम से जाना जा सकता है। ऐसा हृदय ही 'सहृदय' हो सकता है। ऐसे हृदय को धारण करने वाला पात्र 'सहृदय' हो सकता है। साहित्य जो काव्य का पर्याय माना जाता था उसमें सहृदय की अवधारणा साभिप्राय हुई थी। जो वर्तमान में भी प्रासंगिक है।

काव्य में रसानुभूति के लिए सहृदय का होना आवश्यक है। सहृदय के हृदय में स्थित सुप्त स्थायी भाव विभावादिकों को ग्रहण करके रसानुभूति से सिक्त हो जाते हैं। सहृदय और कवि के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है जब सहृदय काव्य का पठन या श्रवण करता है उस काव्य में निहित भाव उसे कवि के भावों से तादात्म्य स्थापित करने में सहायक बनते हैं। कवि के भावों से तादात्म्य स्थापित होते ही काव्य के भावों का असाधारणत्व साधारण होने लगता है। साधारणीकरण की इस प्रक्रिया से रस निष्पत्ति होती है और सहृदय काव्यानंद में डूबता हुआ ब्रह्मानंद की ओर बढ़ने लगता है। रस सिद्धांत सदैव प्रासंगिक रहा है। रस परंपरा ऋग्वेद से अद्यतन निरंतर है। जब तक जीवन है, साहित्य है तो रस है। रस है – तभी जीवन है। यही चक्र शाश्वत है।

गतिविधि

साहित्यकार की रचना विशेष को पढ़कर आपका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। साधारणीकरण की प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए उस रचना पर एक आलेख तैयार कीजिए।

क्या आप जानते हैं?

आप अपनी मनपसंद कोई फिल्म या नाटक देखने गए हैं, अचानक आपको याद आता है कि घर के ताले पर चाभी लटकी रह गई, तब आप रस का आनंद नहीं ले पाएंगे।

1.12 सारांश

भारतीय काव्य शास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्र, रीतिकालीन काव्यशास्त्र तथा हिंदी काव्यशास्त्र– इन तीन खंडों से मिलकर बना। काव्यशास्त्र के अध्ययन के लिए काव्य के स्वरूप एवं लक्षणों को जाना गया। वाक्यम् रसात्मक काव्यम्, शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्, रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् आदि परिभाषाएं जहां काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं वहीं यह भी बताती हैं कि रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य काव्य के लक्षण हैं। प्रतिभा, निपुणता, अभ्यास आदि काव्य रचना के आवश्यक प्रेरक तत्व हैं तथा यश प्राप्त करना, मनोरंजन करना, लोक कल्याण करना काव्य के प्रयोजन हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र ही मूलतः भारतीय काव्यशास्त्र है क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र के पश्चात रीतिकालीन काव्यशास्त्र हो या हिंदी काव्यशास्त्र, उनमें संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की परंपरा ही निरंतर प्रवाहित होती रही है। रीतिकालीन या हिंदी काव्यशास्त्रियों ने किसी नये सिद्धांत की स्थापना नहीं की। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्र का ही रूप है। भारतीय काव्यशास्त्र काव्य का मेरुदंड है।

काव्य के सभी लक्षणों के अपने-अपने संप्रदाय और सिद्धांत हैं। इनके प्रकार, उपप्रकार हैं। काव्य के सभी लक्षण चाहे रस हो या अलंकार, रीति हो या वक्रोक्ति, ध्वनि हो या औचित्य सभी एक दूसरे से संबंधित हैं। रस, रीति और औचित्य सर्व समावेशी लक्षण हैं। ये सभी काव्य में किसी न किसी रूप में पाए जाते हैं। अलंकार बाह्य यानी शारीरिक होने के साथ-साथ आत्मा का गुण भी है जिससे आत्मा अलंकृत और प्रभा संपन्न होती है। वक्रोक्ति भी अलंकार का एक रूप है तथा ध्वनि भी काव्य के सभी प्रकारों में न्यूनाधिक हो या प्रबल और सटीक, उपस्थित अवश्य होती है बल्कि ध्वनि युक्त काव्य को ही कुछ काव्यशास्त्रियों ने उत्तम काव्य की संज्ञा दी है। काव्य के इन लक्षणों के संस्थापक या प्रवर्तक काव्यशास्त्र के आचार्य हैं। जैसे– 'रस' के भरतमुनि, 'अलंकार' के भामह, 'रीति' के वामन, 'वक्रोक्ति' के कुंतक, 'ध्वनि' के आनंदवर्धन, 'औचित्य' के क्षेमेंद्र। दृश्य हो या श्रव्य, काव्य के अनेक भेदोपभेद हैं जिनकी अपनी महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं, जिनका अध्ययन किए बिना काव्य के पूर्ण स्वरूप, उपयोगिता महत्व और भूमिका को नहीं जाना जा सकता।

काव्यशास्त्रियों के काव्य 'हेतु' अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। न्यायदर्शन का 'हेतु' भी इनसे अंशत: मिलता जुलता है। दर्शनशास्त्र में इसे कारण कहा जाता है। 'हेतु' अर्थात वे साधन जो काव्य-रचना में कवि के सहायक होते हैं। कुछ आचार्य प्रतिभा को काव्यत्व का बीज मानते हैं और उसे ही 'हेतु' स्वीकार करते हैं। हेतु या कारण दो प्रकार के होते हैं– उपादान और निमित्त। अग्निपुराण में लोक-व्यवहार तथा वेद के ज्ञान को काव्य-प्रतिभा की योनि कहा गया है तथा सिद्ध किए गए मंत्र के प्रभाव से जो काव्य निर्मित होता है उसे अयोनिज कहा गया है। इससे काव्य के तीन हेतुओं का पता चलता है– काव्य-प्रतिभा, वेद-ज्ञान और लोक-व्यवहार। भारतीय साहित्य में प्रतिभा को बहुत आवश्यक एवं अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है, परंतु कुछ लोगों का यह भी विचार है कि साधना द्वारा काव्य रचना की शक्ति एवं प्रतिभा संवर्धित की जा सकती है। पहले प्रश्न पर विचार करते हैं–प्रतिभा के संबंध में प्राय: मत यह है कि यह जन्मजात ही होती है। कुछ लोगों ने काव्य की शक्ति, प्रतिभा को दो रूपों में देखा है– सहजा और उत्पाद्या। संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान रुद्रट के विचार में सहजा प्रतिभा जन्मजात होती है और उत्पाद्या शास्त्र, लोकानुभव और संगत आदि से प्राप्त हो सकती है। इसमें संदेह नहीं कि सहजा और उत्पाद्या इन दोनों ही काव्य प्रतिभाओं में अंतर किया जा सकता है। सहजा प्रतिभा अधिक क्षमताशाली, स्वत: स्फूर्त और अजस्र सर्जनाशक्ति है, जबकि इसकी तुलना में उत्पाद्या प्रतिभा कम बलशाली, अविशिष्ट, प्रेरणास्फूर्त और कभी-कभी जागृत सर्जना शक्ति है। दोनों में अंतर होते हुए भी यह विचारणीय है कि क्या जन्मजात या सहजा प्रतिभा के न होने पर भी उसे सत्संग या प्रयत्न आदि से प्राप्त किया जा सकता है? इस संबंध में दो मत मिलते हैं, एक तो यह कि उत्पाद्या प्रतिभा के रूप में जो शक्ति काम करती है वह वास्तव में सुषुप्त, किंतु सहजा प्रतिभा शक्ति ही है और दूसरा मत यह है कि जन्म से अथवा संस्कार से प्रतिभा न होते हुए भी वह प्रयत्न द्वारा अर्जित की जा सकती है। काव्य-रचना के प्रसंग में प्रतिभा के साथ-साथ साधना का भी महत्वपूर्ण हाथ है। प्रतिभा का विकास साधना द्वारा होता है। जाग्रत प्रतिभा या काव्य के संस्कार अनवरत साधना से भली-भाँति प्रस्फुटित होते हैं।

काव्य के सामान्यत: दो प्रयोजन माने जाते हैं–आनंद की प्राप्ति और लोक कल्याण। भरतमुनि लिखते हैं–यह नाट्य (काव्य) धर्म, यश, आयु, हित और वृद्धि का अभिवर्धक और लोकोपदेश के लिए है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों जीवन के पुरुषार्थ माने जाते हैं। इन पुरुषार्थों के बीच आपसी तारतम्य है। एक के बाद हम दूसरा पुरुषार्थ प्राप्त करते हैं और इस प्रकार एक प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर, फिर वह साध्य के स्थान पर साधन बन जाता है। इन साधनों के तारतम्य में अंतिम साध्य मोक्ष है, जो साधन नहीं बनता। मोक्ष के अंतर्गत जो ध्वनि है, वह निषेधार्थपूर्ण है, विधेयतापूर्ण नहीं। मोक्ष अर्थात जीवन से निष्क्रमण। यदि जीवन से निष्क्रमण का तात्पर्य जीवन के आनंद से निष्क्रमण है, तो कोई नहीं चाहेगा। अत: इसका तात्पर्य हुआ जीवन के दुखों से निष्कृति या मुक्ति। जीवन सुख-दुखात्मक है, अत: जब उसके दुखों से कोई मुक्त होना चाहता है, तो उसके सुखों से भी हाथ धोना पड़ता है। अत: मुक्ति आनंदहीन हुई। वह स्थिति तो जड़ सी हुई। यह जीवन को दुखपूर्ण मानने की धारणा या परिणाम है। परंतु साहित्य या काव्य की कल्पना दूसरे प्रकार की है। वह जीवन के दुखों को भी सुखों में परिणत करने का जादू है। हमारे जीवन के दुखानुभव जब काव्य या साहित्य का रूप धारण करके आते हैं, तब वे हमें दुख नहीं वरन सुख ही देते हैं। काव्य में

रस का भी यही रहस्य है। रस के अंतर्गत जीवन की सुख-दुखात्मक अनुभूतियां आनंद में परिणत हो जाती हैं।

शैली और स्वरूप की दृष्टि से काव्य को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। शैली की दृष्टि से इसके तीन रूप दिखाई देते हैं- गद्य, पद्य और चंपू काव्य। स्वरूप की दृष्टि से काव्य को प्रमुखतया दो रूपों में देखा जा सकता है- दृश्य और श्रव्य। श्रव्य काव्य को पुन: दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है- प्रबंध और मुक्तक। प्रबंध के अंतर्गत महाकाव्य और खंड काव्य आते हैं। मुक्तक काव्य ऐसे पद्यों का समूह होता है जो पूर्वापर संबंध से मुक्त होते हैं। उसके छंद तक एक-दूसरे से निरपेक्ष होते हैं। आचार्यों ने मुक्तक का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि छंद में लिखे गए काव्य को पद्य कहते हैं। यदि वह मुक्त यानी दूसरे पद्य से निरपेक्ष हो तो उसे मुक्तक कहते हैं। मुक्तक काव्य की परंपरा हमें प्राचीन काल से प्राप्त होती है और संस्कृत में अनेक प्रकार का चमत्कार पाया जाता है। व्यापक रूप से मुक्तक अनिबद्ध काव्य है। इसमें किसी कथा या विचारसूत्र के स्थान पर उस छंद या पद्य को समझने की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि वह अपने में ही परिपूर्ण होता है। संस्कृत साहित्य के आधार पर मुक्तक अनिबद्ध काव्य का एक भेद है।

गेय या गीति मुक्तक ऐसे मुक्तक होते हैं जिनमें गीति तत्व प्रमुख होता है। कवि की निजी अनुभूति की अभिव्यक्तियां होती हैं। सुख-दुख के आवेश के अंदर से स्वयं फूटते हुए उद्‌गार होते हैं। ये अभिव्यक्तियां मर्म को छूने वाली होती हैं और इनमें संगीतात्मकता की प्रधानता रहती है। चित्त को पिघला देने वाले भाव करुण और शृंगार के अधिक माने गए हैं, वात्सल्य के भाव भी ऐसे ही हैं। इन सब भावों से संबंधित उद्‌गार अच्छे गीति मुक्तक बन जाते हैं। प्रगीतात्मकता की मनोदशा में कवि अपने व्यक्तित्व के सबसे समीप होता है। इसके अंतर्गत मनोभावना के साथ-साथ ही शैली अर्थात कथन का ढंग भी विशेष महत्वपूर्ण होता है। इस प्रवृत्ति के अंतर्गत कवि संगीतमयी, मधुर रचना के सहारे अपनी निजी अनुभूतियों का प्रकाशन करता है। वह अपने ही व्यक्तित्व का विश्लेषण करता तथा अपने स्मरणीय पक्षों का सजीव चित्रण करता है।

प्रगीतों का अति स्वाभाविक रूप लोकगीतों में देखने को मिलता है। ये लोकगीत ग्राम्य मनुष्यों और विशेषकर नारियों के द्वारा किसी त्योहार, उत्सव, संस्कार के अवसर पर या नित्यप्रति काम करते समय गाए जाते हैं। इनके भीतर उस अवसर के अनुकूल व्यक्ति की बड़ी तीव्र भावना अंतर्निहित रहती है और स्वानुभूति का स्वर हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने वाला होता है।

रस सिद्धांत काव्यशास्त्र का मूल एवं महत्वपूर्ण सिद्धांत है। काव्यशास्त्रीय अध्ययन की परंपरा का आरंभ इसी सिद्धांत से किया जाता है। यह काव्य की आत्मा है। 'रसो वै स:' रस ही वह है। वह अर्थात् आत्मा, परमात्मा और अलौकिक शक्ति। आत्मा के अस्तित्व पर ही देह का अस्तित्व संभव है। भिन्न रूपों में उपस्थित परमात्मा की तरह यह भी भिन्न-भिन्न काव्यीय रूपों में आस्वादन का अनुभव कराता है। रस एक अलौकिक स्थिति है, आत्मानुभूति है, ब्रह्मानंद सहोदर है। काव्य के सृजन, पठन, श्रवण और देखने से सर्जक, दर्शक, पाठक और श्रोता उस भाव-भूमि पर पहुंच जाता है, जहां पर केवल निर्विकल्प, निर्लेप शुद्ध आनंदमयी चेतना का ही साम्राज्य होता है। उस भावभूमि को प्राप्त कर लेने की स्थिति का नाम ही रस

है। काव्य सहृदय सामाजिक को या सर्जक को उस भावभूमि पर पहुंचाकर ही सार्थक होता है। यदि वह ऐसा करने में, इस भावदशा तक पहुंचाने में असमर्थ है तो वह काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं। उस शुद्ध, आनंदमयी स्थिति तक पहुंचने के लिए सर्जक एवं सहृदय को भी निर्मल हृदय का अधिकारी होना चाहिए। वह दुर्बल सांसारिक बंधनों की उपेक्षा कर काव्य के पठन, सृजन, श्रवण में डूब जाए तभी उस भाव भूमि तक पहुंच सकता है।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रस परंपरा का प्रामाणिक ग्रंथ नाट्यशास्त्र को माना जाता है जिसे पांचवां वेद भी स्वीकार किया गया है। इसके प्रणेता आचार्य भरतमुनि रस की महत्ता को प्रतिपादित करने वाले प्रथम आचार्य माने गए हैं यद्यपि इनसे पूर्व रस की चर्चा करने के संबंध में आचार्य नंदिकेश्वर एवं उनके ग्रंथ अभिनवदर्पण का उल्लेख किया जाता है किंतु इसके अप्रामाणिक एवं अप्राप्य होने के कारण भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही रस संबंधी प्रथम ग्रंथ ठहरता है।

रसानुभूति की आवश्यक शर्त है सहृदय होना। जो सहृदय है वह अपनी संवेदनाओं में प्रकृति के जड़-चेतन सभी के सुख-दुख को अनुभव कर सकता है। सरस प्रकृति के भीतर परमात्मा की उपस्थिति को अनुभव कर सकता है वह रसानुभूति में डूबकर ब्रह्मानंद को प्राप्त कर सकता है। रसानुभूति से पाया हुआ ब्रह्मानंद हृदय को शांति और मुख पर कांति बिखेर देता है। 'आनंद' आत्मा का स्वरूप एवं एक मुक्त प्राकृतिक, नैसर्गिक स्थिति है। काव्यानंद एवं ब्रह्मानंद में अंतर है। काव्यानंद में चित्त के विकार छिप जाते हैं, लुप्त होते हैं लेकिन बाद में उनके प्रत्यक्ष होने की संभावना शेष रहती है जबकि ब्रह्मानंद में विकारों का नाश हो जाता है और उनके प्रत्यक्षीकरण की कोई संभावना शेष नहीं रहती। ब्रह्मानंद को इसलिए चरम स्थिति माना गया है। काव्य में सांसारिक दुख भी सुख बनकर उपस्थित होता है इसलिए करुण रस के काव्य के दुखद वर्णनों को भी हम बार-बार पढ़ते हैं, रोते हैं और फिर पढ़ते हुए सुख का ही अनुभव करते हैं। इसलिए रस दशा 'आनंद' की ही द्योतक मानी गई है। 'रस' का स्वरूप 'ब्रह्म' के पर्याय के रूप में लिया गया है। 'रसो वै सः' रस ही वह ब्रह्म है। रस काव्यात्मा है यह सर्वमान्य और निर्विवाद है। ऋग्वेद, अग्निपुराण से लेकर अद्यतन चिंतन और व्याख्याओं के द्वारा रस की निरंतरता और प्रासंगिकता सिद्ध हो चुकी है। काव्य में रस की उपस्थिति वैसी ही अनिवार्य है जैसे जीवन के लिए आत्मा, श्वास। जब तक पृथ्वी पर जीवन है तब तक साहित्य रहेगा ही। साहित्य है तो रस रहेगा। रस है तो मनुष्य जीवंत रहेगा और साहित्य रचना में सन्नद्ध रहेगा। यह चक्र सृष्टि में आदि से है और अंत तक रहेगा।

भरतमुनि के अनुसार जब स्थायी भाव का विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के साथ संयोग होता है तब रस निष्पत्ति होती है। 'विभानुभाव व्यभिचारी संयोगात् रस निष्पत्तिः।' इस सूत्र के आधार पर रस के चार अवयव निश्चित हुए–स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव। रस निष्पत्ति के प्रश्न को हल करने के लिए भरत के रस सूत्र की टीकाकारों ने अपनी-अपनी तरह से व्याख्या की है। 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों का क्या तात्पर्य है? रस की निष्पत्ति किस प्रकार की और किसमें होती है? सामाजिक को, कवि को, विभाव को या अनुभाव को? चार प्रमुख टीकाकार हुए हैं–भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त। भरत के रससूत्र में आए 'निष्पत्ति' शब्द को 'उत्पत्ति' के अर्थ में लेते हुए

उत्पत्तिवादी भट्टलोल्लट ने उत्पत्तिवाद की प्रतिष्ठा की। इनका मानना है कि नाटक में रस मुख्यत: नायक-नायिका में ही उत्पन्न होता है परंतु उनका अभिनय द्वारा अनुकरण करने वाले नटों में उस रस की प्रतीति होती है। इस रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तीनों के संयोग से होती है।

काव्य में सदैव असाधारण या विशेष का ही प्रतिपादन किया जाता है। काव्य का वह विशेष जब साधारण या सामान्य रूप में प्रतिभासित होने लगता है, तब वह स्थिति साधारणीकरण की स्थिति कहलाती है। जब काव्य में वर्णित 'राम', राम न रह कर एक सामान्य पुरुष और 'सीता', सीता न रहकर एक सामान्य युवती के रूप में भासित होने लगते हैं, तब साधारणीकरण की स्थिति होती है। यही काव्यात्मक साधारणीकरण कहलाता है। 'साधारणीकरण' का सामान्य या विशेष अर्थ यही होगा कि असाधारण का साधारण होकर मन के अनुकूल हो जाना। कवि अपने कौशल से जो रचना करता है सहृदय की मन:स्थिति कवि की मन:स्थिति के अनुकूल होकर समभाव के स्तर पर पहुंच जाती है और कवि तथा सहृदय के भावों में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। सहृदय उसी शिद्दत से काव्य के भावों में डूबता-उतराता है जिस भाव सरिता में पैठ तक कवि ने रचना की। यही भाव साम्य 'साधारणीकरण' है।

'सहृदयता' हृदय की 'योग्यता', 'उत्कर्ष', 'संवेदनशीलता', 'आत्मसात् करने की क्षमता' का ही नाम है। जो जितना संवेदनशील होगा, योग्य हृदय का, उत्कर्षशील हृदय का स्वामी होगा, वह लोकोत्तर आनंदमय स्थिति को प्राप्त करने का अधिकारी होगा। हृदय की यह योग्यता साहित्य के अध्ययन, चिंतन-मनन की निरंतरता और अभ्यास से आती है। सभी का हृदय इसका अधिकारी नहीं होता। 'सहृदय' होने की योग्यता के लिए लंबे धैर्य और निरंतरता के साथ काव्यानुशीलनात्मक अभ्यास की आवश्यकता है। काव्य में रसानुभूति के लिए सहृदय का होना आवश्यक है।

इस प्रकार आपने जाना कि किस प्रकार सर्जक काव्य का सर्जन करता है और पाठक या श्रोता अर्थात सहृदय जब काव्य का रसानंद लेता है तो उसके हृदय में स्थित सुप्त स्थायी भाव विभावादिकों को ग्रहण करके रसानुभूति से सिक्त हो जाते हैं। सहृदय और कवि के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है जब सहृदय काव्य का पठन या श्रवण करता है उस काव्य में निहित भाव उसे कवि के भावों से तादात्म्य स्थापित करने में सहायक बनते हैं। कवि के भावों से तादात्म्य स्थापित होते ही काव्य के भावों का असाधारणत्व साधारण होने लगता है। साधारणीकरण की इस प्रक्रिया से रस निष्पत्ति होती है और सहृदय काव्यानंद में डूबता हुआ ब्रह्मानंद की ओर बढ़ने लगता है।

1.13 मुख्य शब्दावली

- **उत्कंठा** : प्रबल इच्छा।
- **रसनिष्पत्ति** : रस का परिपाक।
- **व्यापक** : अपने में बहुत कुछ समेटे हुए।
- **रसान्वित** : रस युक्त।

- **ग्राह्य** : ग्रहण योग।
- **जडधी** : मूर्ख बुद्धि।
- **वाग्विशेष** : वाणी की विशेषता।
- **ब्रह्मानंदसहोदर** : परमात्मा से मिलन जैसा सुख देने वाला।
- **लोकोत्तर** : जो इस संसार से ऊपर/अलग हो।
- **स्वाकारवदभिन्नत्व** : अपने ही आकार के समान संयुक्त।
- **भुक्ति** : भोग।
- **निष्पत्ति** : परिपाक।
- **तादात्म्य** : तल्लीनता एकरूप हो जाना।
- **भुक्तिवाद** : भौतिकता।

1.14 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1. भरतमुनि
2. नाट्यशास्त्र
3. शास्त्र ज्ञान
4. काव्य के स्वरूप और समस्या का
5. आचार्य विश्वनाथ
6. अग्निपुराण
7. छह
8. डॉ. नगेंद्र
9. दो
10. प्रतिभा
11. क्रोचे
12. क्रौंच-वध
13. तीन
14. दृश्य काव्य को
15. दृश्य काव्य
16. आख्यान
17. मुक्तक काव्य
18. हीगेल
19. रस सिद्धांत

20. तैत्तिरीय
21. आचार्य विश्वनाथ
22. ब्रह्म
23. चार
24. तैंतीस
25. दस
26. अभिनवगुप्त
27. साधारणीकरण
28. आचार्य भट्टनायक
29. अथर्ववेद
30. पाठक

1.15 अभ्यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. काव्य के नामकरण से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
2. काव्यशास्त्र के स्वरूप पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. दृश्य काव्य से आप क्या समझते हैं? उसे पांचवें वेद की संज्ञा क्यों दी गई? स्पष्ट कीजिए।
4. आचार्य विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य के लक्षणों का विवेचन कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–
   (क) कलागीत (ख) विनय प्रगीत (ग) लोकगीत।
6. रस के प्रमुख अंगों का परिचय देते हुए उनकी उपयोगिता बताइए।
7. काव्यशास्त्र में सहृदय के महत्व की व्याख्या कीजिए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय काव्यशास्त्र के संस्कृत और संस्कृतेतर इतिहास की विशेषताओं का विस्तार से विवेचन कीजिए।
2. काव्य के लक्षणों की व्याख्या करते हुए इन लक्षणों के संस्थापकों का परिचय दीजिए।
3. काव्य के प्रयोजनों का विस्तार से विश्लेषण कीजिए।
4. काव्य हेतुओं से आप क्या समझते हैं? काव्य हेतु में प्रतिभा के महत्व को प्रतिपादित कीजिए।

5. मुक्तक काव्य की विशेषताओं की व्याख्या करते हुए मुक्तक के प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।
6. हिंदी काव्य में गीति काव्य के विविध रूपों का वर्णन करते हुए लोकगीतों की उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
7. रस को ब्रह्मानंद सहोदर क्यों माना गया है? विस्तार से विश्लेषण कीजिए।
8. रस निष्पत्ति कैसे होती है? विस्तार से विवेचन कीजिए।
9. साधारणीकरण से आप क्या समझते हैं? साधारणीकरण की प्रक्रिया को विस्तार से समझाइए।

1.16 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. डॉ. भगीरथ मिश्र, *काव्यशास्त्र*, विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर-1957
2. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, *हिन्दी साहित्य में विविध वाद*, पद्मजा प्रकाशन कानपुर 2010-वि.सं.
3. डॉ. वेंकट शर्मा, भूमिका नगेंद्र, *आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास*, आत्माराम एंड संस दिल्ली-1967
4. डॉ. जगदीश प्रसाद कौशिक, *काव्य दर्पण*, साहित्यागार, जयपुर-1988
5. डॉ. जगदीश प्रसाद कौशिक, *भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमान*, साहित्यागार जयपुर -1988
6. सत्यदेव मिश्र, *पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांत और वाद*, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा,1975
7. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, *सहृदय और साधारणीकरण*, हिंदुस्तान एकेडमी इलाहाबाद, 1984
8. डॉ. लक्ष्मी पांडेय, *अधुनातन काव्यशास्त्री : आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी*, उर्मिल प्रकाशन, गाजियाबाद।

इकाई 2 काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय –II

2.0

2.5 वक्रोक्ति संप्रदाय : स्वरूप एवं मूल स्थापनाएं

वक्रोक्ति अर्थात टेढ़ा कथन। सामान्य कथन या सीधी बात हृदय को उतनी प्रभावित नहीं करती जितनी टेढ़ी बात। जब यह वक्रोक्ति काव्य में प्रयुक्त होती है तो काव्य में चमत्कार उत्पन्न कर देती है। सहृदय सामाजिक का हृदय आंदोलित हो उठता है। कथ्य अपने लक्ष्य तक पहुंच जाता है यानी तीर निशाने पर लगता है इसलिए अलंकार सिद्धांत के कुछ अनुयायी वक्रोक्ति को अलंकार के अतर्गत परिगणित करते हैं तो ध्वनि सिद्धांत के अनुयायी इसे व्यंग्य-कथन या व्यंजना मानते हुए ध्वनि के अंतर्गत मानते हैं। वक्रोक्ति रस निष्पत्ति में सहायक हो सकती है लेकिन स्वयं (आत्मा) रस तुल्य नहीं हो सकती। यह साधन है साध्य नहीं है।

2.5.1 वक्रोक्ति का स्वरूप

वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थापना आचार्य कुंतक ने की। 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ के द्वारा उन्होंने वक्रोक्ति सिद्धांत को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कहा–'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' अर्थात वक्रोक्ति काव्य का जीवन है। काव्य की आत्मा है। जहां अधिकांश आचार्य वक्रोक्ति के अलंकारत्व या उक्ति वैचित्र्य तक ही सीमित है। कुंतक कहते हैं–"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते।" (श्लोक 10) अर्थात कवि कर्म की कुशलता के कारण सबसे भिन्न विचित्र वर्णन शैली वक्रोक्ति है। लेकिन कुंतक से बहुत पहले वक्रोक्ति की कल्पना की जा चुकी थी। 'कादंबरी' में बाणभट्ट ने इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है। वे 'हर्षचरित में भी वक्रोक्ति' का उल्लेख करते हैं–

'वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण' अर्थात वक्रोक्ति चतुर जनों का आभूषण है। यह कहकर वे वक्रोक्ति के महत्व को बढ़ाते हैं। बाणभट्ट वक्रोक्ति के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हुए उसके स्वरूप को भी स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं–**'नवोऽर्थो जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः। विकटाक्षरबंधश्च कृत्सनमेकत्र दुर्लभम्।'** (हर्षचरितम्) यहां 'विकटाक्षर' का प्रयोग वक्रोक्ति के संदर्भ में आया है। इस कथन से शब्द सौंदर्य का पता चलता है। भामह ने वक्रोक्ति का व्यवस्थित परिचय दिया है। वे वक्रोक्ति के बिना काव्य में अलंकारों की कल्पना भी नहीं कर सकते। अलंकार के लिए वे वक्रोक्ति को आवश्यक मानते हैं–

सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरन्यार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

भामह के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता का वक्रोक्ति में अंतर्भाव हो जाता है। जैसे–**'वक्राभिधेया शब्दोक्तिरिष्टवाचामलंकृतिः।'** एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं–**'वाचाम् वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।'** अर्थात वक्रोक्ति का अभिप्राय है–शब्द और अर्थ की वक्रता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भामह शब्द और अर्थ की वक्रता के समन्वित रूप को ही वक्रोक्ति मानते हैं। भामह पहले अतिशयोक्ति अलंकार का स्वरूप बताते हैं तत्पश्चात यह भी रेखांकित करते हैं कि वक्रोक्ति एवं अतिशयोक्ति के लक्षणों में कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। भामह के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार में गुणों का आधिक्य होता

है। आधिक्य या अतिशयता का अर्थ है–'लोकातिक्रांत गोचरता' अर्थात लोक सामान्य से विचित्र।

निमिततो वचो यद्धि लोकातिक्रांतगोचरम् मन्येऽतिश्योक्ति तामलंकारतया यथा इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगत: सर्वेष्वतिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम्। सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति:।
(काव्यालंकार)

काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका में यह स्पष्ट किया गया है कि भामह के अनुसार वक्रोक्ति एवं अतिशयोक्ति पर्यायवाची हैं। जैसे–

'एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्।'

भामह यह भी कहते हैं कि अतिशयोक्ति के वैचित्र्य से अर्थ प्रकाशित हो जाता है–'अनयार्थो विभाव्यते।'

भामह के पश्चात दंडी ने उनके मत को पुष्ट करते हुए समस्त साहित्य को दो वर्गों में विभाजित कर दिया–(1) स्वभावोक्ति (2) वक्रोक्ति। जहां पदार्थों का सहज अथवा साक्षात वर्णन हो वहां स्वभावोक्ति होती है किंतु जहां पदार्थों का साक्षात एवं सहज वर्णन न होकर वक्र अर्थात चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है, वहां वक्रोक्ति होती है। दंडी कहते हैं– साहित्य में उपमा से लेकर संकीर्ण अलंकार तक सभी अलंकार वक्रोक्ति के ही भेद हैं। जैसे–**'वक्रोक्ति शब्देन उपमादय: संकीर्णपर्यन्तालंकारा उच्यन्ते।'** वे यह भी कहते हैं कि इन सभी अलंकारों से निष्पन्न चमत्कार में किसी-किसी रूप में श्लेष का योग रहता है ओर श्लेष वक्रोक्ति के आश्रित रहता है। यानी वक्रोक्ति श्लेषपोषित है। लिखते हैं–

श्लेष: सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥

दंडी अतिशयोक्ति को भी चमत्कारपूर्ण उक्ति मानते हैं। यानी वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में कोई तात्विक भेद नहीं मानते। लेकिन स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं कहते तथा वक्रोक्ति को एक अलंकार मानकर उसे अलंकारों का मूल मानते हैं।

वामन वक्रोक्ति को लक्षणा शक्ति का ही एक रूप मानते हैं तथा केवल अर्थ में उसकी उपस्थिति मानते हैं। वे कहते हैं सादृश्य लक्षणा ही वक्रोक्ति है। रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना और उसके दो भेद कर दिए–काकु वक्रोक्ति तथा भंगश्लेष वक्रोक्ति। आनंदवर्धन ने वक्रोक्ति को विशेष अलंकार की संज्ञा देते हुए भामह तथा दंडी की तरह वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति को अभिन्न माना। इनके अनुसार वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति सर्वालंकार मूला हैं और इनमें प्राप्त चमत्कार कवि की प्रतिभा द्वारा उत्पन्न होता है।

इस तरह वक्रोक्ति का स्वरूप निर्धारित हुआ और कुंतक ने इसे संप्रदाय के रूप में स्थापित कर दिया। कुंतक के परवर्ती आचार्य भोजराज ने दंडी से भी आगे बढ़कर वक्रोक्ति को काव्य रूप में मान्यता दी तथा समस्त वाङ्मय को तीन भागों में बांट दिया– वक्रोक्ति, रसोक्ति, स्वभावोक्ति। भोजराज का मत है कि लोक और शास्त्र में जो अवक्र कथन है उन्हें वचन कहेंगे और जो वक्र कथन हैं वे काव्य हैं। कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा

माना। वे कहते हैं–'प्रसिद्ध कथन से भिन्न चमत्कारपूर्ण वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। यह शैली वैदग्ध्यपूर्ण है तथा वैदग्ध्य कवि-कर्म कौशल है। यही कौशल कवि की शोभा है। कवि के भीतर स्थित प्रतिभा से ही यह कौशल आता है जो सहृदय सामाजिकों को आह्लादित कर देता है। कुंतक के अनुसार–

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कवि-व्यापार-शालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाह्लावकारिणी॥

अर्थात सहृदय सामाजिकों को आनंद देने वाली वक्र उक्ति कवि-व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ से मिलकर काव्य कहलाती है। वक्रोक्ति काव्य के सर्वांग में पाई जाती है। इसकी उपस्थिति ही काव्य को काव्य बनाती है।

2.5.2 वक्रोक्ति के भेद

कुंतक ने वक्रोक्ति के 6 प्रमुख भेद माने हैं–(1) वर्ण विन्यास वक्रता, (2) पद पूर्वार्द्ध–वक्रता, (3) पदपरार्ध वक्रता, (4) वाक्य वक्रता या वस्तु वक्रता, (5) प्रकरण वक्रता, (6) प्रबंध वक्रता।

(1) **वर्ण विन्यास वक्रता–** कुंतक के अनुसार वर्ण विन्यास वक्रता के तीन भेद हैं–

(क) एक वर्ण की अनेक बार आवृत्ति।

(ख) दो वर्णों की अनेक बार आवृत्ति।

(ग) अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति।

(2) **पद पूर्वार्द्ध वक्रता**–पद की संरचना प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से होती है। पद के पूर्वार्द्ध के अंग यानी प्रकृति के अंग दो होते हैं–(1) प्रतिपादिक (2) धातु। इस पदपूर्वार्द्ध वक्रता के आठ प्रकार बताए हैं–(1) रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता, (2) पर्याय वक्रता, (3) उपचार वक्रता, (4) विशेषण वक्रता, (5) संवृत्ति वक्रता, (6) वृत्ति वक्रता, (7) लिंग वैचित्र्य वक्रता, (8) क्रिया वैचित्र्य वक्रता।

- **रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता**–जहां लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा करने के उद्देश्य से वाच्यार्थ की रूढ़ि से असंभव अर्थ का अध्यारोप अथवा उत्तम धर्म के अतिशय का आरोप अप्रत्यक्ष रूप में कहा जाता है वहां रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता होती है। रूढ़ि यानी परंपरा प्रसिद्ध वाच्यार्थ। वस्तुतः इसमें किसी परंपरा प्रसिद्ध अर्थ को अन्य चमत्कारपूर्ण अर्थ में संक्रमित कर दिया जाता है। ध्वनिवादी इसे अर्थांतर संक्रमित वाच्यध्वनि कहते हैं। उदहारण–

  सीता हरण तात जनि कहेहु पितासन जाइ।
  जो मैं 'राम' त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥

  यहां 'राम' का विचित्रतापूर्ण अर्थ में प्रयोग है। यहां लोक प्रचलित और परंपरागत शब्द 'राम' को पराक्रमी शक्तिशाली और दिव्य अर्थों में दिखाया गया है।

- **पर्याय वक्रता**–इसमें किसी शब्द के विभिन्न पर्यायों में से किसी ऐसे एक पर्याय शब्द का प्रयोग किया जाता है कि काव्योक्ति में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। जैसे–'घन घमंड नभ गरजत घोरा' में 'घन' शब्द से गंभीरता और भयानकता का बोध होने से उक्ति चमत्कार उत्पन्न हो गया है। इसे ध्वनिवादी पर्यायध्वनि और अलंकारवादी परिकार अलंकार कहते हैं।
- **उपचार वक्रता**–इसके अंतर्गत रूपक अलंकार आते हैं। गुणों और लक्षणों में थोड़ी भी समानता होने पर एक वस्तु पर दूसरी का आरोप कर दिया जाता है। इनके मूल में सारोपा लक्षणा रहती है। छायावादी कवियों का 'मानवीकरण अलंकार' उपचार वक्रता के अंतर्गत आता है। उदाहरण–**"बीती विभावरी जाग री, अम्बर पनघट में डुबो रही ताराघट उषा नागरी॥"** यहां अंबर पर पनघट का नागरी पर उषा का, तारे पर घट का अध्यारोप है।
- **विशेषण वक्रता**–जहां विशेषण, कारक या क्रिया के प्रभाव से वाक्य का सौंदर्य बढ़ जाता है या उत्पन्न हो जाता है वहां विशेषण वक्रता होती है। कहीं ये विशेषण विशेष्य का सौंदर्य बढ़ाते हैं तो कहीं अलंकारों की सौंदर्य वृद्धि में सहायक होते है। जब विशेषणों का रस, अलंकार अथवा वस्तु स्वभाव के अनुकूल प्रयोग किया जाता है तभी उनकी सार्थकता होती है। जैसे–

  'तारक चिह्न दुकूलिनी पी-पीकर मधु पात्र। उलट गई श्यामा यहां रिक्त सुधाधर पात्र।' यहां विशेषण वक्रता के साथ, पी पी कर सुधाधर पात्र को उलटने की प्रक्रिया में क्रिया विशेषण वक्रता भी है।
- **संवृत्ति वक्रता**–कुछ कारण होते हैं जब हम किसी वस्तु के सौंदर्य, सत्य या महत्ता को शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाते या नहीं कर सकते तब हम सर्वनामादि शब्दों की सहायता से उसे संवृत्त कर देते हैं। इस गोपनीयता में विशिष्टता होती है। यहां संवृत्ति वक्रता होती है। जैसे–

  'स्याम गौर किमि कहहुं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥'

  यहां 'किमि' सर्वनाम द्वारा राम लक्ष्मण के अभूतपूर्व सौंदर्य का गोपन वर्णन किया गया है जिससे उक्ति का सौंदर्य बढ़ गया है।
- **वृत्ति वक्रता**–जब सौंदर्य वृत्तियों के प्रयोग पर आधारित रहता है वहां वृत्ति वक्रता होती है। इसका तात्पर्य समास वक्रता से है। यानी इसे समास वक्रता भी कहेंगे। जहां अव्ययीभाव आदि समासों के प्रयोग से सौंदर्य बढ़ जाता है वहां इसकी उपस्थिति मानी जाती है।
- **लिंग वैचित्र्य वक्रता**–जहां सौंदर्य लिंग प्रयोग पर आधारित होता है वहां लिंग वैचित्र्य वक्रता है। विभिन्न लिंगों का समान अधिकार के साथ प्रयोग सौंदर्य उत्पन्न करता है। जैसे–

  वासना की मधुर छाया! स्वास्थ्य बल विश्राम।
  हृदय की सौंदर्य प्रतिमा! कौन तुम छवि धाम॥ *(कामायनी)*

यहां 'छाया' और 'प्रतिमा' स्त्रीलिंग तथा 'विश्राम' और 'धाम' पुल्लिंग का प्रयोग एक ही अधिकरण में करने से सौंदर्य वृद्धि हुई है।

- **क्रिया वैचित्र्य वक्रता**–पद पूर्वार्ध के धातु रूप पर आश्रित वैभिन्य ही क्रिया वक्रता के अंतर्गत आता है। कुंतक ने इसकी पांच स्थितियों का चित्रण किया है–

(क) जब कवि क्रिया पद का उक्ति में इस तरह प्रयोग करता है कि यह कर्ता की अंतरंग हो जाती है। जैसे–

कैसे लगती हूं घूंघट में पूछा जब प्राण प्रिया ने।
दोनों बांह पसार बांध लिया आलिंगन में पिया ने॥

इस काव्य में कर्ता प्रश्न पूछती नायिका है जो 'आलिंगन में बांधने' की क्रिया के अंतरंग हो जाती है।

(ख) जब काव्य में किसी क्रिया पद का इस प्रकार प्रयोग किया जाए कि उससे कर्ता की विचित्रता प्रतिपादित हो तब वहां क्रिया वैचित्र्य वक्रता होती है। जैसे–**'विषम यह गोदावरी अमृतन को फल देत।'** यहां 'जल' के स्थान पर 'विष' शब्द का प्रयोग केशव ने किया है। 'विष' मृत्यु प्रदाता है किंतु तीर्थस्थान में यह मोक्ष दे सकता है।

(ग) क्रिया विशेषण के प्रयोग से भी क्रिया वैचित्र्य वक्रता होती है–**'घुमा रहे घनाकार जगती का अंबर।'**–यहां 'घनाकार' शब्द जगत का विशेषण तो है ही वह 'घुमाना' क्रिया की भी विशेषता प्रकट कर रहा है।

(घ) उपचार मनोज्ञाता या रोचकता–सादृश्य संबंध के कारण किसी अन्य पदार्थ के धर्म का कर्ता पर आरोप कर देना। धर्म आरोपण क्रिया रूप होता है–'उन्नत वक्षों में आलिंगन सुख-लहरों सा तिरता।' यहां सुख-लहरों के सादृश्य संबंध के आधार पर आलिंगन में भी तैरना धर्म का आरोप पद को सुंदर बना रहा है।

(ङ) कर्मादि संवृत्ति–इसमें क्रिया के कर्मादि को संवृत्त या अस्पष्ट कर सौंदर्य की सृष्टि की जाती है।–**'यह नैना ओरे कछु जिहिं बस होत सुजान।'** यहां बस में होने के कर्म को स्पष्ट किया जा सकता था किंतु बिहारी ने 'ओरे कछु' सर्वनाम का प्रयोग कर नेत्रों में अद्भुत सौंदर्य की सृष्टि की है।

(3) **पदपरार्ध वक्रता**–प्रत्यय पद का परार्ध होता है। वक्रोक्ति का सौंदर्य यहां छह प्रकार से बढ़ता है। कुंतक के अनुसार–

- **काल-वैचित्र्य वक्रता**–काव्य में औचित्य का ध्यान रखते हुए क्रिया में काल का सार्थक एवं परिस्थिति के अनुकूल ऐसा प्रयोग किया जाए कि भाव-सौंदर्य लहलहा उठे वहां काल वैचित्र्य वक्रता होगी–**'बौरनि चुमि कोएलिया घूमि करेजन की किरचैं करि दै हैं।'** यहां बौरों का चूमना और घूमना अतीत में

हुआ है जो वर्तमान में याद आकर कलेजे के टुकड़े कर रहा है। यहां काल के प्रयोग से सौंदर्य वृद्धि हुई है।

- **कारक वैचित्र्य वक्रता**–प्रतिभावान कवि कारकों के विभिन्न प्रयोग से काव्य-सौंदर्य में वृद्धि करता है। सामान्य कारक का मुख्य कारक के रूप में या कर्ता का करण कारक के रूप में। देखिए–**'हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त।'** यहां 'हस्त' शब्द करण कारक में होना चाहिए था किंतु कवि ने काव्य में रमणीयता की वृद्धि के लिए इसे कर्ताकारक बना दिया।
- **वचन-वैचित्र्य वक्रता**–वचन विपर्यय के द्वारा काव्य में रमणीयता उत्पन्न की जाती है–**'ये ऊजड़ ग्राम वेश का हृदय चिरंतन।'** यहां 'ये' बहुवचन के साथ 'हृदय' एक वचन प्रयोग सौंदर्य है।
- **पुरुष-वैचित्र्य वक्रता**–जहां काव्य में सौंदर्य वृद्धि के लिए उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष के स्थान पर अन्य पुरुष का प्रयोग किया जाए वहां पुरुष वैचित्र्य वक्रता होती है। अन्य पुरुष के प्रयोग से उदासीनता, तटस्थता अथवा श्रोता के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित होता है।–

  कर के ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाए।
  फूल उठे हैं कमल अधर से ये बंधूक सुहाए॥

  यहां 'मेरा' उत्तम पुरुष के स्थान पर 'इस जन' (अन्य पुरुषवाचक) शब्द का प्रयोग सौंदर्यवर्धक है।
- **उपग्रह वक्रता**–जहां आत्मनेपद और परस्मैपद में से किसी एक का औचित्यानुसार प्रयोग करने पर काव्य सौंदर्य बढ़ जाता है वहां उपग्रह वक्रता होती है–

  मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूं।
  भुजलता फंसा कर नर-तरु से झूले सी झोंके खाती हूं॥
  –कामायनी
- **प्रत्यय वक्रता**–जहां दोहरे, तिहरे प्रत्यय का प्रयोग कर काव्य सौंदर्य में वृद्धि की जाती है वहां प्रत्यय वक्रता होती है–'प्रिय से कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा! हे काग!' यहां संदेसड़ा में 'ड़ा' प्रत्यय प्रिय संदेश का द्योतक स्वार्थी प्रत्यय होने से मनमोहक है।

  पद वक्रता के दो अन्य भेद भी कुंतक ने स्वीकार किए हैं–(1) उपसर्ग वक्रता (2) निपात वक्रता– 'सुरसिका क्रीड़ा-कला पुतली' में 'सु' उपसर्ग से अतिशयता व्यंजित होने से काव्य सौंदर्य बढ़ा है अतः उपसर्ग वक्रता होगी।– 'सिरवादो ना, हे मधुपकुमार!' यहां 'ना' अनुनय मिश्रित प्रेम को अभिव्यंजित कर काव्य को रमणीयता प्रदान कर रहा है अतः निपात वक्रता होगी।

(4) **वाक्य वक्रता या वस्तु वक्रता**–कुंतक अलंकार और अलंकार्य को पृथक-पृथक मानते हुए इसके दो भेद करते हैं–(1) सहज और (2) आहार्य।

(क) **सहजवस्तु या वाक्य वक्रता**–'सहज' अर्थात स्वाभाविक या प्राकृत। उर्दू में इसे सादगी कहते हैं। सादगी और सहजता से भरा स्वाभाविक कथन, जिसका

कथ्य रमणीय हो, वहां वाक्य वक्रता होती है। यानी वाक्य भी सुंदर और इसका अर्थ भी सुंदर हो–

कागा सब तन खाइयो, चुन-चुन खाइयो मांस।
दो नैना मत खाइयो, मोहे पिया मिलन की आस॥

(ख) आहार्य–आहार्य अर्थात अप्रस्तुत विधान। आहार्य वक्रता कल्पित होती है। इसमें कल्पना के लिए कवि कौशल महत्वपूर्ण होता है। काव्यालंकारों में सजी कोई भी कविता आहार्य वक्रता का उदाहरण बन सकती है। जैसे–'**चुनौती नित निज अंग लवंग, तन्वि! तुम सी बनने को सुकुमार।**'

(5) **प्रकरण वक्रता**–प्रकरण अर्थात प्रसग। समस्त कथा संगठन प्रबंध कहलाता है। कवि अपने कौशल से प्रबंध के प्रत्येक प्रकरण या प्रसंग में भावपूर्ण, रोचक विषय वस्तु भरता और सौंदर्य में वृद्धि करता है यही प्रकरणों में उत्पन्न चमत्कारिक सौंदर्य ही प्रकरण वक्रता है। यह आठ प्रकार की होती है ऐसा कुंतक ने माना है–(1) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना से (2) उत्पाद्य लावण्य से (3) मुख्य कार्य से संबद्ध प्रकरणों का उपकार्य–उपकारक भाव (4) विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना (5) मनोरम दृश्यों का विस्तार से चित्रण (6) उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुंदर प्रसंगों की उद्भावना (7) गर्भांक (8) प्रकरणों की पूर्वापर अन्विति।

(6) **प्रबंध वक्रता**–प्रबंध वक्रता छह प्रकार की होती है। कुंतक ने पूरे प्रबंध के सौंदर्य की वृद्धि के लिए वक्रता के छह भेद किए हैं–(1) मूल रस का परिवर्तन करने से; (2) नायक के चरित्र का उत्कर्ष दिखाने वाली चरम घटना पर कथा का समापन करके; (3) कथा के बीच में किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि; (4) नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति; (5) एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रबंधों का वैचित्र्य एवं वैविध्य; (6) प्रधान कथा को प्रकट करने वाला नाम। कुंतक ने काव्य के छोटे और बड़े सभी अवयवों में वक्रोक्ति की व्याप्ति और उससे होने वाली सौंदर्य वृद्धि की चर्चा की है।

2.5.3 वक्रोक्ति और अभिव्यंजना

अभिव्यंजना पाश्चात्य विद्वान चिंतक इटली निवासी बेनेदतो क्रोचे की देन है जो मूलत: एक दार्शनिक थे। वक्रोक्तिवाद के संस्थापक भारतीय मनीषी कुंतक हैं जो मूलत: एक काव्यशास्त्री हैं। इन दोनों वादों पर विचार करते हुए ध्यान रखना चाहिए कि एक ओर दार्शनिक के विचार तो दूसरी ओर काव्यशास्त्री के विचार हैं। दर्शन में सिद्धांत पक्ष प्रबल होता है जबकि काव्यशास्त्र में सिद्धांत के साथ व्यावहारिक पक्ष भी महत्वपूर्ण होता है। इसलिए ये दोनों विवाद समानता रखते हुए भी वैचारिक दृष्टिकोण से भिन्न प्रतीत होते हैं।

क्रोचे की मूल धारणाएं

1. ज्ञान के दो रूप होते हैं–(1) विचारात्मक एवं (2) व्यवहारात्मक। विचारात्मक ज्ञान दो प्रकार होता है–(क) स्वयं प्रकाश्य ज्ञान (ख) तर्क ज्ञान। क्रोचे का कहना है कि स्वयंप्रकाश्य ज्ञान का संबंध व्यक्तिनिष्ठ या विशिष्ट होता है और यह कल्पना द्वारा

कला का उत्पादक होता है। दूसरा तर्क ज्ञान है जिसका संबंध समष्टि या जातिवाचक धारणाओं से होता है जो दर्शन, विज्ञान आदि का विधायक होता है।

2. स्वयं प्रकाश्य ज्ञान का संबंध कला से है। क्रोचे ने इसी ज्ञान को सहजानुभूति कहा है। सहजानुभूति की व्याख्या करते हुए क्रोचे ने स्पष्ट किया है कि सहजानुभूति स्वयं प्रकाश्य ज्ञान है जो पदार्थ बोध, संवेदन से भिन्न आंतरिक अभिव्यंजना रूप होती है। आत्मा सहजानुभूति को निर्माण, सर्जन और अभिव्यंजना के माध्यम से ही ग्रहण करती है। 'The sprit does not obtain Intuion, otherwise than by making forming expressing.'

3. सहजानुभूति अभिव्यंजना से भिन्न कुछ नहीं है, क्योंकि सहजानुभूति ज्ञान अभिव्यंजनात्मक होता है। यह ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतंत्र होता है तथा देशकाल के बधनों से मुक्त तथा संवेदनों अथवा चेतना के विषय में भी अपने रूप के कारण भिन्न होता है। अत: सहजानुभति का अर्थ है अभिव्यक्ति, केवल अभिव्यक्ति, न कम और न अधिक।

4. क्रोचे के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति स्वभावत: कलाकार होता है क्योंकि प्राय: सभी में सहजानुभूति की क्षमता रहती है। जिसमें सहजानुभूति की क्षमता होती है, उसमें अभिव्यंजना की शक्ति भी होती है। सामान्य व्यक्ति और कलाकार में अभिव्यक्ति की व्यापकता का अंतर होता है, प्रकार या तीव्रता का नहीं।

5. क्रोचे कला और कलाकृतियों में अंतर मानता है। क्रोचे के अनुसार कला आंतरिक होती है और कलाकृतियां उसकी बाह्य रूप होती हैं। वस्तुत: कला स्वयं प्रकाश्य ज्ञान की आध्यात्मिक क्रिया है और अभिव्यक्ति उसके साथ जुड़ी रहती है जो आंतरिक होती है और कवि उसे व्यक्त करने के लिए बाध्य होता है। यही कला है। कवि जब अपनी इस कला को भौतिक रूप देता है अर्थात उसे शब्दों में या वाणी में निबद्ध करता है तब वह स्वतंत्र होता है और उसमें समाज की अपेक्षा निहित रहती है। अत: यह कलाकार की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह उसे बाह्य रूप देना चाहता है अथवा नहीं और समाज के परिप्रेक्ष्य में उसे उसको (कला को) बाह्य रूप देना चाहिए अथवा नहीं।

6. क्रोचे सौंदर्य को अखंड मानता है, उसके अनुसार कला के सुंदर, सुंदरतर या सुंदरतम जैसा श्रेणी विभाजन संभव नहीं है। कला तो अपने आप में पूर्ण होती है। अत: कलाओं का वर्गीकरण व्यर्थ है। उसमें न तो सरलता या मिश्रत्व का भेद होता है, न आत्मपरक या वस्तुपरक होने का और न सहज या अलंकार का। अत: कला का अनुवाद भी नहीं होता, क्योंकि अनुवादक को विश्वसनीयता और सौंदर्य में से एक को चुनना पड़ता है।

7. क्रोचे अभिव्यंजना को प्रधान पद प्रदान करता है, किंतु वस्तु को भी नकारता नहीं है, बल्कि वह आधारभूत रूप में वस्तु की सत्ता को स्वीकार करता है, किंतु वह उसे कला का गौण क्षेत्र मानता है।

8. क्रोचे के अनुसार वस्तु के बिना अभिव्यंजना केवल वाग्जाल रह जाती है। वस्तुत: इस स्थिति में कलाकार शब्दाडंबर के द्वारा अपने आंतरिक खोखलेपन को ढांकने का

प्रयास करता है और उसकी (शब्दाडंबर की) गहराई में या तल में प्रेषण के लिए कुछ नहीं होता।

9. अभिव्यंजना का उद्देश्य अभिव्यंजना ही है। सहाजानुभूति को अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त उसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं होता। फलतः अपने मूल उद्देश्य में नैतिकता या उपयोगिता जैसे उद्देश्यों से मुक्त होती है। यहां पर ध्यातव्य है कि यह कला का उद्देश्य है न कि कलाकृति का। कला को जब वाणी में बांधने का उपक्रम किया जाता है तब वह सामाजिक नियमों के घेरे में बंध जाती है।
10. कला का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता अर्थात उसे उपमादि अलंकारों या स्वभावोक्ति, रसोक्ति, वक्रोक्ति जैसी उक्तियों या दृश्य, प्रकरण परिच्छेद जैसे अध्यायों में विभक्त करना उचित नहीं। इससे कला की हानि होती है। एक स्थल पर क्रोचे कहते हैं कि मान लीजिए आप अलंकार की बात कहते हैं। वह अलंकार कहां से आया? यदि 'बाहर से' तो वह उक्ति का अंग नहीं हो सकता। यदि आप कहें 'अंदर से' तो उक्ति पृथक उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। अतः कला के क्षेत्र में अलंकारादि की बात करना व्यर्थ है।
11. क्रोचे उक्ति वैचित्र्य को महत्व नहीं देता। उसका स्पष्ट कथन है कि अभिव्यक्ति एक आत्मिक आवश्यकता है यह कोई कौतुहल या कल्पना-प्रवणता नहीं। वस्तुतः अभिव्यक्ति आत्मिक स्फूर्ति का नाम है जो एक सही मार्ग है।
12. क्रोचे सौंदर्य को विषयगत न मानकर उसे विषयीगत मानते हैं। काव्यशास्त्र की भाषा में यह कहा जा सकता है कि क्रोचे सौंदर्य को वस्तुनिष्ठ न मानकर व्यक्तिनिष्ठ मानते हैं। दूसरे वे वस्तुगत सौंदर्य को कल्पनाजन्य कहते हैं।
13. क्रोचे का यह भी कथन है कि कवि या लेखक जिस प्रभाव को ग्रहण करता है, उसी की अभिव्यक्ति करता है। अतः किसी कलाकार की कृति का मूल्यांकन उसकी अभिव्यंजना के आधार पर किया जाना चाहिए और यह देखना चाहिए कि उसने (कलाकार) अपने प्राप्त प्रभाव या छाप के अनुकूल अभिव्यक्ति की अथवा नहीं। विषय-वस्तु की अच्छाई और बुराई के लिए कलाकार दोषी नहीं अपितु समाज है जिससे उसने प्रभाव ग्रहण किया है।

उपरोक्त बिंदु क्रोचे के प्रमुख सिद्धांत हैं जिनके आधार पर ही कुंतक के वक्रोक्तिवाद की तुलना क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के साथ की जा सकती है। इस तुलना को लेकर हिंदी आलोचक मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित हैं। एक वर्ग जिसके प्रवर्तक आचार्य शुक्ल हैं, का कथन है कि वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद में कोई अंतर नहीं है। वस्तुतः अभिव्यंजनावाद वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान है। दूसरा वर्ग वह है जिसके संस्थापक डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु कहे जा सकते हैं जो वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद को सात्विक दृष्टि से भिन्न मानते हैं।

आचार्य शुक्ल का मंतव्य है कि अभिव्यंजनावाद वक्रोक्तिवाद का ही एक पाश्चात्य संस्करण है, यथा–क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान है। (शुक्ल जी का इंदौर वाला भाषण) इस आधार पर आचार्य शुक्ल ने दोनों ही सिद्धांतों

की आलोचना की है। वे कहते हैं कि अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद विषयवस्तु की अपेक्षा पदरचना को महत्व देते हैं अतः दोनों को ही काव्योपयोगी नहीं कहा जा सकता।

कला या काव्य में अभिव्यंजनावाद ही सब कुछ है, जिसकी अभिव्यंजना की जाती है वह कुछ नहीं है। इस मत के प्रवर्तक इटली के क्रोचे महोदय हैं। अभिव्यंजनावादियों के अनुसार जिस रूप में अभिव्यंजना होती है उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार काव्य में अनावश्यक है।

सौंदर्य से उसका (क्रोचे) तात्पर्य केवल अभिव्यंजना के सौंदर्य से है, किसी प्रस्तुत वस्तु के सौंदर्य से नहीं। किसी प्रस्तुत या वास्तविक वस्तु में सौंदर्य कहां? क्रोचे तो कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति में कहीं कोई सौंदर्य नहीं मानते।

उपर्युक्त दोनों ही आशयों का प्रो. गुलाबराय ने खंडन किया है और स्पष्ट किया है कि क्रोचे ने अभिव्यंजना में सौंदर्य माना है किंतु वस्तु की उपेक्षा नहीं की है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'कवि के पास कुछ कहने के लिए निश्चित वस्तु सामग्री होनी चाहिए। उसके बिना केवल वाग्जाल कवि के आंतरिक खोखलेपन का परिचायक होता है।'

उधर कुंतक भी वस्तु की उपेक्षा नहीं करते अपितु यह कहना चाहिए कि कुंतक पहले अलंकारवादी आचार्य हैं जिसने अलंकार और अलंकार्य के भेद को माना है। यह दूसरी बात है कि वे इस भेद को तात्विक दृष्टि से स्वीकार नहीं करते। कुंतक क्रोचे के समान ही उक्ति को अखंड मानते हैं किंतु व्यावहारिक दृष्टि से वे वस्तु और रचना में भेद स्थापित करते हैं। इस दृष्टि से कुंतक और क्रोचे में साम्य है और आचार्य शुक्ल अपने मंतव्य में सही है कि अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद समान है किंतु इस बात में आचार्य शुक्ल सही नहीं है कि दोनों ही वादों में वस्तु तत्व की उपेक्षा की है। हां! क्रोचे ने इसे गौण माना है। कुंतक ने भी 'सालंकारस्य काव्यता' कह कर वस्तु तत्व को महत्व नहीं दिया किंतु विवेचन में मुख्यतः वस्तु वक्रता और प्रबंध वक्रता जैसे वक्रोक्ति के भेदों के विवेचन में वस्तु तत्व को पूर्णतः प्रतिष्ठित किया है। उधर रसवदादि अलंकारों की अस्वीकृति में भी वस्तु तत्व की स्वीकृति ही व्यंजित होती है।

दूसरी ओर आचार्य शुक्ल दोनों ही वादों की इस रूप में भी समानता देखते हैं कि दोनों ही वाद 'वैचित्र्य' को प्रमुखता देते हैं। आचार्य शुक्ल केवल वैचित्र्य को काव्य का उद्देश्य नहीं मानते। उनके अनुसार तो वैचित्र्य काव्य को मनोरंजन का सस्ता साधन बना देता है। इस आधार पर आचार्य शुक्ल दोनों ही वादों को आड़े हाथों लेते हैं– इससे जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य मानते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूंढा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। परंतु काव्य का लक्ष्य निश्चय ही कहीं गंभीर तथा उदात्त है और जो लोग इससे ऊंचा और गंभीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते।

उपर्युक्त पंक्तियों से निस्संदेह वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद की समानता प्रकट होती है। आचार्य शुक्ल के विपरीत डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने दोनों वादों की समानता को अस्वीकार किया है। उनका कहना है कि दोनों वादों को समान मानना उचित नहीं है। उनके

मत में दोनों की प्रकृति में ही भेद है। वक्रोक्ति का अलंकार से घनिष्ठ संबंध है जबकि अभिव्यंजनावादी अलंकार के स्वतंत्र अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते। वक्रोक्ति में अलंकार सहगामी है, अभिव्यंजना में अनुगामी। अभिव्यंजना में स्वभावोक्ति का भी मान है, परंतु वक्रोक्ति में उसके लिए कोई स्थान नहीं है।

वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद में साम्य

(1) दोनों ही वाद अभिव्यंजना को महत्व देते हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि क्रोचे सफल अभिव्यक्ति या केवल अभिव्यक्ति को काव्य की आत्मा मानता है तो कुंतक भी 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' को अर्थात वक्रोक्ति को 'काव्य-जीवित' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। कुंतक की 'भणिति' या वक्रोक्ति में और क्रोचे की अभिव्यक्ति में काव्य के समस्त रूपों या कवि-व्यापार को समेटने का सफल प्रयास किया गया है।

(2) दोनों ही वाद काव्य में कल्पना तत्व को अत्यधिक प्रमुखता प्रदान करते हैं। क्रोचे ने तो कल्पना शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया है क्योंकि क्रोचे के अनुसार कल्पना के आधार के बिना सहजानुभूति या अभिव्यक्ति सौंदर्य का रूप धारण नहीं कर सकती।

(3) दोनों ही वाद तात्विक दृष्टि से उक्ति या अभिव्यंजना को अखंड मानते हैं। क्रोचे तो यहां तक कह जाता है कि कला के विभाजन से संबंध रखने वाली सारी पुस्तकें यदि जला दी जाएं तो कोई हानि नहीं होगी। उधर कुंतक का कहना है कि तात्विक दृष्टि से उक्ति अखंड होती है किंतु व्यावहारिक दृष्टि से उसे अलंकार एवं अलंकार्य में विभाजित किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। 'अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः' अर्थात अन्यून, अनतिरिक्त का भाव दोनों में समान रूप से स्थित है।

(4) दोनों ही विचारधाराएं सौंदर्य की श्रेणियां नहीं मानती। इनके अनुसार सौंदर्य के सुंदरतर या सुंदरतम रूप नहीं होते। कुंतक भी मार्गों के विवेचन में इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं, जैसे–न च रीतिनाम् उत्तमाधम–मध्यम–भेदेन त्रैविध्यम् व्यवस्थापयितुम् न्याय्यम्।

वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का वैषम्य

1. दार्शनिक होने के नाते क्रोचे काव्य के वर्गीकरण को अस्वीकार करते हैं और कला को अविभाज्य मानते हुए अलंकारों के अस्तित्व को ही अस्वीकार करते हैं उधर कुंतक के सिद्धांत का उदय ही अलंकार शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में हुआ है। 'सालंकारस्य काव्यता' ही उसके सिद्धांत का मूलभूत तत्व है। उसने तो अपने ग्रंथ या सिद्धांत का प्रणयन ही लोकोत्तर चमत्कारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिए ही किया है, जैसे–लोकोत्तर चमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये। अतः दोनों ही वादों में यह मूलभूत अंतर है।

2. क्रोचे अभिव्यक्ति को अर्थात आंतरिक अभिव्यक्ति को, जिसे वह सहजानुभूति कहता है, काव्य की आत्मा सिद्ध करता है जबकि कुंतक वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानता है। इस आधार पर दोनों में ही समानता प्रतीत होती है किंतु इनके मूल में

वैषम्य निहित है, वह यह कि कुंतक की वक्रोक्ति का अंत:प्रेरक तत्व कवि-व्यापार है जो क्रोचे की तुलना में अधिक व्यापक है। दूसरे, क्रोचे केवल आंतरिक अभिव्यक्ति को ही कला मानता है। बाह्य अभिव्यक्ति को कवि की इच्छा पर छोड़ देता है कि वह चाहे तो उसे साकार रूप प्रदान करे और चाहे तो न करे, जबकि कुंतक बाह्य अभिव्यक्ति को ही कला का पूर्ण रूप मानता है। कुंतक के अनुसार जब तक उसको शब्दार्थ में नहीं बांधा जाता तब तक तो उसका रूप ही प्रस्तुत नहीं होता। मूर्त आकार धारण कर के ही यह काव्य रूप में ग्राह्य होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कुंतक 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' को काव्य मानता है जबकि क्रोचे आंतरिक अभिव्यक्ति या स्वयं प्रकाश्य ज्ञान अथवा सहजानुभूति को काव्य की आत्मा मानता है।

3. क्रोचे उक्ति को सर्वस्व मानते हुए उसके भेदोपभेदों की स्वीकृति प्रदान नहीं करता। उसके यहां उक्ति के वक्र, ऋजु या वार्ता जैसा कोई भेद नहीं है। उनकी दृष्टि में उक्ति उक्ति ही होती है और प्रत्येक उक्ति अपने आप में स्वतंत्र होती है। इसके विपरीत कुंतक स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति जैसी दो प्रकार की उक्तियों को तो स्वीकार करता ही है साथ ही 'वार्ता' को भी मानता है किंतु इस 'वार्ता' को स्वीकृति तो क्रोचे में भी मिलती है। उसे चाहे वह कुरूप अभिव्यक्ति या असफल अभिव्यक्ति ही क्यों न कहे किंतु क्रोचे काव्य में स्वभावोक्ति या अलंकार्य जैसे किसी भेद को स्वीकार नहीं करता है। अलंकार के परिप्रेक्ष्य में उसने स्पष्ट कहा है कि यदि अलंकार बाहर से आता है तो वह उक्ति अंग नहीं हो सकता और यदि अंदर से आता है तो वह उक्ति को या तो हानि पहुंचाएगा या फिर उसका (उक्ति का) ही एक अंग होगा। अत: स्पष्ट है कि 'उक्ति' के विवेचन में दोनों में मौलिक भेद है। कुंतक अलंकार्य को स्वीकार करता है किंतु क्रोचे के यहां अलंकार और अलंकार्य जैसा कोई भेद नहीं है।

4. क्रोचे अभिव्यंजना को ही अभिव्यंजना या काव्य का उद्देश्य मानता है। उसके अनुसार यदि कोई कवि सही अभिव्यंजना कर देता है तो उसका उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। इसके विपरीत कुंतक आह्लादकत्व को काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन मानता है। कुंतक के अनुसार काव्य की रमणीयता उसके सहृदय आह्लादकारित्व में ही निहित है, जैसे–'अर्थ: सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दर:' अथवा–

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

इस तरह एक प्रकार से कुंतक की वक्रता रस में समन्वित हो जाती है। काव्य के स्वरूप विवेचन में भी कुंतक ने 'तद्विदाह्लादकरिणि' कह कर काव्य का सर्वोपरि उद्देश्य आल्हादकत्व को ही माना है।

5. वस्तुतत्व की दृष्टि से भी दोनों वादों में पर्याप्त मात्रा में वैषम्य प्रतीत होता है। क्रोचे और कुंतक दोनों ही यद्यपि वस्तु तत्व को गौण स्थान देते हैं किंतु कुंतक क्रोचे की तुलना में वस्तुतत्व को कहीं अधिक महत्व देते हैं।

2.6 औचित्य सिद्धांत : स्वरूप एवं मूल स्थापनाएं

'औचित्य' काव्यशास्त्रीय सिद्धांत होने से पहले एक सामाजिक मूल्य है। यह जीवन और काव्य पर समान रूप से लागू होता है। दोनों की सार्थकता, सफलता और सुंदरता के लिए यह समान रूप से महत्वपूर्ण है। आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी कहते हैं-"औचित्य या मूल्य वह तत्व है जो जीवन और काव्य के भेद को समाप्त करता है वह काव्येतर होकर भी काव्य का है।" काव्य में औचित्य को रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन माना गया है। काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए या उत्तम काव्य की सृष्टि के लिए काव्य में औचित्य का होना आवश्यक है। अनौचित्य से काव्य अकाव्य तो नहीं होता लेकिन अधम काव्य की कोटि में पहुंच जाता है तथा अपने मूल प्रयोजनों जैसे आनंद प्रदान करना, लोकमंगल आदि से दूर हट जाता है। ठीक वैसे ही जैसे जीवन में अनौचित्य उसे असुंदर, अनैतिक, असामाजिक, कटुता और दानवी प्रवृत्तियों की ओर ले जाकर बेढंगा, बेडौल और बेरंग बना देता है। अतः औचित्य को ही सरस काव्य और सार्थक जीवन का, उत्तम काव्य और सुंदर जीवन का स्थिर जीवन तत्व माना जा सकता है।

2.6.1 औचित्य का स्वरूप

जो जिसके अनुरूप हो उसे हम उचित कहेंगे। उचित का यह भाव ही औचित्य है। यह परिभाषा क्षेमेंद्र की है-

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते। *-'औचित्य विचार चर्चा'*

आचार्य क्षेमेंद्र औचित्य के प्रवर्तक माने जाते हैं किंतु उन्हें इस तत्व का व्यवस्थापक मानना ज्यादा उचित होगा। भरतमुनि से लेकर अनेक परवर्ती आचार्यों ने औचित्य का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख किया है। भरतमुनि नाट्यशास्त्र में अनेक बार रसोपयोगी नाट्य सामग्री के संचयन के लिए लोक-प्रमाण की बात कहते हैं-

लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते॥

अर्थात-'लोकानुकरण' एवं 'लोकस्वभावज' ही नाटक है। लोक स्वभाव का अतिक्रमण करना अनुचित है। अनुचित सामग्री से रस निष्पत्ति नहीं हो सकती। अतः इस अनौचित्य से बचने के लिए लोक स्वभाव का अनुकरण ही उचित है। पंडितराज जगन्नाथ ने शब्द शक्ति मूल ध्वनि के प्रसंग में अभिधा नियात्मक तत्वों की चर्चा करते हुए 'औचित्य' के लिए 'योग्यता' शब्द का उल्लेख किया है-**'योग्यता च युक्तमिदमित्ति लौकिक व्यवहारगोचरता।' अर्थात औचित्य का अर्थ है-योग्यता।** अर्थात औचित्य का अर्थ है-योग्यता। और योग्यता का निर्धारण लोक व्यवहार से होता है। लोक जिसे युक्त कहे वह योग्य अथवा उचित है। पंडितराज ने विषमालंकार में 'अनुरूप' शब्द का प्रयोग किया है। योग्यता, अनुरूपता, औचित्य परस्पर एक दूसरे के पर्याय होते हैं। भरतमुनि ने भी 'अनुरूप' का प्रयोग किया है-

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं, पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च॥

अर्थात, नाट्य में औचित्य का निर्वाह करने के लिए यह आवश्यक है कि वय के अनुरूप वेश हो और वेश के अनुरूप चाल-ढाल हो। चाल-ढाल के अनुरूप बोलचाल हो और बोलचाल के अनुरूप अभिनय। यहां बड़े ही सुस्पष्ट रूप से औचित्य सिद्धांत का बीज मिल जाता है। यहां औचित्य का निर्धारक लोक को माना गया है। औचित्य से ही जीवन और काव्य में रस सिद्ध होता है। इसलिए औचित्य को रस का परा-उपनिषद कहा जाता है। क्षेमेंद्र ने औचित्य का स्वरूप बताते हुए कहा–'**सदृशं किल यस्य यत्**' अर्थात जो जिसके सदृश हो। भरतमुनि ने यही बात अपने नाट्य के संदर्भ में कही। जैसे–

विन्यासं भूमिकानां तु संप्रवक्ष्यामि नाटके।
यादृश्यो यस्य कर्तव्या विन्यासे भूमिकास्ततः॥

अर्थात जैसी भूमिका जिसके लिए होनी चाहिए तथा जैसी चेष्टा जिसके लिए होनी चाहिए वैसी ही हो। इससे औचित्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। देखा जाए तो भरतमुनि ही इस सिद्धांत के आद्य उद्भावक कहे जा सकते हैं। उन्होंने औचित्य का स्वरूप निर्धारण करने के साथ ही उसके निर्धारण के लिए लोक तथा अध्यात्म प्रमाण की बात भी कही। औचित्य का विचार क्षेत्र व्यापक है। रीति एवं अलंकार संप्रदाय वाले औचित्य का चिंतन 'चारुता' या 'सौंदर्य' के संपादन की दृष्टि से देखते हैं–'**न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्। वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।** काव्यालंकार–**भामह। काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौंदर्यमलंकारः**–काव्यालंकार सूत्र।'

यह अवश्य था कि यह 'सौंदर्य' और 'चारुता' बाहरी अधिक थी भीतरी कम। कहीं न्याय, कहीं युक्तता आदि अनेक रूपों में औचित्य का विस्तार अनंत था और है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। प्रत्येक समाज के नियम होते हैं, साथ ही मानव मूल्य भी। मानव मूल्य ही हमें मनुष्यता की कसौटी पर कसते हैं। यदि मानव देह धारण कर हमारे आचरण पशुवत होंगे, हमारे भीतर करुणा, परोपकार, प्रेम, सत्य, त्याग, अहिंसा के विरुद्ध हिंसा, स्वार्थ, लालच, छल-कपट होगा तो यह मानव मूल्यों की कसौटी के लिए गलत, अनुचित, व अयोग्य होगा। इसी कारण काव्य में रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, लय, कल्पना, कोमलता, आनंद और लोकमंगल के भाव और लक्षण न हों तो वह काव्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरेगा, जो अनुचित होगा। इस तरह देखा जाए तो सारी सृष्टि, मानव और साहित्य औचित्य की सीमा में है। इस तरह औचित्य सिद्धांत का स्वरूप न केवल व्यापक है बल्कि इसका चिंतन और इसके प्रति सतर्कता सदैव प्रासंगिक बनी रहेगी। क्योंकि इसके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं रहेगा, काव्य, काव्य नहीं रहेगा। न अलंकार, अलंकार कहा जाएगा, न गुण गुणों की तरह लगेंगे। कहा भी गया है–

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबंधनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येणाप्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्।
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः॥

अर्थात कंठ में मेखला, कटि में चंचलहार, हाथों में नूपुर और पैरों में केयूर पहनने से तथा शौर्य में उद्दंड शत्रु पर करुणा करने से कौन व्यक्ति उपहास्यापद नहीं होता। औचित्य के

बिना न अलंकार ही रुचिता पा सकते हैं न गुण ही। वस्तुतः क्षेमेंद्र कश्मीरी थे और साहित्य के क्षेत्र में इनके गुरु अभिनव गुप्त थे। अभिनव गुप्त का कहना है कि रसमर्मज्ञ निरपेक्ष औचित्य विचार का कोई अर्थ नहीं है। औचित्य एक सापेक्ष वस्तु तत्व है। अतः देश, काल, व्यक्ति, वस्तु तथा लक्ष्य की दृष्टि से ही परिवर्तनशील औचित्य का विचार किया जा सकता है। विभिन्न आचार्यों ने 'उचित' का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा कि 'जहां जो जंच जाए', वही वहां उचित है। 'औचित्य' का महत्व है किंतु यह साध्य नहीं, साधन है। 'रस' ही साध्य है व काव्य की आत्मा है और औचित्य इस आत्मा की भी आत्मा है।

2.6.2 औचित्य की प्रमुख स्थापनाएं

औचित्य सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेंद्र कहते हैं कि औचित्य ही काव्य की आत्मा है। क्योंकि काव्य की आत्मा रस है तो रस में रसत्व औचित्य के द्वारा ही उत्पन्न होता है। औचित्य काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है–

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥ *औ.वि.च.–श्लोक-3*

वे रस के महत्व को अस्वीकार नहीं करते–

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रस-सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥ *औ.वि.च.–श्लोक-5*

अलंकार, अलंकार ही है और गुण, गुण ही। लेकिन रससिद्ध शरीर में जिस प्रकार जीवन स्थिर होता है उसी प्रकार रससिद्ध काव्य में स्थिर जीवित औचित्य ही है। अर्थात औचित्य के बिना रस प्राणहीन है। सभी आचार्य औचित्य की महत्ता को स्वीकार करते हैं तथा अलग-अलग शब्दों में औचित्य की पक्षधरता करते हैं। भामह ने औचित्य के लिए 'न्याय' और 'युक्तता' जैसे पर्यायों का प्रयोग किया–

युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।
अलंकार वदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्॥

यहां 'न्याय्य' शब्द तर्कसंगत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो तर्कसंगत है वह उचित भी होगा। इस दृष्टि से यहां यह औचित्य का पर्याय माना जा सकता है। भामह दोषों की चर्चा भी करते हैं फिर उन दोषों को अदोष बनाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वे कहते हैं–उचित सन्निवेश से दोष भी अदोष बन जाते हैं, जैसे–काजल एकदम काला है लेकिन आंखों का साहचर्य पाकर आकर्षक हो जाता है। जैसे सुंदर पुष्पों की माला के बीच-बीच गुंथा हुआ नील पलाश भी रुचिर जान पड़ता है–

सन्निवेशविशेषान्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव॥

भामह के पश्चात दंडी ने दोषों के माध्यम से अनौचित्य और औचित्य पर प्रकाश डाला है। दोषों का निवारण होते ही सौंदर्य का निष्पादन होता है। अतः यह माना जाए कि दंडी ने निषेधमुखी पक्ष से औचित्य पर विचार किया है–

'आसीत् काचिदवस्था या साऽभिषंगस्य चेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थाऽपि भारती।

अर्थात चित्त की एक ऐसी भी स्थिति होती है कि जिससे विरुद्धार्थ वाणी भी मन के अनुकूल सुंदर और सुखद लगने लगती है। यहां अनौचित्य (दोष) के निवारण में ग्राहक की मन:स्थिति को भी कारण बताया गया है। दंडी कहते हैं- कवि काव्य में इन दोषों का औचित्य देखते हुए जान बूझ कर इनका प्रयोग करता है तो वहां ये दोष गुण बन जाते हैं।-

विरोध: सकलोऽप्येष कदाचित्कविकौशलात्।
उत्क्रम्य तोषगणानां गुणवीथीं विगाहते॥

दंडी काव्यादर्श में ही औचित्य को दर्शाने वाली श्रेष्ठ बात कहते हैं-

व्युत्पन्नबुद्धिरमना विधिदर्शितेन, मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तनीभि:।
वाग्भि: कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभि:, धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम्॥

अर्थात व्युत्पन्न लोग यदि उपर्युक्त विधिदर्शित मार्ग से दोष गुण के कूलों में प्रवाहित होने वाली वाग्सरिता की धारा से चलें, तो वे लोग मदिरेक्षणा के साथ रमण करने वाले ध न्य युवा की तरह भाव में रमण भी करें और यश भी प्राप्त करें। यहां विधिदर्शित मार्ग को समुचित मार्ग कहा जा सकता है उसी भाव से जिस भाव से भरत ने 'अनुरूपता' और भामह ने 'न्याय्य' कहा।

आनंदवर्धन ने भी अपने तरीके से 'औचित्य' की प्रतिष्ठा बढ़ाई है। वे कहते हैं-

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये न सूचिता:।
ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे ते हेया इत्युदीरिता:॥ *ध्वन्यालो॥* 12/5

अर्थात श्रुतिदुष्ट आदि दोष शृंगार रस में हेय होने के कारण दोष हैं परंतु वीर तथा रौद्र रस में अनुकूल होने के कारण वर्जनीय न होकर वांछनीय हो जाते हैं। काव्य में औचित्य का महत्व बताते हुए यशोवर्मा लिखते हैं-

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्रपात्रोचिता,
पुष्टि: स्वावसरे रसस्य च, कथामार्गे न चातिक्रम:॥
शुद्धि: प्रस्तुतसंविधानकविधौ, प्रौढिश्च शब्दार्थयो:,
विद्वद्भि: परिभाव्यतामविहितै: वहितै: एतावदेवास्तु न:।

अर्थात वाणी का औचित्य 'प्रकृति' के स्वभाव को ध्यान में रखने पर आता है। प्रकृति उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकार की होती है। स्वभाव के अनुरूप ही वचनविन्यास प्रशंसा के योग्य होता है। रस की विभावादि सामग्री द्वारा पुष्टि, पात्र को ध्यान में रखकर होनी चाहिए। भीरू में उत्साह का, वीर में भय का प्रदर्शन सर्वथा अनुचित है। पात्र के अतिरिक्त अवसर का ध्यान न रखने पर भी औचित्य का अतिक्रमण हो जाता है। वेणीसंहार में दुर्योधन तब अपनी स्त्री के साथ तब हास-विलास कर रहा है, जब संग्राम अपनी चरम-सीमा पर है, यह अवसर की दृष्टि से अनुचित है।

भट्टलोल्लट रसवादी आचार्य हैं। वे रसौचित्य के संबंध में लिखते हैं-

मज्जनपुष्पावचयसंध्याचंद्रोदयादि वाक्यमिह।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसान्वितं रचयेत्॥

अर्थात काव्य में या महाकाव्य में वर्णन महत्वपूर्ण होता है, किंतु वर्णन करने वाले को रस की सीमा का ध्यान रखते हुए रस निष्पादन के लिए वर्णन करना चाहिए। वर्णन में रस का अतिरेकी वर्णन न हो जाए। तथा वस्तु और प्रकृति के अनुकूल रस का वर्णन होना चाहिए

जैसे–मज्जन, पुष्प संचयन, संध्या, प्रातः आदि का वर्णन प्रकृति रस को ध्यान में रखकर करना चाहिए वरना अनौचित्य उत्पन्न हो जाता है जो रसभंग का सबसे बड़ा कारण है। इस संबंध में वेद वाक्य है–

अनौचित्यात् ऋते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

अनेक आचार्यों ने औचित्य को स्पष्ट न कह कर उसके पर्याय शब्दों का या दोषों के माध्यम से उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया। रुद्रट सीधे 'अनौचित्य' की बात करते हैं–

अनौचित्य प्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बंध ऊर्जस्वि कथ्यते॥ *काव्यालंकार सार संग्रह*

अर्थात काम एवं क्रोध आदि के कारण अनुचित ढंग से प्रवृत्त भाव एवं रस के बंध को ऊर्जस्वि कहते हैं। उद्भट के कथन का तात्पर्य है कि जब रस एवं भाव का उपनिबंध उचित रीति से होता है तो रस एवं भाव की स्थिति होती है जिसको टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने शास्त्र सम्मत मानते हुए **प्रेयोलंकार** तथा **रसवदलंकार** की स्थिति मानी है। लेकिन जहां भाव एवं रस का उपनिबंध अनुचित ढंग से यानी शास्त्र विरोधी होता है वहां **ऊर्जस्वित्** काव्य होता है। यहां उचित और अनुचित के माध्यम से औचित्य के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। अंत में कुंतक द्वारा 'साहित्य' शब्द की औचित्य-गर्भ-व्याख्या पर दृष्टि डालें–

वृत्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्। स्पर्द्धया विद्यते यत्र यथस्वमुभयोरपि।
स काव्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पंदसुन्दरा। पदादिवाक्परिस्पंदसारःसाहित्यमुच्यते॥

अर्थात वृत्तियों के औचित्यवश जहां रसों का मनोहारी परिपोषण हो, इस कार्य के लिए जहां शब्द और अर्थ बराबरी से बढ़-चढ़ कर योगदान करें वहां साहित्य, साहित्य होता है। शब्दार्थ की विलक्षण स्थिति जो सहृदयों के आनंद देने वाली प्रक्रिया से सुंदर और सरस हो साहित्य कही जाती है। परिस्पंद यानी व्यापार विशेष के ही कारण पद, वाक्य तथा प्रमाण से साहित्य मनोहर, रसमय तथा सार्थक हो जाता है। अन्य सिद्धांतों के अनुयायियों ने भी औचित्य की स्थापना अपने-अपने तरीके से की। अग्निपुराण में भी इसके बीज मिलते हैं। औचित्य कहां-कहां, किस-किस कारण से अनौचित्य में बदल सकता है, इस बात को दृष्टिगत रखते हुए इस सर्वमान्य एवं महत्वपूर्ण 'औचित्य' के भेद किए।

2.6.3 औचित्य के भेद

क्षेमेंद्र ने औचित्य के 27 भेदों की चर्चा की है–(1) पद (2) वाक्य (3) प्रबंधार्थ (4) गुण (5) अलंकार (6) रस (7) क्रिया (8) कारक (9) लिंग (10) वचन (11) विशेषण (12) उपसर्ग (13) निपात (14) काल (15) देश (16) कुल (17) व्रत (18) तत्व (19) सत्व (20) अभिप्राय (21) स्वभाव (22) सारसंग्रह (23) प्रतिभा (24) अवस्था (25) विचार (26) नाम (27) आशीर्वाद।

इन 27 स्थानों पर औचित्य की स्थिति है जहां असावधानी से अनौचित्य उत्पन्न हो सकता है जिससे काव्य में रसभंग की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और काव्य अपनी उत्तमता खो सकता है। कुछ प्रकारों को उदाहरण सहित देखिए–

(1) **पदौचित्य**–जब सारी कोमलता एवं स्निग्धता सिमट कर एक ही पद में आ जाती है तब पदौचित्य होता है क्योंकि तब यह पद कविता कामिनी की शोभा का मुख्य बिंदु बन जाता है और वैसे ही शोभा देता है जैसे चंद्रमुखी के माथे पर लगी चंदन कस्तूरी की बिंदी।

मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्गधाराकुले,
नाथाऽस्मिन्निति वन्दिवाचि बहुशो देव श्रुतायां पुरा।
मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः,
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ॥

'हे देव! चारणों से मैं कब की सुनती आ रही हूं कि तुम्हारे इस खड्ग की धारा में न जाने शत्रु के कितने कुल डूब मरे।' यह कहती हुई मुग्धा गुर्जरराज की पत्नी प्यास मिटाने की आशा से जंगल में चकित होकर उसी कृपाण-धारा की ओर देखती रही–देखती रही। इस पूरे श्लोक का सौंदर्य 'मुग्धा' (भोली) पद में समाया हुआ है।

(2) **वाक्यौचित्य**–एक पद के स्थान पर यदि सारे के सारे पद ही वाक्य की संगति में एक-दूसरे से बढ़कर सौंदर्य उत्पादन की होड़ में लग जाएं, तब एकाधिक पदों की यह विशेषता होने के कारण वाक्यौचित्य होता है। क्षेमेंद्र का एक पद देखें–

देवो दयावान् विजयो जितात्मा यमौ मनः संयममाननीयौ।
इति ब्रुवाणः स्वभुजं प्रमार्ष्टि यः कीचकाऽकालिककालदण्डम्॥
धीरः स किर्मीरजटासुरारिः कुबेरशौर्यप्रशमोपदेष्टा।
दृष्टो हिडिम्बादयितः कुरूणां पर्यन्तरेखागणनाकृतान्तः॥

अर्थात युधिष्ठिर दयामय है, अर्जुन वशी है, नकुल और सहदेव के संयम का तो कहना ही क्या? ऐसा कहते हुए जिस भीम ने कीचक के लिए अकाल काल दंड की सी अपनी भुजाओं पर हाथ फेरा है वहीं जटासुर विनाशक, कुबेर के शौर्य को शांति का उपदेश देने वाला, हिडिंबापति तथा कौरवों की अंतिम रेखा का काल भीम अब दिखाई पड़ा। यहां प्रत्येक पद मार्मिकता के साथ पात्र के धीर और उदात्त स्वभाव तथा रौद्र रस की अभिव्यक्ति में एक दूसरे के साथ संबद्ध हैं।

(3) **प्रबंधौचित्य**–जहां समस्त प्रबंध में कुछ ऐसा अर्थ समाहित हो कि पूरा प्रबंध लहलहा उठे। सरस और सार्थक लगे वहां प्रबंधौचित्य होता है। कालिदास के मेघदूत का एक उदाहरण देखें–

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां,
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबंधुर्गतोऽहम्,
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा॥

यक्ष की उक्ति है–"मेघ! तुम पुष्करों तथा आवर्तकों के विश्व विश्रुत कुल में उत्पन्न हुए हो, तुम इंद्र के अपने खास व्यक्ति हो, चाहे जैसा रूप धारण कर सकते हो।

तुम्हारी इन्हीं विशेषताओं के कारण दैववश भाई बंधुओं से दूर हुआ मैं तुम्हारा याचक बना हुआ हूं। बात यह भी है कि अभिजात के समक्ष याचना करें और वह विफल भी हो जाए तो बात उतनी नहीं खटकती जितनी नीचों का याचक बनना, भले ही उनसे अपना मनोरथ पूरा हो जाए।" यहां यक्ष के द्वारा अपनी भावभीनी प्रशंसा सुनकर मेघ का आभिजात्य जाग उठता है, वह अपनी प्रशंसा से प्रसन्न होकर यक्ष की कथा सुनने के लिए रुक जाता है। यह इस प्रबंध में समाहित मार्मिक कथा का ही चमत्कार है। कवि की कल्पना ने प्रबंध को जीवंत बना दिया।

(4) **रसौचित्य**–क्षेमेंद्र कारिका 16 में लिखते हैं औचित्य के कारण सुंदर और आकर्षक रस विधान सबके हृदय में उसी तरह छा जाता है जैसे वसंत अशोक को खिला देता है। कालिदास का एक उदाहरण देखें–

बालेंदुवस्त्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलानि॥

अर्थात ढाक के लाल-लाल फूल अभी अविकसित हैं इसलिए दूज के चांद की तरह टेढ़े हैं। लगता है जैसे प्रिय वसंत के साथ समागम होने के कारण वनस्थली नायिकाओं के ये नखक्षत हैं। इस प्रसंग में आगे पार्वती और परमेश्वर के अभिलाष-शृंगार का वर्णन करने के लिए कालिदास ने इस प्रकृति का आधार लेकर पृष्ठभूमि तैयार की है जो रसौचित्य का श्रेष्ठ उदाहरण है।

(5) **अवस्थौचित्य**–अवस्थागत औचित्य का निर्वाह करने से काव्य-संसार में पूज्य हो जाता है, जैसे विचारों के निकष पर चढ़ने वाले विद्वानों के कर्तव्य। क्षेमेंद्र लिखते हैं–

मुक्तः कंदुकविभ्रमस्तरलता त्यक्तैवालोचिता,
मौग्ध्यं निर्धुतमाश्रिता गजगतिर्भ्रूलास्यमभ्यस्यते।
यन्मर्मोर्मिषु निर्मितं मृगदृशा वैदग्ध्यदिव्यं वचः,
तद् विद्यः सुभगाभिमानलटमाभावे निबद्धो भरः।

अर्थात गेंद का खिलवाड़ अब खत्म हो गया, शैशवोचित बात व्यवहार भी न रहा, भोलापन पास नहीं फटकता, चाल हाथी जैसी हो गई है, भौंहों को नचाया जा रहा है और शृंगार क्रीड़ा में वह मृगनयनी जो बात बोलती है उनका ताप भीतर के गौरव को बढ़ा रहा है जिसमें वह सहयोगी है।

औचित्य संबंधी स्थापनाएं निरंतर विकास पाती रही हैं। पाश्चात्य विचारकों ने भी औचित्य पर चिंतन किया है। भारतीय विचारकों में डॉ. राघवन्, पं. महादेव शास्त्री, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, आचार्य रामचंद्र शुक्ल सभी ने अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। निष्कर्ष यही निकलता है कि औचित्य का निर्धारण लोक से होता है। काव्य में शास्त्र सम्मत और लोक सम्मत भी। जहां विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी 'सामाजिकता' को औचित्य और 'असामाजिकता' को अनौचित्य कहते हैं वहीं आचार्य शुक्ल भी नीतिशास्त्र के आधार पर इसका निर्धारण करते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं–साहित्य की चरितार्थता 'महाएकता' की अनुभूति करा देने में है, यदि ऐसा हो तो 'औचित्य' सिद्ध है। 'महाएकता' यानी 'विश्वबंधुत्व'। कुल मिलाकर शब्द जो भी हों, अर्थ यही है कि जो लोक सम्मत हो, लोक हितकारी हो, मानव मूल्य और साहित्यिक मूल्यों की कसौटी पर खरा उतरे, सकारात्मक ऊर्जा का अनुसंधान करे, वह औचित्य है।

निष्कर्ष-काव्य आत्मा का भोजन है। निर्दोष काव्य से आत्मा संतुष्ट होती है। पूर्ण मनुष्य चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करता है। आत्मा से नीचे उतरकर हम उदर की बात करें तो उस पर भी यही बात लागू होती है। सुस्वादिष्ट भोजन के लिए दाल, शाक आदि में नमक एवं मसालों का सही अनुपात होना आवश्यक है। यहां भी औचित्य की ही महत्वपूर्ण भूमिका है। वरना सारे मसालों की उपस्थिति निरर्थक हो जाती है। इसी तरह छोटे चेहरे पर पकौड़े जैसी बड़ी नाक अनुचित लगती है। जैसे-यह कहना कि **'यह गरीब दुखियारी थी अपने रेशमी आंचल से आंसू पोंछ रही थी'**, यहां गरीब के साथ रेशमी आंचल का प्रयोग अनुचित एवं अविश्वसनीय है।

अतः जो जहां ठीक लगे, उचित हो, योग्य हो, विश्वसनीय हो वहां औचित्य है। औचित्य काव्य का बहिरंग न होकर अत्यंत और नितांत गूढ़, अन्तरंग एवं सूक्ष्म तत्व है। इसीलिए विश्व के साहित्येतिहास में भारतीय साहित्य की यह महिमामण्डिनी देन 'औचित्य सिद्धांत' के रूप में स्थापित है। कवि जो रचना करता है और सहृदय जो आस्वादन करता है उसमें औचित्य का पक्ष अंतर्व्याप्त रहता है। यह साध्य नहीं है किंतु महत्वपूर्ण साधन है। रस न हो तो औचित्य किस पर आधारित होगा? ध्वनि और अलंकार, गुण और रीति, लोक व्यापार, व्यवहार, आचार सभी इसका आधार है। लेकिन रस इसका मुख्याधार है क्योंकि रस काव्य की आत्मा है और औचित्य अपनी विभिन्न धाराओं के साथ काव्य की आत्मा की आत्मा बनता है। संस्कृत काव्यशास्त्र की यह देन भारतीय काव्यशास्त्र की मूल्यवान धरोहर है।

गतिविधि

मनुष्य के जीवन में औचित्य के महत्व पर अपने मित्रों के साथ मिलकर एक परिचर्चा का आयोजन कीजिए।

क्या आप जानते हैं?

भामह का 'काव्यालंकार' अलंकार-शास्त्र की प्रथम उपलब्ध रचना है।

2.7 सारांश

अलंकार' का सामान्य अर्थ है–गहना या आभूषण जो देह की शोभा बढ़ाते हैं। काव्य के संदर्भ में भी इसे शोभा बढ़ाने वाले धर्म और तत्व के रूप में लिया जाता है। बाह्य तत्व के रूप में काव्य को अलंकृत करने वाले शब्दालंकार तथा धर्म के रूप में शब्द की आत्मा में निहित यानी अर्थ को अलंकृत करने वाले अर्थालंकार। काव्य की आत्मा 'रस' है या अन्य कोई लक्षण इस तर्क-वितर्क के आरंभिक दौर में सर्वप्रथम अलंकार सिद्धांत का जन्म हुआ। काव्य की आत्मा अलंकार है, ऐसा मत इसी सिद्धांत के अंतर्गत स्थिर हुआ। आचार्य भामह इस संप्रदाय के प्रवर्तक हैं। अलंकारवादियों ने अलंकार को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए अलंकार रहित रचना को काव्य मानने से इनकार किया है। सर्वप्रथम अलंकारों का क्रमबद्ध वैज्ञानिक विवेचन 'काव्यालंकार' में भामह ने किया। भामह ने अपने पूर्ववर्ती 'मेधाविन' के

उल्लेख किया है जिससे यह पता चलता है कि अलंकार परंपरा पहले से चली आ रही है। लेकिन 'मेधाविन' या किसी भी रचनाकार का अलंकार संबंधी कोई ग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण 'काव्यालंकार' को ही अलंकार संप्रदाय का प्रथम प्रामाणिक, उपयोगी और महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। दंडी ने काव्य-सौंदर्य के सभी तत्वों को अलंकार के अंतर्गत समाहित करने का प्रयास किया है। दंडी के अनुसार काव्य का विषयगत सौंदर्य सामान्य अलंकार का अंग है तो शैलीगत सौंदर्य विशेष अलंकार में समाहित हो जाता है। कुंतक के अनुसार काव्य न तो अलंकार है न अलंकार्य, बल्कि दोनों का समन्वित रूप ही काव्य है अर्थात सालंकार काव्य का ही काव्यत्व है।

आचार्य उद्भट का नाम भी अलंकारवादी आचार्यों में आता है। इन्होंने भामह के काव्यालंकार की टीका की तथा 'काव्यालंकार सार संग्रह' ग्रंथ की रचना की। इन्होंने गुण और अलंकार को अभिन्न माना। उद्भट अलंकार को काव्य का अभिन्न अंग मान कर चलते हैं और उनकी दृष्टि कुंतक की तरह की 'सालंकार काव्यता' को ही मान कर चलती है। दूसरी ओर वे गुण और अलंकार को काव्य में चारुता का द्योतक मानते हैं। जयदेव की दृष्टि में अलंकार से रहित उक्ति को काव्य मानना वैसा ही है जैसे अग्नि को उष्णता रहित मानना। ये पंक्तियां ही अलंकारों के प्रति जयदेव के अनुराग को स्पष्ट करने में पर्याप्त हैं।

जयदेव की दृष्टि में अलंकारों के बिना काव्य का काव्यत्व ही दांव पर लग जाता है और उसके अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण–'शब्दार्थावनलंकृती पुनः क्वापि'–का खंडन करते समय जयदेव ने कहा कि जो व्यक्ति अलंकार रहित काव्य को काव्य मानते हैं वे विद्वान अग्नि को भी उष्णता रहित क्यों नहीं मान लेते।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अलंकारों का सर्वप्रथम विवेचन हमें भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। भरत ने अपने ग्रंथ में 'उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक' इन चार अलंकारों का उल्लेख किया है। उपमा के पांच भेदों का उल्लेख भी भरत ने किया है तथा 'अन्य भेद भी हो सकते हैं' का संकेत भी दिया है। भरत के पश्चात भामह और दंडी ने अनेक अलंकारों को चिह्नित किया तथा उनके लक्षणों एवं उदाहरणों का विस्तार से विवेचन किया। इन्होंने अलंकारों की संख्या को चालीस तक पहुंचा दिया। इतना ही नहीं दंडी ने यमक के तीन सौ पंद्रह भेदों का भी उल्लेख किया है तथा उपमा के बत्तीस भेद बताए हैं। भामह की तुलना में दंडी ने अर्थालंकारों का विस्तार से विवेचन किया। अलंकार के भेद असंख्य हैं क्योंकि यह अंतर्बाह्य की शोभा को बढ़ाने वाला लक्षण है।

अलंकार सिद्धांत का काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण के रूप में विशेष महत्व है। रस तो काव्य की आत्मा है ही, औचित्य आत्मा की भी आत्मा है। लेकिन जहां तक वक्रोक्ति का प्रश्न है वह भी अलंकार है। यह शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों में सम्मिलित है। वक्रोक्ति यानी व्यंग्यार्थ व्यंजना, जो कि उत्तम ध्वनि है। इससे निर्मित काव्य उत्तम काव्य की श्रेणी में आता है। यह सत्य है कि अलंकार काव्य की आत्मा नहीं हो सकते, साध्य नहीं हो सकते। ये साधन मात्र है किंतु रस का सहयोगी हो सकता है। काव्य के लिए किसी आचार्य ने काव्य पुरुष कहा, किसी ने कविता कामिनी...। काव्य पुरुष हो या कविता कामिनी दोनों ही दृष्टियों से उनके लिए आत्मा रस है और अलंकार उनके शोभादायक धर्म हैं। काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए अलंकार का उपयोग किया जाता है यह उपयोगिता तो सिद्ध है ही इसके अतिरिक्त अलंकार काव्य का ऐसा लक्षण है जो इसे वक्रोक्ति और ध्वनि से भी

जोड़ता है। अलंकार सिद्धांत की उपयोगिता चमत्कृत एवं ध्वनि सिद्धांत को जानने के साथ-साथ पूरे काव्यशास्त्र की महिमा को जानने के लिए भी है। काव्यशास्त्र का यह महत्वपूर्ण सिद्धांत रस सिद्धांत की तरह ही शाश्वत है। रस आत्मा है। आत्मा को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए देह चाहिए। काव्य देह है तो उसके अंतर्गत में अलंकारों की उपस्थिति भी अनिवार्यत: रहेगी। गुण के रूप में मन को सजाने के लिए तथा बाह्य शोभा कारक धर्म के रूप में अलंकार महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते रहेंगे। अपने विविध प्रकार एवं गुणों व विशेषताओं के साथ अलंकारों ने भी दीर्घ यात्रा की है। ये रस के सदैव सहयात्री रहे हैं और रहेंगे।

रीति सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' नामक ग्रंथ लिखकर काव्यात्मा के प्रश्न पर चिंतन करते हुए लिखा–'रीतिरात्मा काव्यस्य' अर्थात रीति काव्य की आत्मा है। उन्होंने 'रीति' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा–'विशिष्टा पद रचना रीति:', अर्थात विशेष प्रकार की पद रचना का नाम रीति है। आधुनिक काल में काव्यशास्त्र के अंतर्गत 'शैली' शब्द का प्रयोग बहुतायत से हो रहा है। यह प्रयोग अंग्रेजी के 'स्टाइल' शब्द के पर्याय के रूप में हो रहा है। इधर 'रीति' शब्द के अनेक अर्थ निकाले गए हैं–'रीति एक शब्द योजना है।' 'रीति' वर्णन योजना है। 'रीति' अभिव्यंजना का नाम है। रीति काव्य की आत्मा है। आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के एक काल को 'रीतिकाल' कहा जो तत्कालीन पूरे कालखंड की साहित्य धारा और उसकी चिंतन दृष्टि को प्रकट करता हुआ एक काव्यशास्त्र का द्योतक है। 'रीति' व्यापक सिद्धांत है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह पदार्थ जो वस्तु तत्व एवं व्यक्ति तत्व को अपने में संजोए हुए है वह 'स्टाइल' है और हिंदी में 'स्टाइल' के लिए शैली शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्थात 'शैली' वस्तु तत्व और व्यक्ति तत्वों का समन्वित रूप है। इस लक्षण वाले पदार्थ को संस्कृत भाषा में 'रीति' कहा जाता है। स्वभाव की विस्तृत व्याख्या करने का गुण ही प्राचीन शैली को आधुनिक शैली का स्वरूप प्रदान करता है। भारतीय साहित्य में शैली और रीति दोनों भिन्न पदार्थ हैं। क्योंकि भारतीय काव्यशास्त्र का 'रीति' शब्द जो अपने प्रयोग में बहुत पीछे छूट गया है, वह आधुनिक 'शैली' का वाचक नहीं है। प्रवृत्ति के कारण 'रीति' शब्द का अर्थ संकुचित हो गया और वह वस्तु तत्व की प्रमुखता में रूढ़ हो गया है। आज के भारतीय काव्यशास्त्र में यह अंशत: ही व्यवहार्य है। जबकि 'शैली' शब्द 'अर्थ-विस्तार पाकर व्यक्ति तत्व की प्रमुखता में रूढ़ होकर भी विश्व साहित्य के 'स्टाइल' का वाचक बन गया है। व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ की दृष्टि से, अर्थ की व्यापकता की दृष्टि से तथा प्रयोग की दृष्टि से भी देखें तो 'शैली' और 'स्टाइल' की समान प्रसिद्धि एवं मान्यता है, रीति इनकी तुलना में स्थान नहीं बना पाती। हिंदी काव्यशास्त्र में रीति और शैली के प्रयोग पर ध्यान दें तो शैली अधिक सशक्त और व्यापक शब्द है। इसके स्थान पर 'रीति' को नहीं बिठाया जा सकता।

भारतीय काव्यशास्त्र में भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक प्राय: सभी आचार्यों ने गुणों की विवेचना की। गुणों के रूप, संख्या और स्थिति पर तर्क-वितर्क प्रस्तुत किए। भरतमुनि के अनुसार–दोषों का वैपरीत्य ही गुण है।वामन पहले आचार्य थे जिन्होंने गुणों को परिभाषित करते हुए कहा–'काव्य की शोभा के आधायक तत्वों को गुण कहते हैं जो रीति के माध्यम से काव्य की शोभा बढ़ाते हैं। गुण काव्य के नित्य धर्म होते हैं। अत: काव्य में इनकी स्थिति अनिवार्य है। भरत और दंडी की तरह वामन भी गुणों की संख्या दस ही निर्धारित करते हैं। वामन के अनुसार गुण दो प्रकार के होते हैं– शब्द गुण और अर्थ

गुण। वामन मानते हैं कि रस गुणों पर आश्रित होता है। दंडी भी रसों को गुणों पर आश्रित बताते हैं अंतर यह है कि दंडी कहते हैं, रस मात्रतः गुण के आश्रित होता है तथा वामन कहते हैं कि रस 'कांति' गुण के आश्रित होता है। आनंदवर्धन ने गुणों की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए उन्हें रसाश्रित मान कर रस के उपकारक धर्म बताया।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि 'रीति' काव्य का प्रमुख तत्व है। कुछ आचार्यों ने इसे अलंकार माना तो कुछ ने रस का उपकारक माना। 'रीति' काव्य की आत्मा नहीं है किंतु काव्यात्मा रस की निष्पत्ति में निश्चित रूप से इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। यह साध्य नहीं है किंतु महत्वपूर्ण साधन है। यह अभिव्यक्ति का माध्यम है लेकिन ऐसा माध्यम जो भावों को प्रभावित करता है। भाव यानी 'रस'। कहा जा सकता है कि 'रीति' सिद्धांत का काव्य में उच्च स्थान है'ध्वनि' को काव्य में रस के समकक्ष या रस के निकट या रस के निकटस्थ आत्मीय का स्थान दिया जाता रहा है। यह वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि और रसभावादि ध्वनि के रूप में काव्य में उपस्थित रहती है। व्यंग्य या व्यंजना के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया जाता है। व्यंग्य के रूप में ही ध्वनि को काव्य की आत्मा माना गया है। शब्द बोध की प्रक्रिया में सबसे पहले 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग वैय्याकरणों ने किया। आनंदवर्धन ने नवीं शताब्दी में ध्वन्यालोक ग्रंथ लिखा एवं घोषणा की कि 'ध्वनि काव्य की आत्मा है।' इसके पश्चात दसवीं, ग्यारहवीं शताब्दी में अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर 'लोचन' नामक टीका लिखी। यह मूल ग्रंथ से अधिक सशक्त और लोकप्रिय ध्वन्यालोक की पोषिका सिद्ध हुई। रसवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने रस और ध्वनि के अभिन्न संबंधों की स्थापना करते हुए कहा–'रस वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। काव्य का सर्वस्व रसध्वनि है और वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि भी अंततः रस ध्वनि का ही पोषण करती है। ध्वनि सिद्धांत का मूल आधार व्यंजना शक्ति है। व्यंग्य काव्य का प्राण है, ऐसा माना जाता है। इसी व्यंजना शक्ति के भेद, उपभेद के आधार पर ध्वनि के भेद किए गए हैं। ध्वनि सिद्धांत पहला ऐसा भारतीय काव्यशास्त्री सिद्धांत है जिसमें कल्पना तत्व को स्वीकार किया गया है। ध्वनिकार का यह प्रयत्न था कि ध्वनि सिद्धांत की स्थापना भी हो जाए तथा काव्य के अन्य अवयवों– रस, रीति, अलंकार, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य आदि का उसमें ठीक तरह से समावेश हो जाए। उन्होंने इन सभी अवयवों को व्यंग्य माना और व्यंग्य के कारण वे ध्वनि में अंतर्भुक्त हो गए।

वक्रोक्ति अर्थात टेढ़ा कथन। सामान्य कथन या सीधी बात हृदय को उतनी प्रभावित नहीं करती जितनी टेढ़ी बात। जब यह वक्रोक्ति काव्य में प्रयुक्त होती है तो काव्य में चमत्कार उत्पन्न कर देती है। सहृदय सामाजिक का हृदय आंदोलित हो उठता है। कथ्य अपने लक्ष्य तक पहुंच जाता है यानी तीर निशाने पर लगता है इसलिए अलंकार सिद्धांत के कुछ अनुयायी वक्रोक्ति को अलंकार के अंतर्गत परिगणित करते हैं तो ध्वनि सिद्धांत के अनुयायी इसे व्यंग्य-कथन या व्यंजना मानते हुए ध्वनि के अंतर्गत मानते हैं। वक्रोक्ति रस निष्पत्ति में सहायक हो सकती है लेकिन स्वयं (आत्मा) रस तुल्य नहीं हो सकती। यह साधन है साध्य नहीं है। वामन वक्रोक्ति को लक्षणा शक्ति का ही एक रूप मानते हैं तथा केवल अर्थ में उसकी उपस्थिति मानते हैं। वे कहते हैं सादृश्य लक्षणा ही वक्रोक्ति है। रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना और उसके दो भेद कर दिए–काकु वक्रोक्ति तथा श्लेष वक्रोक्ति। आनंदवर्धन ने वक्रोक्ति को विशेष अलंकार की संज्ञा देते हुए, भामह तथा दंडी की तरह वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति को अभिन्न मानने वाली अभिव्यंजना पाश्चात्य विद्वान चिंतक इटली निवासी बेनेदतो क्रोचे की देन है जो मूलतः एक दार्शनिक

थे। वक्रोक्तिवाद के संस्थापक भारतीय मनीषी कुंतक हैं जो मूलतः एक काव्यशास्त्री हैं। इन दोनों वादों पर विचार करते हुए ध्यान रखना चाहिए कि एक ओर दार्शनिक के विचार तो दूसरी ओर काव्यशास्त्री के विचार हैं। दर्शन में सिद्धांत पक्ष प्रबल होता है जबकि काव्यशास्त्र में सिद्धांत के साथ व्यावहारिक पक्ष भी महत्वपूर्ण होता है। इसलिए ये दोनों विवाद समानता रखते हुए भी वैचारिक दृष्टिकोण से भिन्न प्रतीत होते हैं। कुंतक के वक्रोक्तिवाद की तुलना क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को लेकर हिंदी आलोचक मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित हैं। एक वर्ग जिसके प्रवर्तक आचार्य शुक्ल हैं, का कथन है कि वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद में कोई अंतर नहीं है। वस्तुतः अभिव्यंजनावाद वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान है। दूसरा वर्ग वह है जिसके संस्थापक डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु कहे जा सकते हैं जो वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद को सात्विक दृष्टि से भिन्न मानते हैं।

'औचित्य' काव्यशास्त्रीय सिद्धांत होने से पहले एक सामाजिक मूल्य है। यह जीवन और काव्य पर समान रूप से लागू होता है। दोनों की सार्थकता, सफलता और सुंदरता के लिए यह समान रूप से महत्वपूर्ण है। आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी कहते हैं–"औचित्य या मूल्य वह तत्व है जो जीवन और काव्य के भेद को समाप्त करता है वह काव्येतर होकर भी काव्य का है।" काव्य में औचित्य को रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन माना गया है। काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए या उत्तम काव्य की सृष्टि के लिए काव्य में औचित्य का होना आवश्यक है। अनौचित्य से काव्य अकाव्य तो नहीं होता लेकिन अधम काव्य की कोटि में पहुंच जाता है तथा अपने मूल प्रयोजनों जैसे आनंद प्रदान करना, लोकमंगल आदि से दूर हट जाता है।

औचित्य संबंधी स्थापनाएं निरंतर विकास पाती रही हैं। पाश्चात्य विचारकों ने भी औचित्य पर चिंतन किया है। भारतीय विचारकों में डॉ. राघवन्, पं. महादेव शास्त्री, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, आचार्य रामचंद्र शुक्ल सभी ने अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। निष्कर्ष यही निकलता है कि औचित्य का निर्धारण लोक से होता है। काव्य में शास्त्र सम्मत और लोक सम्मत भी। जहां विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी 'सामाजिकता' को औचित्य और 'असामाजिकता' को अनौचित्य कहते हैं वहीं आचार्य शुक्ल भी नीतिशास्त्र के आधार पर इसका निर्धारण करते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं–साहित्य की चरितार्थता 'महाएकता' की अनुभूति करा देने में है, यदि ऐसा हो तो 'औचित्य' सिद्ध है। औचित्य काव्य का बहिरंग न होकर अत्यंत और नितांत गूढ़, अंतरंग एवं सूक्ष्म तत्व है। इसीलिए विश्व के साहित्येतिहास में भारतीय साहित्य की यह महिमाशालिनी देन 'औचित्य सिद्धांत' के रूप में स्थापित है।

2.8 मुख्य शब्दावली

- **रीति** : शैली, तरीका।
- **अनुष्ण** : गर्माहट से रहित।
- **बौराय** : पागल होता है।
- **रिसियाने** : क्रोध युक्त।
- **अरविंद** : कमल।
- **प्रतीयमान** : प्रतीत होता हुआ, व्यंजना द्वारा प्रकट।

- **औचित्य** : उपयुक्तता।
- **विश्वबंधुत्व** : सबके प्रति सहोदर भाव।

2.9 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1. आचार्य भामह
2. भरतमुनि के नाट्यशास्त्र
3. विपरीत
4. विभावना
5. आचार्य वामन
6. डॉ. विद्यानिवास मिश्र
7. वामन, दंडी
8. भामह और दंडी
9. आनंदवर्धन
10. आनंदवर्धन
11. तीन
12. अभिनवगुप्त
13. व्यंजना शक्ति
14. आचार्य कुंतक
15. आचार्य भामह
16. छह
17. वैनदतो क्रोचे
18. आचार्य रामचंद्र शुक्ल
19. आचार्य क्षेमेंद्र
20. एक सामाजिक मूल्य
21. 27
22. अग्निपुराण

2.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. अलंकार किसे कहते हैं? काव्य में उनका क्या महत्व है? समझाइए।
2. अलंकार कितने प्रकार के होते हैं? अधिकतर प्रयोग होने वाले अलंकारों पर टिप्पणी लिखिए।

3. काव्य गुणों के महत्व पर टिप्पणी लिखिए।
4. ध्वनि से आप क्या समझते हैं? काव्य में ध्वनि के महत्व पर समीक्षात्मक टिप्पणी कीजिए।
5. वक्रोक्ति से आप क्या समझते हैं? अपने शब्दों में परिभाषित कीजिए।
6. काव्य में औचित्य के स्वरूप की अपने शब्दों में व्याख्या कीजिए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. काव्यशास्त्र में अलंकार संप्रदाय की स्थापना एवं उसके सिद्धांतों का विस्तृत विश्लेषण कीजिए।
2. रीति से आप क्या समझते हैं? रीति और शैली के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. रीति सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाओं का विस्तार से विश्लेषण कीजिए।
4. ध्वनि के स्वरूप को रूपायित करते हुए, ध्वनि सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाओं का विवेचन कीजिए।
5. ध्वनि काव्य के प्रमुख भेदों का विस्तृत विश्लेषण कीजिए।
6. वक्रोक्ति काव्य के कितने भेद हैं? विस्तार से विवेचन कीजिए।
7. वक्रोक्ति और अभिव्यंजना के बीच साम्य एवं वैषम्य का सैद्धांतिक विश्लेषण कीजिए।
8. औचित्य सिद्धांत की मूल स्थापनाओं का विवरण देते हुए औचित्य के प्रमुख भेदों की समीक्षा कीजिए।

2.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. डॉ. भगीरथ मिश्र, *काव्यशास्त्र*, विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर-1957
2. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, *हिन्दी साहित्य में विविध वाद*, पद्मजा प्रकाशन कानपुर 2010-वि.सं.
3. डॉ. वेंकट शर्मा, भूमिका नगेंद्र, *आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास*, आत्माराम एंड संस दिल्ली-1967
4. डॉ. जगदीश प्रसाद कौशिक, *काव्य दर्पण*, साहित्यागार, जयपुर-1988
5. डॉ. जगदीश प्रसाद कौशिक, *भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमान*, साहित्यागार जयपुर -1988
6. सत्यदेव मिश्र, *पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांत और वाद*, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा,1975
7. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, *सहृदय और साधारणीकरण*, हिंदुस्तान एकेडमी इलाहाबाद, 1984
8. डॉ. लक्ष्मी पांडेय, *अधुनातन काव्यशास्त्री : आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी*, उर्मिल प्रकाशन, गाजियाबाद।

इकाई 3 पाश्चात्य काव्य सिद्धांत –II

3.0

अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक क्रोचे हैं। क्रोचे इटली के प्रसिद्ध सौंदर्यशास्त्री तथा दार्शनिक होने के साथ-साथ कलावादी भी थे। इनका काल 1866-1952 ई. ठहरता है। क्रोचे ने साहित्य जगत में बहुचर्चित 'अभिव्यंजनावाद' की स्थापना अपने ग्रंथ 'फिलॉसफी ऑफ द स्पिरिट' के प्रथम खंड सौंदर्यशास्त्र में की है। इस अभिव्यंजनावाद ने साहित्य के साथ-साथ कला एवं संगीत को भी प्रभावित किया। क्रोचे का आविर्भाव ऐसे स्वच्छंदवादी कला के युग में हुआ जब कहा जाता था कि बच्चों को चित्रकार बनाने के लिए चित्रकला की शिक्षा नहीं देनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बच्चे के कोमल मन पर दूसरों के विचार अड्डा जमा लेंगे और वह स्वतंत्र मौलिक अभिव्यंजना नहीं कर पाएगा, उसकी प्रतिभा कुंठित हो जाएगी। क्रोचे विशुद्ध कलावादी ही माने जाते हैं।

3.6.1 अभिव्यंजनावाद का स्वरूप

अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक क्रोचे मूलत: दार्शनिक थे, आत्मवादी थे। इनका उद्देश्य आत्मा की अंत: सत्ता स्थापित करना था। इन्होंने सौंदर्य का प्रासंगिक विवेचन किया तथा अभिव्यंजना का विश्लेषण दर्शन की छाया में किया। क्रोचे आत्मा की मुख्यत: दो क्रियाएं मानते हैं– (1) विचारात्मक (2) व्यावहारिक। विचारात्मक क्रिया अर्थात ज्ञान के भी दो प्रकार मानते हैं–स्वयं प्रकाश ज्ञान और तर्क ज्ञान। स्वयं प्रकाश ज्ञान यानी सहजानुभूति और तर्क ज्ञान यानी विचारात्मक ज्ञान। वे व्यावहारिक प्रवृत्ति के भी दो भेद स्वीकार करते हैं– (1) आर्थिक अथवा निजी योग क्षेत्र से संबद्ध, (2) नैतिक। तर्क से प्राप्त ज्ञान का संबंध निश्चयात्मक बुद्धि से होता है। यह समष्टि का ज्ञान है जो दर्शन और विज्ञान को जन्म देता है। स्वयं प्रकाश ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतंत्र होता है। यह एक अलौकिक शक्ति है जो क्षण भर में किसी दृश्य या भावना को अपनाकर उसे साकार मूर्त और सुंदर रूप दे देती है। सहजानुभूति ही स्वयं प्रकाश ज्ञान है। कला एवं साहित्य का इसी से संबंध है। यही अभिव्यंजना है जो पूर्णत: निरपेक्ष एवं विलक्षण आत्मिक क्रिया है। क्रोचे इस सहजानुभूति यानी स्वयं प्रकाश ज्ञान का सामान्य अनुभूति से बहुत अंतर मानते हैं। क्रोचे कहते हैं कि सामान्य अनुभूति के दो मुख्य रूपों सुख तथा दुख का संबंध व्यावहारिक प्रवृत्ति अर्थात आर्थिक एवं नैतिक प्रवृत्तियों से होता है जबकि कलात्मक अनुभूति का संबंध केवल सहजानुभूति से। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि कलात्मक अनुभूति या सहजानुभूति या स्वयं प्रकाश ज्ञान एक अलौकिक अद्‌भुत आत्मिक

किया है, जो अन्य किसी क्रिया में या प्रवृत्ति में संबोधित नहीं होती। क्रोचे ने इसी सहजानुभूति के आधार पर अभिव्यंजनावाद की स्थापना की।

अभिव्यंजनावाद वह कला सिद्धांत है जिसमें आत्मा का अपनी सौंदर्य बोध संबंधी प्रक्रिया पर बल दिया जाता है। यह बाह्य प्रकृति से प्रभावित न होने वाला सौंदर्य प्रधान, आत्मानंदमूलक व्यापार है। सहजानुभूति वह क्रिया है जो आत्मा में ही पूर्णता प्राप्त करती है। उदाहरण के लिए–जब चित्रकार किसी वस्तु को देखता है तब उस वस्तु का चित्र उसके मन में अंकित हो जाता है या अभिव्यक्त हो जाता है। यह सहजानुभूति की आंतरिक अभिव्यंजना है। आंतरिक रूप रचना है, जो सौंदर्य तत्व को जन्म देती है। क्रोचे इसे आत्मा का अभिव्यंजनात्मक कर्म मानता है। इसी कर्म के द्वारा यानी सौंदर्य तत्व की उत्पत्ति के बाद इसी अभिव्यंजनात्मक कर्म द्वारा कलाकार भावनाओं तथा संवेगों के वेग को नियंत्रित रखकर प्रभावों को बिंबों में अभिव्यक्त कर उनसे मुक्त होता है। सारांश यह है कि क्रोचे सहजानुभूति को अभिव्यंजना मानता है जो आंतरिक होती है। मन के भीतर होती है बाहर नहीं। सौंदर्य की व्याख्या करते हुए क्रोचे ने अभिव्यंजना के चार स्तर बताए हैं–

(1) अंत: संस्कार या आत्म निवेदन,

(2) अभिव्यंजना,

(3) आनुषंगिक आनंद,

(4) अभिव्यक्ति।

क्रोचे की दृष्टि में कला एक आध्यात्मिक क्रिया है। कलाकार अपनी सहजानुभूति को पूर्ण अभिव्यक्ति देने में प्रयत्नशील रहता है। इसी प्रक्रिया में उसके मन पर पड़े प्रभाव कल्पना का रंग ग्रहण कर विस्तृत और मूर्त हो उठते हैं। साकार हो जाते हैं। क्रोचे स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण को ही स्पष्ट अभिव्यक्ति मानते हैं। प्रत्यक्षीकरण जितना विशद होगा, उतनी ही विशद और सफल अभिव्यक्ति होगी और चूंकि अभिव्यक्ति ही कला है अत: उतनी ही सफल उसकी कला भी होगी। उल्लेखनीय है कि क्रोचे का अभिव्यंजना संबंधी सारा निरूपण कला के लिए है, कलाकृति के लिए यानी साहित्यिक कृति के लिए नहीं। वे कला एवं कलाकृति को दो अलग-अलग वस्तुओं के रूप में देखते हैं। क्रोचे काव्य (कला) का सौंदर्य के अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्य नहीं मानते। वे मंगल-अमंगल को धर्म और नीति से तथा सौंदर्य को कला क्षेत्र से जोड़ते हैं।

क्रोचे अनुभूति और अभिव्यक्ति में कोई भेद नहीं मानते। इसलिए विषय-वस्तु और शैली को अभिन्न घोषित करते हैं। कहते हैं अनुभूत किया हुआ विषय ही अभिव्यक्त होता है। इसी अभिन्नतावादी दृष्टिकोण के कारण वे कलाकृति को अखंड भी मानते हैं। क्रोचे समग्रवादी सिद्धांत को मानते हैं अर्थात् काव्य या कलाकृति के विभिन्न उपादान–विषयवस्तु, शैली, पद-योजना, भाव-विचार, अलंकार आदि को खंड-खंड करके की जाने वाली मीमांसा को वे कलाकृति की हत्या मानते हैं। वे मानते हैं कि कलाकृति का मूल्यांकन उसकी संपूर्णता में ही किया जाना चाहिए। जिस प्रकार सौंदर्य अखंड है उसका श्रेणी विभाजन नहीं हो सकता, उसी प्रकार कला भी अखंड है। आलोचकों ने क्रोचे के इस अभिन्नतावाद की निंदा की क्योंकि शैलीगत विभिन्नता के कारण ही साहित्य की कई विधाएं हैं तथा एक ही

विषय पर कई रचनाएं लिखी जा सकती हैं। क्रोचे कहते हैं-उत्कृष्ट कला के लिए उत्कृष्ट विषय-वस्तु का होना आवश्यक है। जिस जीवन का कला में निरूपण किया जाए, वह उनम होना चाहिए क्योंकि उत्कृष्टता जीवन के प्रति दृष्टि में होती है। उत्कृष्टता का आधार कल्पनाशक्ति की सहायता से अभिव्यक्ति करने में निहित है। ये कला तत्व तथा रूप में, वस्तु तथा अभिव्यंजना में भेद नहीं मानते।

क्रोचे कहते हैं कि बाह्य अभिव्यक्ति--चित्र, मूर्ति, कविता आदि कला नहीं है ये स्मृति की सहायक चीजें हैं। इनकी सहायता से कलाकार अपनी सहजानुभूति को पुनः प्रस्तुत कर लेता है। वह इन्हें देखकर पुनः उस मानसिक स्थिति को प्राप्त हो जाता है जिससे उसके मन में सुंदर सहजानुभूतियों का जन्म हुआ था। क्रोचे कहते हैं-"कला का आनंद सफल अभिव्यक्ति से प्राप्त आत्म-मुक्ति का आनंद है। सफल अभिव्यक्ति के क्षण में कलाकार को ऐसा लगता है जैसे वह मुक्त हो गया, उसका भार हट गया और अंतरात्मा हल्का-फुल्का अनुभव करती है और उसे अपूर्व आनंद अनुभव होता है। इस आनंदानुभूति को कला का आनंद कहा जाता है।" क्रोचे कहते हैं-"सफल अभिव्यक्ति में ही सौंदर्य निवास करता है और यदि अभिव्यक्ति सफल नहीं है तो वह अभिव्यक्ति ही नहीं है।" "Beauty is successful expression or better expression and nothing more, because expression when it is not successful is not expression."

3.6.2 आलोचना

क्रोचे के मत पर प्रथम आपत्ति यह है कि वह बाह्य अभिव्यंजना को अनावश्यक मानता है और कलाकार को ऐसी स्वच्छंदता दे देता है जो अराजकता और अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न करेगी। यदि बाह्य कलाकृति नहीं होगी तो उसके अच्छे-बुरे का निर्णय कैसे होगा? कलाकार मन में ही सहजानुभूति उत्पन्न होने की झूठी शान धारण कर दंभी हो जाएंगे। दूसरी बात पर आपत्ति उठाई जाती है कि क्रोचे कहते हैं सहजानुभूति वैयक्तिक होती है उसका पुनर्भाव नहीं हो सकता। फिर सहृदय सामाजिक उसका अनुभव, रसास्वादन कैसे करेगा? आलोचक कलाकार की वैयक्तिक और अभूतपूर्व सहजानुभूति वाली अवस्था तक कैसे पहुंचेगा? क्रोचे कहते हैं-"कला का अस्तित्व केवल उस क्षण तक रहता है जब तक कलाकार कलम, कूंची या छैनी नहीं पकड़ता, केवल मानस-प्रक्रिया में रत रहता है। ज्यों ही वह मानस क्षेत्र से निकलकर इन उपकरणों की सहायता से अभिव्यंजित होगा, कला पीछे छूट जाएगी।" जन सामान्य मानता है कि कला भौतिक कलाकृति में निवास करती है वह क्रोचे के इस मत के कारण उलझन में पड़ जाता है।

अभिव्यंजना पर अधिक बल देने के कारण तथा विषय-वस्तु के चुनाव को आवश्यक न मानने के कारण लोगों ने यह समझ लिया कि वे किसी भी आम या खास, हीन, पतित विषय को कला का विषय बना सकते हैं। अतः ऐसा करके वे किसी भी हीन विषय की कला में सफल स्पष्ट अभिव्यंजना के द्वारा स्वयं को कलाकार मानने लगे। क्रोचे का मत है कि--जैसे ही कलाकार मानसिक जगत से हटकर, सहजानुभूति की आंतरिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र से हटकर उसे भौतिक रूपाकार देता है वह कलाकार के अधिकारों और स्वतंत्रता से वंचित हो जाता है और उसे जीवन तथा जगत के नीति-बंधनों का पालन करना पड़ता है। अर्थात जब कलाकृति जनता के बीच पहुंचती है तो कलाकार उस पर से अपना अधिकार खो बैठता है।

वह जन सामान्य की हो जाती है। आलोचक उसकी निंदा या प्रशंसा के लिए स्वतंत्र होता है। कलाकार को इस वास्तविक जगत के अर्थ, नीति आदि प्रभावित करते हैं तथा उसे हमारे जगत के नीति तथा सदाचार के नियमों का पालन करना पड़ता है। क्रोचे कलाकार को कल्पना लोक में बंद रखने का प्रयास करते हैं। जबकि कलाकार को जीवन के प्रति आस्था और प्रेम का भाव रखना चाहिए।

क्रोचे अभिव्यंजना को एक तात्विक धर्म मानता है। कहता है निवेदन या अभिव्यंजना किसी अनुभव को सुरक्षित रखने या उसे फैलाने की इच्छा से संपन्न होने वाली क्रिया है। वह इस बात पर ध्यान नहीं देता कि कलाकार का काम दूसरों को आनंद देना, शिक्षा देना, लोक कल्याण करना और अपने भावों से अवगत कराना है।

कला के लिए भाषा का माध्यम अनिवार्य है चाहे वह भाषा-शब्दों की हो, रंगों की हो, पत्थर की या संगीत स्वरों की। यह भाषा कलाकार को सामाजिक सहृदय से मिलाती है। उनके बीच तादात्म्य स्थापित होता है और सहृदय सुखानुभूति प्राप्त करता है। जिस कला की भाषा जितनी रमणीय, प्रभावशाली और कलापूर्ण हो वह उतनी ही उत्तम कहलाती है। क्रोचे जीवन के प्रति उपेक्षा प्रकट करते हैं ओर मस्तिष्क में विचरण करने वाले अप्रत्यक्ष, अस्पष्ट प्रभावों की आंतरिक अभिव्यक्ति को कला कहते हैं। पर ये अस्पष्ट, अप्रत्यक्ष प्रभाव आंतरिक अभिव्यक्ति से पूर्व जीवन से संबद्ध थे या नहीं इसका उत्तर नहीं है। कलाकार का क्षेत्र जीवन है, सृष्टि है। वह इनकी और भावनाओं, संवेगों की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसका सहज ज्ञान जीवन और उसकी प्रक्रिया से परिचित और प्रभावित होता है। कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी अभिव्यंजना को सुबोध बनाए, उन्हें जन-सामान्य से लेकर सौंदर्य से परिपूर्ण कर जनसामान्य तक पहुंचाए। कला सर्वप्रथम जीवन की अभिव्यंजना है। जीवन के जिस रूप को कलाकार ने स्वयं देखा और अनुभव किया है, जीवन के उसी रूप की अभिव्यंजना कला है।

भारतीय आचार्य कुंतक और क्रोचे दोनों कलावादी हैं। दोनों ने अभिव्यंजना को कला का प्राण माना है। दोनों अभिव्यंजना को अखंड मानते हैं। दोनों काव्य में कल्पना तत्व को प्रमुखता देते हैं। फिर भी वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद में अंतर है क्योंकि एक का प्रवर्तक अलंकारवादी है और दूसरे का दार्शनिक। क्रोचे के अनुसार काव्य की आत्मा सहजानुभूति है। वे आनंद को अभिव्यंजना का सहचर मानते हैं। वक्रोक्तिवाद भारतीय दर्शन और संस्कृति के अनुसार रीति को त्याग नहीं सकता जबकि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में नीति-अनीति का प्रश्न ही नहीं उठता।

दर्शन के क्षेत्र में क्रोचे का सिद्धांत 'अभिव्यंजनावाद' भले ही ठीक हो लेकिन काव्य-शास्त्र की दृष्टि से यह कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

3.7 कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत

सुप्रसिद्ध आलोचक तथा महान कवि कॉलरिज (रोमांटिक युग का) सूक्ष्मदर्शी तत्ववेत्ता था तथा अपनी आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि और आलोचनात्मक प्रतिभा के कारण प्रसिद्धि के शिखर पर पहुंचा। निर्बंधता, फक्कड़पन और निरंतर कल्पना के सागर में गोते लगाने वाले इस

कवि की मानसिक उर्वरता अद्भुत थी। कॉलरिज दर्शन और काव्य का अविच्छिन्न संबंध मानते थे। अत: उन्होंने अपने काव्य सिद्धांतों की स्थापना तत्व चिंतन के आधार पर की। कॉलरिज की स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति को नियमों का बंधन स्वीकार नहीं था। उन्होंने वर्ड्सवर्थ का सहयोगी बनकर 18 वीं शताब्दी के कृत्रिम एवं रूढ़ काव्य मूल्यों के उन्मूलन एवं स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा में महत्वपूर्ण योग दिया। वे पूर्व निर्धारित नियम पालन को अनावश्यक मानते थे तथा मौलिकता और प्रतिभा के पक्षधर थे। उन्होंने लेखकों एवं आलोचना के संबंध में महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किए–"प्रत्येक लेखक जो मौलिक और महान है उस पर उसकी मौलिकता एवं महानता के अनुसार यह भार आ जाता है कि वह काव्य में उस रुचि का परिचय दे जिससे उसके काव्य-रस का आस्वादन किया जाए।" इसी प्रकार आलोचना के संबंध में वे कहते हैं "आलोचना का चरम ध्येय लेखक के सिद्धांतों का प्रतिपादन करना अधिक है, दूसरों की कृतियों पर निर्णय देने के लिए नियम बनाना कम।" कॉलरिज ने बहुत कम लिखा है। उनके संबंध में दो विरोधी मत प्रचलित हैं–'एक के अनुसार कॉलरिज की मौलिकता संदिग्ध है क्योंकि वह जर्मन विद्वानों का अत्यंत ऋणी है। और दूसरे के अनुसार उसका महत्व अक्षुण्ण है।' वस्तुत: सौंदर्यशास्त्र के इतिहास में भले ही उसका स्थान महत्वपूर्ण न हो परंतु उसके द्वारा प्रतिपादित काव्यगत सिद्धांतों की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कॉलरिज सभी कलाओं तथा संपूर्ण मानव कृतियों के लिए काव्य शब्द का प्रयोग करता है। किंतु Poesy और Poetry का अंतर बताते हुए कहते हैं कि पोएज़ी समस्त ललित कलाओं के लिए प्रजातीय (Generic) नाम है जबकि पोएट्री शब्द का प्रयोग उन्हीं कृतियों के लिए होना चाहिए जिनका माध्यम शब्द है। वे संगीत को कर्णेंद्रिय का काव्य और चित्रकला को नेत्रेंद्रिय का काव्य कहते हैं। कॉलरिज दर्शन, इतिहास, उपदेश तथा विज्ञान सभी को विशिष्ट कल्पना का प्रतिफल मानते हैं। इन सभी का माध्यम भाषा होने के कारण इनमें समानता है किंतु उद्देश्य भिन्न भिन्न होने के कारण इनमें भेद है। कॉलरिज कहते हैं लक्ष्य दो प्रकार के होते हैं, 1. तात्कालिक, 2. अंतिम। विज्ञान, इतिहास और दर्शन का तात्कालिक लक्ष्य सत्य को व्यक्त करता है जबकि काव्य का तात्कालिक लक्ष्य आनंद देना और अंतिम लक्ष्य सत्य का बोध करना है।

3.7.1 अच्छे कवि के गुण

कॉलरिज प्राय: कवि और कविता के समान गुणों की बात कहकर उन्हें परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार अच्छा कवि प्रतिभासंपन्न होना चाहिए। प्रतिभा और काव्यत्व कवि के अभिन्न गुण हैं। इसके अतिरिक्त कवि में पद्य-माधुरी, मूर्ति विधान, गहन विचार शक्ति, भावुकता, भावावेग, विवेक, निर्णयशक्ति, कल्पना, मानवता, दार्शनिकता, धार्मिकता, तत्ववेत्ता, इतिहास और प्रकृति का जानकार, विज्ञान की विविध विधाओं का जानकार होना चाहिए। कॉलरिज कहता है–'श्रद्धाहीन कवि पागल होता है। उनका मत है कि कवि को व्यक्तिगत रुचियों को अलग करके वस्तुपरक रहकर तथा निर्वैयक्तिक होकर सृष्टि को समझना व उसका चित्रण करना चाहिए। कवि को तटस्थ रहकर सृष्टि के सौंदर्य में डूबकर उसका वर्णन करना चाहिए। ऐसा करने पर वह अपनी दार्शनिकता, निर्वैयक्तिकता, विवेक एवं चेतना के माध्यम से काव्य में नए तत्व को, नए सौंदर्य की सृष्टि कर सकेगा।

3.7.2 अच्छी कविता के गुण

कॉलरिज श्रेष्ठ काव्य को परिभाषित करते हुए लिखते हैं 'It is the excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure, through the medium of beauty.' अर्थात कविता सौंदर्य के माध्यम से तत्काल आनंद के उद्रेक के लिए भावों को उद्वेलित करती है। कॉलरिज काव्य को विशिष्ट रचना मानते हैं जो आनंद प्रदान करने के उद्देश्य को धारण करती है। कविता में विश्वजनीनता अनिवार्यत: होनी चाहिए तथा बुद्धि एवं हृदय का समन्वय होना चाहिए। कविता में भावों की गहनता तथा विचारों की गंभीरता अनिवार्य है। यही तत्व काव्य को श्रेष्ठता प्रदान करते हैं। सौंदर्य वह है जो क्षण-क्षण नया होता है अर्थात **'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः।'** ऐसा कहा गया है। इसी की ध्वनि कॉलरिज के कथन में सुनाई देती है। वे कहते हैं काव्य में निरंतर भावों की अंतर्धारा का प्रवाह होना चाहिए। ऐसी भावपूर्ण कविता पाठक को मुग्ध कर देती है और वह उसे बार-बार पढ़ना चाहता है। कॉलरिज का मत है कि कवि को काव्य के पूर्ववर्ती नियमों के बंधन से मुक्त होना चाहिए ताकि वह अपनी कल्पनाशक्ति से प्रतिभा और विवेक से नए व सुंदर काव्य की सृष्टि कर सके। कविता में भाव तथा भावों का आवेग आवश्यक है। कविता का उद्देश्य है कि वह कवि के भावों और विचारों को पाठक तक पहुंचाए। काव्य की दो प्रमुख शिल्प विधियों की चर्चा करते हुए कॉलरिज कहते हैं कि आलंकारिक भाषा और छंद को भावावेग ही दीप्ति प्रदान करता है। इसीलिए कवि जब तीव्र भावावेग के क्षणों में काव्य रचना करता है तो उसमें कला का उत्कर्ष आ जाता है। तीव्र भावावेग में भाषा साधारण बोलचाल की भाषा से अधिक गरिमायुक्त एवं संतुलित होती है। भावावेग में कवि वेद्यांतर शून्य-स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

कॉलरिज के अनुसार काव्य का आनंद सौंदर्य के द्वारा उत्पन्न होता है। चूंकि आनंद सौंदर्य के बिना किसी प्रयत्न से स्वयं उद्भूत होता है इसलिए वे ही पाठक ऐसे काव्य का रसास्वादन पूर्णत: कर सकते हैं जिनकी वृत्तियां कोमल हैं, जो भावुक हैं, सौंदर्य के पारखी हैं। वह कहते हैं कि कलाकृति या काव्य में एकता तथा सजीव आंगिकता होनी चाहिए। उदाहरण स्वरूप खिड़की के शीशे पर तुषारपात होने पर जिस तरह तुषार का एक-एक कण मिलकर अद्भुत सौंदर्य की सृष्टि करते हैं। उसी प्रकार काव्य के सभी सुंदर अंगों को परस्पर मिलाकर काव्य को और अधिक अद्भुत सौंदर्य से पूर्ण कर देना चाहिए। ऐसा काव्य ही सच्चा काव्य होगा जिसके सभी भाग परस्पर अनुपात और औचित्य के साथ छंद-विधान कर उद्देश्य की पूर्ति में लगे हों। कविता की प्रत्येक पंक्ति सामंजस्यकारी हो, रमणीय हो ताकि पाठक रुक-रुक कर उसका आनंद ले रसास्वादन करे। जिस तरह सर्प रुक-रुक कर पुन: आगे चलने की शक्ति संचय करता है। काव्य को भी ऐसा ही होना चाहिए। जो काव्य पाठक को सरपट घोड़े की तरह दौड़ाए वह उत्तम काव्य नहीं कहा जा सकता। कविता में यथार्थ और अयथार्थ दोनों तरह की वस्तुएं आ सकती हैं किंतु जब अयथार्थ आए तो उस पर कल्पना का इतना गहरा रंग चढ़ा दिया जाए कि वह यथार्थ प्रतीत हो। यह शक्ति कवि के पास होनी चाहिए।

3.7.3 कल्पना सिद्धांत का स्वरूप

वर्ड्सवर्थ के मुख से उसकी ही एक कविता सुनकर कॉलरिज अत्यंत रोमांचित एवं भावविभोर हो गया। उसकी भावनाएं एवं बुद्धि दोनों चैतन्य हो गईं तथा उसे सौंदर्य और सत्य का

साक्षात्कार हुआ। तब कॉलरिज ने विचार किया कि यह सब कवि की प्रतिभा का चमत्कार है कि वह काव्य को इस चरम सीमा तक मर्मस्पर्शी और सुबोध बना सकता है कि यह सीधे पाठक या श्रोता के हृदय को उद्वेलित कर सके। यह शक्ति कवि की कल्पना शक्ति है कि वह काव्य को विशिष्ट बना दे। वर्ड्सवर्थ को यह कल्पनाशक्ति अपने चरम एवं गहन रूप में प्राप्त थी। यह कल्पना ऐसे अर्थों में सार्थक होती है जब वह बुद्धि और हृदय, बाह्य जगत (संसार) एवं अंतर्जगत (आत्मा) में, चेतना में, परिचय और अपरिचय, अन्तर्वेग और व्यवस्था, अवधारणा और भाव का सामंजस्य कराती है। कॉलरिज के अनुसार कल्पना ही प्रतिबोधन (Perception) तथा अवबोधन (understanding) के बीच की उस खाई को पाट सकती है जिसे बुद्धि नहीं पाट सकती। इस कल्पना शक्ति में प्रकृति के सुंदर एवं शाश्वत रूपों को सरलता एवं सरसता के साथ प्रकट करने की सामर्थ्य होती है। जैसे हिंदी कवियत्री महादेवी-मेघ, नदी, दीपक के रूपों में अपनी कल्पना से विचारों को शब्द देती हैं। इसलिए कॉलरिज ने कल्पना को– a unifying creative faculty तथा beauty making power कहकर उसकी अभ्यर्थना की है।

कल्पना के रंग में या कल्पना के आलोक में वस्तु का प्रस्तुतीकरण ही पुनःप्रस्तुतीकरण कहलाता है।

कॉलरिज तत्ववेत्ता होने के कारण दर्शन और काव्य का अविच्छिन्न संबंध मानते थे। उनके काव्य सिद्धांत इसी तत्व चिंतन पर आधारित हैं। वे मन को स्रष्टा का प्रतिबिंब मानते हुए कहते थे कि संसार के पदार्थ ब्रह्म के विषय अथवा विचार हैं और जगत विषयीकृत ब्रह्म है। ब्रह्म और प्रकृति का संयोग कल्पना द्वारा होता है। विश्व ब्रह्म की कला है। मानव चेतना भी विश्व चेतना है। मानव कल्पना प्रकृति के उस क्षेत्र को जिसमें मानव मन का व्यापार है, मानव-मन के समक्ष लाती है। यदि विश्व ब्रह्म का आत्मज्ञान है तो मनुष्य का संसार मनुष्य का आत्मज्ञान है। इस आत्मज्ञान का कारण कल्पना है। इस कल्पना को कॉलरिज ने प्रथम पदस्थ कल्पना कहा है और यह प्रथम पदस्थ कल्पना प्रत्यक्षीकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। विश्व भगवान का प्रत्यक्षीकरण है। मनुष्य कल्पना, ब्रह्म कल्पना का ही प्रतिवाद है। दिव्य प्रेरणा है तथा ईश्वर की सृजन शक्ति की सहोदरा है। ब्रह्म कल्पना और मानव कल्पना दोनों कार्य करती हैं। अंतर यह है कि ब्रह्म कल्पना बड़े पैमाने पर कार्य करती है और मानव कल्पना छोटे पैमाने पर।

निष्कर्ष यह है कि कॉलरिज संपूर्ण सृष्टि को चेतना की अभिव्यक्ति मानते हैं तथा जड़ और चेतन में सामंजस्य स्वीकार करते हैं। जड़ पदार्थ को देखकर कवि के हृदय में भाव उत्पन्न होते हैं और वह काव्य सृजन में रत हो जाता है। कॉलरिज कल्पना के दो प्रकार मानते हैं 1. आद्य या मुख्य या प्राथमिक कल्पना, 2. प्रतिनिधि या विशिष्ट कल्पना। कॉलरिज ब्रह्मवादियों की तरह आत्मा व जगत दोनों को एक ही सत्ता के दो रूप मानता है। पर ब्रह्मवादी आत्मा और जगत के बीच भिन्नता का कारण माया को मानते हैं। वहीं कॉलरिज इसका कारण मुख्य कल्पना को मानते हैं। इसी मुख्य कल्पना के कारण चेतना खंड-खंड रूप में दिखाई देती है। ब्रह्म ने इसी के आश्रय पर सृष्टि का निर्माण किया। यह मुख्य कल्पना व्यक्तियों में भी पाई जाती है। यह मानव-मन में मानसिक विश्व को प्रस्तुत करती है। यह समस्त मानव-ज्ञान की सजीव शक्ति है और संपूर्ण मानव प्रत्यक्षीकरण का

प्रमुख माध्यम है उसी के द्वारा हम विषय एवं विषयी को दो भागों में बांट देते हैं। यही कल्पना चेतना को खंड खंड करके विषय और विषयी को अलग-अलग मानकर चलती है। हम इंद्रियों के द्वारा वस्तुओं का जो अनुभव करते हैं उसे कल्पना व्यवस्थित करती है। यह सभी बिंबों को क्रमानुसार करके हमारे अव्यवस्थित बोध को ज्ञान में बदल देती है। उदाहरण स्वरूप हम गुलाब को आंखों से देखकर, हाथों से छूकर, जीभ से चखकर और नाक से सूंघकर देखते हैं तो इन अनुभवों को व्यवस्थित करके कल्पना ही हमें बताती है कि यह गुलाब है।

विशिष्ट कल्पना कलाकारों में पाई जाती है। जनसाधारण में नहीं। वह प्राथमिक या आद्य कल्पना शक्ति की प्रतिध्वनि है जिसका मनुष्य सजगता से प्रयोग करता है। इसके द्वारा कलाकार बाह्य संसार का पूर्णतः पुनर्सृजन तथा प्रस्तुतीकरण कर पाता है। यह वही विशिष्ट कल्पना शक्ति है जो विषय और विषयी का समन्वय तथा अनेक रूपों एवं व्यापारों को संबद्ध कर, एकसूत्रता स्थापित कर अखण्ड रूप में प्रस्तुत करती है। प्राथमिक कल्पना सहज रूप से अपना कार्य करती है जबकि विशिष्ट कल्पना का प्रयोग सजग इच्छाशक्ति से किया जाता है।

कलाकार प्रकृति की कोरी नकल नहीं करता, वह आनंद देने वाला भावात्मक पुनर्सृजन करता है जिससे एक अपूर्व सौंदर्य से ओतप्रोत नवीन सृष्टि हमारे सामने आती है जिसमें पूर्व की त्रुटियां एवं कमियों का अभाव रहता है। इस संपूर्णता की सृष्टि करने के लिए वह उदाहरण में से कुछ छोड़ता है और उसमें कुछ नया कल्पना शक्ति से जोड़ता है। जिससे पूर्णतः संतुष्टि प्रदान करने वाली रचना सामने आती है। कॉलरिज के मतानुसार– "कल्पना वह मानसिक शक्ति है जो विभिन्न तत्वों का एकीकरण कर, समन्वय करती है। विभिन्न पक्षों को एक संश्लिष्ट अन्विति के रूप में ढालती है। जिससे वे पक्ष घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं। कल्पना का कार्य परस्पर विसंवादी या विरोधी गुणों में सामंजस्य और संतुलन उत्पन्न करना है। वह समान-असमान, सीम-असीम, प्राचीन-नवीन, व्यक्ति-प्रतिनिधि, विचार-बिंब, सामान्य-विशिष्ट, विवेक-आत्मनिग्रह तथा उत्साह और प्रखर भावनाओं में सामंजस्य उत्पन्न करती है।"

कोरे अंधानुकरण को कॉलरिज जीवन की यांत्रिक नकल तथा प्रकृति की चोरी मानते हैं तथा इसे त्याज्य समझते हैं। कलाकार का महत्व भावपूर्ण सृजन करना है यह कार्य कल्पना ही कर सकती है। कल्पना के द्वारा शरीर मस्तिष्क बन जाता है। वह मृत वस्तुओं में प्राणों का संचार करती है। जिस प्रकार स्पंदन, गति और प्राणों के अभाव में सुंदर मोम की पुतलियां हमें आकर्षित नहीं कर पातीं उसी तरह प्रकृति की अनुकृति यांत्रिक जड़ता के कारण कल्पना द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा के अभाव में सहृदय के मन को स्पर्श नहीं कर पाती। कल्पना महत्वपूर्ण, क्षमतावान, शक्तिशाली है तथा कवि का अनिवार्य गुण है।

कल्पना एवं ललित कल्पना

कॉलरिज इनमें अंतर को स्वीकार करते हैं। ललित कल्पना का क्षेत्र अचल और निर्दिष्ट पदार्थ होते हैं। ललित कल्पना पदार्थों का एकत्रीकरण करती है जिनमें न सरसता होती है न मार्मिकता। अन्विति भी नहीं होती। ललित कल्पना का संबंध मस्तिष्क से है वह निर्जीव शक्ति

है, जो यांत्रिक होती है। यह स्मरण की एक रीति है। जबकि कल्पना का संबंध आत्मा से है। वह एकीकरण और समंजन करती है। ललित कल्पना से श्रेष्ठ, सजीव एवं मर्म मार्मिक रचना अभिव्यक्ति होती है।

3.7.4 गद्य और काव्य

कॉलरिज का मत है कविता गद्य से श्रेष्ठ होती है और चुने हुए शब्द केवल कविता में ही प्रयुक्त होते हैं। जिन रचनाओं में सत्य की अभिव्यक्ति प्रधान हो वे गद्य के अंतर्गत आएंगी तथा जिनका उद्देश्य आनंद का उद्रेक करना हो वे काव्य कहलाएंगी। कॉलरिज कविता का जन्म तीव्र भावोद्रेक में मानते हैं क्योंकि तीव्र भावोद्रेक ही आलंकारिक भाषा तथा छंद रचना में सहायक होता है।

कॉलरिज कहते हैं, ध्यान और साधारण भावों की प्रफुल्लता को छंद बढ़ा देता है। छंद और कविता अभिन्न हैं। जो बातें छंद में हैं वे कविता में भी होंगी। छंद में उत्कृष्ट वाक्सरणि होती है। अत: कविता की भाषा भी उत्कृष्ट होगी। वे कहते हैं छंद ही कविता का उचित परिच्छेद है। इसके बिना कविता अपूर्ण और सदोष होगी। छंद का प्रयोग करते हुए दो बातें ध्यान देने योग्य होती हैं–

1. छंद आवेग की सहज भाषा से संवलित होना चाहिए,
2. छंदोबद्ध भाषा में उसके तत्व आह्लाद के भावों से संश्लिष्ट होने चाहिए। उसमें भावना और संकल्प, स्वत: स्फूर्त आवेग और स्वैच्छिक उद्देश्य का पूर्ण संयोग होना चाहिए।

छंद सामान्य भावनाओं और मनोयोग को प्रबल और ग्रहणशील बनाते हैं। वह चित्रमयी तथा मूर्तिविधायिनी भाषा के अधिक उपयोग की प्रेरणा देते हैं और ऐसी भाषा के उद्भव के लिए प्रयासरत रहते हैं। वे पाठक का ध्यान आकर्षित कर उसे साधारण जगत से उदात्त भावों के जगत में पहुंचाते हैं। छंद केवल अलंकरण नहीं है। कॉलरिज कहते हैं 'छंद एक प्रकार का खमीर है जो स्वयं में व्यर्थ और अरुचिकर होता है। किंतु यदि उसे उपयुक्त अनुपात में (मादक) द्रव्य के साथ मिला दिया जाए तो वह उसके स्वाद और प्रभाव को बढ़ा देता है। काव्य के सौंदर्य के लिए छंद उसके सहायक होते हैं।'

3.8 वड्र्सवर्थ का भाषा-चिंतन

महाकवि वड्र्सवर्थ मूलत: आलोचक नहीं थे। नवशास्त्रवादी समीक्षकों के प्रहारों के विरुद्ध आत्मरक्षा के लिए उन्होंने आलोचना का हथियार उठाया। आलोचना करना उनका उद्देश्य नहीं था क्योंकि स्वभावत: वे कवि थे। 1798 में वड्र्सवर्थ और कॉलरिज द्वारा प्रकाशित 'लिरिकल बैलेड्स' पर नव्यशास्त्रवादी समीक्षकों ने कठोरतम प्रहार किए। तत्पश्चात वड्र्सवर्थ की आलोचना संबंधी मान्यताएं सामने आईं जिनका पाश्चात्य आलोचना शास्त्र एवं काव्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है। 'लिरिकल बैलेड्स' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में उनके काव्यालोचन संबंधी विचार संगृहीत है। इसमें उन्होंने कवि, कविता तथा काव्य-भाषा के संबंध में अपनी मान्यताएं प्रस्तुत की हैं। इस भूमिका में उन्होंने 18 वीं शताब्दी में प्रचलित

काव्य शैली को अस्वीकार किया है, गद्य भाषा और छंदोबद्ध रचना की भाषा में कोई अंतर नहीं माना है। कविता की भाषा तथा जनसाधारण की भाषा को एक माना है तथा कविता को भावनाओं का सहज उच्छलन कहा है। ये विचार उनके अंतिम विचार नहीं थे क्योंकि इस भूमिका के बाद के लेखों में उन्होंने अपनी मान्यताओं में पर्याप्त परिवर्तन किए।

वड्र्सवर्थ से पहले दांते ने काव्य को भावनाओं का सहज उच्छलन न मानकर उसे श्रमसाध्य तथा अभ्यास द्वारा संभव माना था। उसने कविता में जो देशभाषा के प्रयोग का परामर्श दिया उस देशभाषा या Vernacular का तात्पर्य जनसाधारण की प्रतिदिन की बोलचाल की भाषा नहीं था बल्कि उन्होंने स्पष्ट कहा कि ग्राम्य भाषा से बचना चाहिए। दांते के मत में भाषा केवल विचाराभिव्यक्ति का माध्यम है। विचार महत्वपूर्ण है भाषा नहीं। किंतु 18 वीं शताब्दी के अंत तक काव्य में कृत्रिम, आडंबरपूर्ण तथा रूढ़िग्रस्त भाषा शैली का प्रचलन हो गया। वर्ड्सवर्थ को यह शैली स्वीकार नहीं थी। उन्होंने 18 वीं शताब्दी की कृत्रिम कलात्मकता तथा सीमित काव्य विधाओं को त्याज्य मानते हुए कवियों के लिए स्वच्छंदता का मार्ग प्रशस्त किया।

3.8.1 काव्यभाषा का सिद्धांत

18 वीं शताब्दी के अंत में ड्राइडन आदि कवियों द्वारा मान्य तथा प्रचलित काव्य-शैली रूढ़ तथा अनुपयोगी मानी जाने लगी। वड्र्सवर्थ ने भी इनकी अनुपयोगिता के संबंध में तीव्र प्रतिक्रिया प्रकट की। जैसे-जैसे उनके काव्य का व्यक्तिवाद और भावात्मकता की ओर विकास होता गया, उन्हें नई शैली का आकर्षण खींचने लगा तथा परंपरागत शैली विकृत, कुरूप, कृत्रिम तथा भावहीन लगने लगी। अपनी शैली के प्रति महानता का भाव भी कवियों के संसार में परंपरागत है। डौन ने अपनी शैली को स्पेंसर की शैली से, ड्राइडन ने अपनी शैली को मेटाफिजिकल कवियों की कृत्रिम शैली से महान माना, उसी तरह वड्र्सवर्थ ने कहा कि उसकी नई शैली अधिक प्राकृतिक तथा स्वाभाविक है।

वड्र्सवर्थ से पूर्व काव्य शैली के निर्धारित नियमों के अनुसार काव्य भाषा की शब्दावली निश्चित थी तथा उसमें से निम्नकोटि के साधारण शब्दों को बहिष्कृत किया गया था। वड्र्सवर्थ विशिष्ट-काव्यगत युक्तियों जैसे मानवीकरण, वक्रोक्ति तथा व्याकरणगत स्वच्छंदताओं के विरुद्ध थे। उन्हें काव्य रचना में विपर्यय तथा वैषम्य नहीं भाता था। वे वस्तुपरिगणन-प्रणाली, अनावश्यक रूप से ठूंसी गई पौराणिक कथाएं, भावाभास, विलक्षणता, अस्पष्टता, शाब्दिक चमत्कार, दूरारूढ़ कल्पना, अतिशयोक्ति, कृत्रिमता के विरोधी थे इसलिए उन्होंने पोप के चांदनी दृश्य और ड्राइडन के रात्रि वर्णन की आलोचना की। वड्र्सवर्थ उपरोक्त त्रुटियों या दोषों को तभी स्वीकार्य मानते थे जब इनकी उपस्थिति के बावजूद कवि ने काव्य में सच्चे भावों की अंतर्धारा प्रवाहित की हो और इनका प्रयोग केवल युग की आवश्यकता के लिए किया हो। रचना में तीव्र अभिव्यक्ति एवं गांभीर्य की उपस्थिति अनिवार्य है। किंतु वड्र्सवर्थ ने काव्य-शैली के संबंध में जो आपत्तियां दर्ज कीं वे भाषा की शिथिलता के कारण आलोचना का विषय बनीं। वड्र्सवर्थ स्वयं अपने काव्य को इन त्रुटियों से नहीं बचा सके उनके काव्य में कहीं-न-कहीं न्यूनाधिक मात्रा में भावाभास, वक्रोक्ति, उलझी हुई भाषा, पुस्तकीय बहुवक्षर आदि का प्रयोग मिलता है। वे वास्तविक, जीवंत तथा कृत्रिम रूपकों में भेद स्पष्ट नहीं कर सके।

तत्कालीन अलंकृत भाषा के यांत्रिक अनुकरण को दूर करने के लिए उन्होंने भाषा की सरलता पर बल दिया। वर्ड्सवर्थ का मत है कि "सरल और ग्रामीण जीवन से यदि विषय चुने जाएंगे तो भाषा स्वयं सरल हो जाएगी।" वर्ड्सवर्थ ने काव्य भाषा के संबंध में लिखा कि–"वह जनसाधारण की भाषा हो और दूसरी बात यह कि छंदबद्ध रचना तथा गद्य की भाषा में न तो कोई तात्विक अंतर होता है न हो सकता है।" इस स्थापना के लिए उन्होंने तर्क प्रस्तुत किए कि गद्य की भाषा और कविता की भाषा दोनों की अभिव्यंजना करने वाली इंद्रियां तथा दोनों को ग्रहण करने वाली इंद्रियां एक ही हैं। इनके परिच्छेद एक ही तत्व से बने होते हैं तथा इनकी राग-रुचि भी परस्पर समान होती है। यहां जनसाधारण की भाषा के प्रयोग का तात्पर्य ग्राम्य भाषा से नहीं था। उन्होंने अपने मतों को परिष्कृत और परिवर्तित कर अपनी बात स्पष्ट की कि ग्राम्य भाषा यानी जनसाधारण की भाषा को परिष्कृत और परिवर्धित करके काव्य में प्रयोग करना चाहिए। वे कहते हैं भाषा selection of the real language of men होनी चाहिए अर्थात मनुष्यों की वास्तविक भाषा में से चुनाव करना चाहिए तो selection शब्द स्पष्ट कर देता है कि ग्राम्य भाषा को ज्यों का त्यों व्यवहार में न लाया जाए। वे कहते हैं–अभिव्यक्ति सरल, सीधी और आडंबरहीन होनी चाहिए जो पाठक के हृदय में अरुचि और वितृष्णा पैदा न करे। इसीलिए वे भाषा के चुनाव की बात कहते हैं ताकि इस विधि से कवि तुच्छता, सामान्यता तथा ग्राम्यत्व दोष से बच सकें भाषा सुगम तथा आडंबरहीन हो, प्राकृतिक तथा सार्वभौम हो। हृदय के तीव्र भावावेग को व्यक्त करने की सामर्थ्य रखती हो।

वर्ड्सवर्थ का भाषा सिद्धांत काव्य सिद्धांतों से घनिष्ठता रखता है। वे काव्य को भावावेग का उच्छलन मानते हैं और भावों के उच्छलन के समय भाषा हृदय से निकलती है जबकि चिंतन-मनन के बाद की भाषा गढ़ी हुई होती है। लेकिन जिस तरह चिंतन के पश्चात कवि का मनोमस्तिष्क परिष्कृत, उसका सहज भावावेग उच्च कोटि का, प्राणवान तथा ऊर्जस्वित हो जाता है। उसी तरह सच्चाई से किया गया विवेकपूर्ण चुनाव भाषा को गरिमायुक्त, सजीव, जीवंत बना देता है। वर्ड्सवर्थ भावोच्छलन के पक्ष में है किंतु उन्हें किसी विवेकहीन व्यक्ति का भावोच्छलन अभीष्ट नहीं है। वे सतर्क एवं विचारवान व्यक्ति के भावोच्छलन को पसंद करते हैं। वे कहते हैं, 'Poems to which any value can be attached were never produced on any variety of subject but by a man who, being possessed of more than usual organic sensibility, had also thought long and deeply.' यहां वर्ड्सवर्थ का कॉलरिज के विचारों से साम्य है क्योंकि वह भी कवि को विवेकी प्राणी मानते हुए चिंतन पर बल देता है। वर्ड्सवर्थ का मानना है कि "भावों की तीव्रता या तीव्र भावोच्छलन के समय जो अलंकारमयता काव्य-भाषा में आ जाती है वह स्वाभाविक होती है कृत्रिम नहीं। अत: उसका स्वागत होना चाहिए। उसे ग्रहण करना चाहिए। वे तीव्र भावावेग के साथ रूपक का संबंध जोड़ते उसे हुए स्वीकरणीय बताते हैं।"

वर्ड्सवर्थ की दृष्टि में सच्ची भाषा वह है जो मनुष्य भावावेग के क्षणों में बोलता है, कवि जितना ऐसी भाषा के निकट पहुंचेगा उसकी भाषा-शैली उतनी ही सच्ची मानी जाएगी। "The language of the poets falls shorts of that which is uttered by men in real life, under the actual pressure of those passions."

निष्कर्ष यह है कि वर्ड्सवर्थ तीव्र भावावेग के क्षणों में लिखी गई कविता को ही महान मानते हैं जिसमें तीव्र भावावेग के कारण ही उदात्त रूपक-शैली का प्रयोग किया गया हो। वे

भाषा की सरलता और साधारणता पर बल देते है। वर्ड्सवर्थ के भाषा सिद्धांत पर दृष्टिपात करें तो लगता है कि वे प्रकृतिवादी है। वे ग्राम्य गीतों तथा ग्राम्य भाषा का अनुकरण करने की बात कहते हैं तथा कलावाद और कृत्रिमता का विरोध करते हैं पर जब उनके सिद्धांतों पर सूक्ष्म गहन दृष्टि से चिंतन-मनन किया जाए तो मालूम होता है कि वे स्पेंसर, मिल्टन, चौसर तथा शैक्सपियर की कला को भी अपने प्रकृतिवाद में समन्वित कर लेते हैं। जिसे आरंभ में उन्होंने सामान्य भाषा कहा था। अंत में उनमें महान कवियों मिल्टन, शेक्सपीयर की उदात्त भाषा भी आ गई।

छंद

वर्ड्सवर्थ कविता को छंदमयी मानते हैं। उनका मत है कि छंद के कारण ही कवि को एक विशेष प्रकार की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। कहते हैं–छंद मनमाना न होकर उपयुक्त, नियमित और एकविध होना चाहिए, उसके नियम, नियत तथा निश्चित होने चाहिए। वे छंद को कविता के लिए अनिवार्य नहीं मानते पर उसकी महत्ता, शक्ति एवं प्रभाव से परिचित हैं। वे कहते हैं करुण दशा तथा भावांदोलन का जितना सफल चित्रण छंदमयी रचना में हो सकता है उतना गद्य में नहीं क्योंकि छंद विषय में संतुलित समन्वय बनाकर आनंद प्रदान करता है। छंद के संबंध में वर्ड्सवर्थ कहते हैं– "सामंजस्यपूर्ण छंदोबद्ध भाषा का संगीत, कठिनाई पर विजय पा लेने की भावना, इसी या इसी के सदृश रचना वाले छंद अथवा लय की कृतियों से पहले कभी प्राप्त आनंद से अलक्ष्य संबंध-संसर्ग, वास्तविक जीवन की भाषा के अत्यंत सदृश किंतु छंद के कारण उससे अत्यंत भिन्न होने का बार-बार होने वाला भाषा विषयक अस्पष्ट बोध–ये सब मिलकर अनजाने ही एक संश्लिष्ट हर्ष-भावना को जन्म देते हैं।" वर्ड्सवर्थ छंद को अनिवार्य न मानते हुए भी उसे कविता का एक गुण स्वीकार करते हैं।

3.8.2 काव्य भाषा सिद्धांत पर आपत्तियां

वर्ड्सवर्थ की भाषा विषयक एवं छंद विषयक मान्यताओं पर अनेक विद्वानों ने आपत्ति दर्ज की। 'लिरिकल बैलेड्स' के उनके साथी लेखक कॉलरिज ने भी उनकी मान्यताओं का खंडन किया। वर्ड्सवर्थ की यह मान्यता कि काव्य की भाषा और गद्य की भाषा में कोई तात्विक अंतर नहीं होता को वे अमान्य ठहराते हैं तथा कहते हैं कि–

1. वर्ड्सवर्थ का भाषा संबंधी नियम काव्य के कुछ विशिष्ट वर्गों पर ही लागू हो सकता है।
2. यह नियम हानिकारक न भी हो तो भी निरर्थक है। अतः इसके पालन की आवश्यकता नहीं है। वे गद्य-पद्य की भाषा में अंतर मानते हैं और यह अंतर छंद के कारण मानते हैं।
3. वे (कॉलरिज) मानते हैं कि मानवीय भाषा वही श्रेष्ठ हो सकती है जो मस्तिष्क में होने वाली क्रियाओं के बिंब द्वारा ग्रहण की जाती है। अर्थात वे बोलचाल की सामान्य भाषा को काव्य में प्रयोग करने के पक्षधर नहीं है। कॉलरिज को वर्ड्सवर्थ के तमस शब्द पर आपत्ति है (A selection of the real language), क्योंकि यह शब्द भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न अर्थ देगा।

4. कॉलरिज काव्य में छंद को अनिवार्य मानते है वर्ड्सवर्थ नहीं। मोटामोटी यह कहा जा सकता है कि वर्ड्सवर्थ ने नया काव्य भाषा सिद्धांत प्रस्तुत किया। काव्य को प्रकृति का अनुकरण मानते हुए भी उसे नया अर्थ प्रदान किया।

वे 18 वीं सदी के आचार्यों की तरह भावावेग में कविता की उत्पत्ति मानते हुए भी उसमें यह नया चिंतन जोड़ देते हैं कि वह भावावेग शांतिपूर्ण चिंतन के क्षणों का फल हो। वे कल्पना शक्ति को महत्वपूर्ण मानते हुए कहते हैं कि उसी के द्वारा कवि ब्रह्मांड की एकता का अनुभव करता है। उन्होंने काव्य में बहिरंग की अपेक्षा अंतरंग की महत्ता को प्रतिपादित किया तथा शैली की परिशुद्धता और अलंकृति के स्थान पर अन्तःस्फूर्ति और सहज भावोच्छलन को महत्व देकर रोमानी आलोचना का सूत्रपात किया। वे काव्य में भावों को महत्व देते हैं तथा 'सत्यं शिवं सुंदरम्' की प्रतिष्ठा पर बल देते हैं।

3.8.3 काव्य गुण संबंधी विचार

वड्र्सवर्थ ने भावनाओं के सहज उच्छलन तथा विराट् संवेदन को काव्य के आवश्यक गुण के रूप में स्वीकार किया है। वे कहते हैं–"काव्य के द्वारा पाठक का मस्तिष्क आवश्यक रूप से कुछ अंशों में प्रबुद्ध होना चाहिए और उसके भाव सशक्त और शुद्ध बनाए जाने चाहिए। भावना ही कार्य तथा स्थिति को महत्वपूर्ण बनाती है न कि कार्य। स्थिति से भावना को महत्व मिलता है। यही कारण है कि वे परियों, देवों की कथाओं की जगह किसानों, ग्राम्य बालाओं के चित्रण को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। क्योंकि इससे हृदय के मूल भावों को परिपक्व होने के लिए उर्वर भूमि प्राप्त होती है। उन्होंने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी —"All good poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotion recollected in tranquility." अर्थात "कविता मानव मन की बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन है तथा उसका उद्भव शान्त अवस्था में भाव के स्मरण से होता है।" वड्र्सवर्थ मानते हैं कि सत्काव्य की रचना में सहज भावावेग के पूर्व कवि की वृत्तियां सत् हो चुकी होती हैं। प्रकृति का रम्य वातावरण कवि की भावनाओं को व्यापक, वृत्तियों को तीव्र तथा मानस को द्रवित करने में सहायक होता है। कवि आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होकर सत्काव्य की रचना करता है। उच्च काव्य में निश्छलता को आवश्यक मानते हैं।

कल्पना संबंधी विचार

वड्र्सवर्थ कल्पना के अंतर्गत पारदर्शी अंतर्दृष्टि, मस्तिष्क की विशदता और सर्वोत्तम कोटि की बौद्धिकता और तर्कशीलता को लेते हैं। उनका विचार है कि उच्चकोटि की प्रतिभाएं कल्पना के बल पर प्रकृति की प्रतिकृति अंकित कर सकती हैं। वड्र्सवर्थ तथा कॉलरिज फैंटसी तथा कल्पना के संबंध में एकमत होते हुए कहते हैं फैंटसी का संबंध स्थिर तथा निश्चित वस्तुओं से है, जबकि कल्पना का संबंध परिवर्तनशील अनिश्चित तथा सुघट्य वस्तुओं से है। उदाहरण के लिए यदि कोई कवि सायंकालीन ओस-बिंदुओं को आकाश के आंसू कहे तो उसे फैंटसी समझना चाहिए और यदि मिल्टन के समान कोई कवि आदम के पूर्ण पतन पर आकाश को शोकपूर्ण अश्रु बहाते चित्रित करे तो उसे कल्पना का कार्य समझना चाहिए। कल्पना का महत्वपूर्ण तत्व है अंतर्दृष्टि। वड्र्सवर्थ ने इसका उल्लेख कम किया है इसलिए हम उनके कल्पना संबंधी चिंतन को गहन नहीं कह सकते।

काव्य प्रयोजन

वड्सवर्थ के अनुसार काव्य का प्रयोजन है कि वह पाठकों के हृदय पर सत्प्रभाव डाले, ज्ञानवर्धन करे, मानसिक नैतिक स्वास्थ्य व सुख के लिए उपयोगी हो। पाठकों की भावनाओं को परिष्कृत करे। भावनाओं को संतुलित, शुद्ध, विवेकपूर्ण, स्थायी तथा प्रकृति की तरह सरल, निश्छल और उदार बनाए ताकि वे जड़चेतन के प्रति करुणार्द्र हो सकें। वे जड़ता और उदासीनता का त्याग कर चैतन्य हो सकें। प्रकृति के रहस्य को समझ सकें।

वड्सवर्थ ने पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के लिए चिंतन का नया मार्ग प्रशस्त किया। अत: उनकी देन की अवहेलना नहीं की जा सकती।

3.9 आई. ए. रिचर्ड्स का मूल्य-सिद्धांत एवं काव्य भाषा

यूरोपीय काव्यशास्त्री रिचर्ड्स मूलत: मनोवैज्ञानिक हैं। मनोविज्ञान के क्षेत्र से साहित्य में आने के कारण उनके काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों पर मनोविज्ञान का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वे आलोचक के लिए मनोविज्ञान के अध्ययन को आवश्यक मानते हुए कहते हैं कि मानव की मानसिक प्रक्रियाओं एवं साहित्य के बीच गहन संबंध है। इस संबंध को स्पष्ट करते हुए उन्होंने आलोचना को नई दिशा एवं दृष्टि प्रदान की। काव्य का प्रयोजन बताते हुए वे 'संवेगों के संतुलन' का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं।

3.9.1 संवेगों का संतुलन

रिचर्ड्स के अनुसार "कविता का मूल्य उसकी मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर है" अर्थात जो कविता मन को जितना अधिक प्रभावित कर सकती है वह उतनी ही मूल्यवान होगी। Arts are the supreme form of the communicative activity. जिस कविता में communication power जितनी अधिक होगी अर्थात अभिव्यंजना की शक्ति, अभिव्यक्त करने की क्षमता, अपना अर्थ संप्रेषित करने की क्षमता जितनी अधिक होगी वह उतनी ही प्रभावशाली होगी तथा उत्कृष्ट कहलाएगी। रिचर्ड्स कहते हैं कि यदि हम नाड़ी या शिरा (nerve) विषयक व्यवस्था को समझ लें तो मन को भलीभांति समझ पाएंगे। क्योंकि मन शिरा या नाड़ी विषयक व्यवस्था या उसकी आंशिक क्रियाशीलता ही मन है। इसलिए जो कविता के अनुकूल या शिरा विषयक व्यवस्था के उपयुक्त होगी वह कल्याणकारी, मंगलमयी होगी। कविता का मूल्य वैज्ञानिक धरातल पर सूक्ष्म अध्ययन करके जानना होगा, इसलिए शिरा विषयक अध्ययन आवश्यक है।

रिचर्ड्स कहते हैं "मन के विभिन्न आवेगों के कारण उसका संतुलन भंग हो जाता है। मन में संतुलन स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि वे सारे आवेग व्यवस्थित और एकस्वर हो जाएं। मनुष्य के जीवन में ऐसी संतुलन-असंतुलन की स्थितियां उत्पन्न होती रहती हैं। कविता का प्रयोजन यही है कि वह मन के आवेगों में संगति और संतुलन स्थापित कर एक-स्वर अवस्था उत्पन्न करे। आवेगों को ऐसा क्रम दे कि वे मन को अथवा शिरा विषयक व्यवस्था (नाड़ी संस्थान) को आराम पहुंचाए तथा संतुलन की स्थिति उत्पन्न करे। उत्कृष्ट कविता का प्रभाव आत्म संपादन होता है। अर्थात स्वयं को शांत, व्यवस्थित

करना। यही आवेगों के संतुलन का सिद्धांत है। आगे इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं "भाव को उत्पन्न कर देना ही साहित्य का मूल्य नहीं है। किसी भी अनुभव के द्वारा जो प्रवृत्तियां उत्पन्न की जाती हैं, वे महत्वपूर्ण हैं।" वे कहते हैं "कला का प्रयोजन सूक्ष्मानुभूति नहीं है। कला सुख के लिए नहीं अभिव्यक्ति के लिए है। कलाकार को अपनी सफल अभिव्यक्ति का अनुभव ही सुख प्रदान करता है कि उसने अपनी बात पूरी तरह और ठीक-ठीक कह दी। साहित्य का महत्व इस बात में है कि वह मानवीय संवेदनाओं को जाग्रत करे, मानवीय अनुभूतियों के क्षेत्र को व्यापक बनाए तथा मनुष्यों को परस्पर सहयोग के लिए प्रेरित करे। वह आत्मकेंद्रित होने के भावों को दूर कर सके। रिचर्ड्स कहते हैं "कलात्मक संतुलन की अवस्था मन की शून्यावस्था से भिन्न होती है तथा उत्तेजना पूर्ण अवस्था से अलग होती है। साहित्य का प्रयोजन यह होना चाहिए कि मन में संतुलन के साथ बाह्य गतिविधियों के लिए तत्परता भी हो।"

3.9.2 साहित्य और विज्ञान में भेद

रिचर्ड्स कहते हैं कि जब हम कहते हैं कि आग के ताप से वायु हल्की होकर ऊपर की ओर उठती है तो यहां हम दो सच्ची वस्तुओं के सच्चे संबंध की बात कहते हैं। यह वैज्ञानिक कथन है। लेकिन ऐसा कथन, जो मानव के भावों और अंतर्वेगों को जाग्रत करे तो वह साहित्यिक कथन होगा। रिचर्ड्स के अनुसार मनुष्य के मानसिक अनुभवों के दो स्रोत हैं–पहला, बाह्य जगत्। इसका संबंध विज्ञान से है जिसके निर्देशों का आधार वास्तविक होता है तथा जिसे समझने के लिए न्यायात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है। दूसरा स्रोत-शारीरिक अवस्थाएं–जिनका संबंध साहित्य से है तथा जिसके निर्देशों का मूल्य उसके भावों और अंतर्वेगों को जाग्रत करने की क्षमता से आंका जाता है। कलाकार के निर्देश और तर्क अंतर्वेगीय होते हैं। अंतर्वेग मन की भावनात्मक वृत्ति है। साहित्यिक कृति को समझने के लिए कल्पना की आवश्यकता होती है। रिचर्ड्स सत्य का संबंध विचार से, शिव का संबंध इच्छा से मानते हैं किंतु सुंदर का संबंध भाव से नहीं मानते। वे कहते हैं सौंदर्यगत भाव यानी ऐस्थैटिक अनुभव के विशिष्ट गुण माने जाने वाले तत्व उदासीनता, वियोग, फासला, अवैयक्तिकता और आंतरिक व्यापकता, गुण न होकर अभिव्यक्ति (निवेदन) की दशा या उसके प्रभाव की विशेषताएं हैं। निवेदन या अभिव्यक्ति, कला का तात्विक धर्म है। वही ऐस्थैटिक अनुभव ठीक है जो दूसरों के प्रति निवेदन में सफल है। अर्थात वही सौंदर्यानुभूति सफल है जो सफलतापूर्वक अभिव्यक्त हो सके।

कल्पना

रिचर्ड्स कॉलरिज के बड़े समर्थक हैं। उन्होंने कल्पना के छह भेद किए हैं–

1. हम उसके द्वारा उन वस्तुओं की प्रतिमा का निर्माण करते हैं जो हमें नेत्रों से स्पष्ट दिखाई देती है,
2. कल्पना अलंकारिक भाषा से संबद्ध है यानी कवि भावाभिव्यक्ति में रूपक, श्लेष आदि का प्रयोग करता है जिसमें कल्पना सहायक बनती है,
3. कल्पनाशील साहित्यकार दूसरे के मनोवेगों या चित्त की अवस्था का सटीक और सहानुभूतिपूर्ण वर्णन करता है,

4. कल्पना युक्ति कौशल की द्योतक है,

5. वैज्ञानिक कल्पना,

6. वह ऐसी मायिक और संयोगिक शक्ति है जो विपरीत और विस्मय गुणों को संतुलित कर देती है। रिचर्ड्स इसी छठे भेद को सर्वोच्च मानता है।

व्याख्याता का कार्य

व्याख्याता को कृतिकार की प्रतिभा में पूर्णत: लीन होकर उसके भावों को अनुभव कर पूर्ण संवेदनशीलता के साथ उसकी कृति का पुनरुत्थान करना चाहिए फिर तार्किक बुद्धि से उसे अभिव्यक्त करना चाहिए। वह कृति के भावों में डूबकर आशय को समझे उसकी ध्वनि को आत्मसात करे और उद्देश्य को समझकर उसे अभिव्यक्ति दे। व्याख्याकार की प्रवृति की संवेदनशीलता ही उसकी ग्रहणशीलता में सहायक बनती है। इस मार्ग में कई घातक तत्व हैं जो ग्रहणशीलता में बाधक बनते हैं। असंगत स्मृतियां, सन्नद्ध प्रतिक्रियाएं, अतिभावुकता तथा निरोध। इसके अतिरिक्त किसी सिद्धांत के प्रति या धर्म के प्रति हमारी आसक्ति, अंधआस्था, रचनाकौशल सम्बंधी पूर्वकल्पना तथा हमारी आलोचनात्मक पूर्व धारणाएं भी अर्थग्रहण में बाधक बनती हैं। व्याख्याता को इन बाधाओं से बचना चाहिए तथा स्वयंपूर्ण व्यक्तित्व वाला, निर्लिप्त, ईमानदार, विद्वान, कर्मठ तथा आत्मसंपूर्ण होना चाहिए।

रिचर्ड्स रूढ़ नैतिकता के स्थान पर प्रकृतिवाद-विषयक नैतिकता के पक्ष में हैं। वे कहते हैं कि कला मूल्यवान अनुभव प्रदान करती है। कलाकार की अनुभूतियों में ऐसे आवेगों का संतुलन दिखाई देता है जो सामान्य मनुष्यों में अधिकतर अस्त-व्यस्त तथा द्वंद्व से घिरे होते हैं। अत: कला की उपयोगिता और सफलता, सार्थकता, सिद्धि इसी बात में है कि वह आवेगों का संगठन करे। उसमें संतुलन स्थापित करे। ऐसी परिस्थितियां निर्मित करे जो नकारात्मकता, द्वंद्व, बुभुक्षा, विरोध का परिहार कर सकारात्मक, संतुलित और शांत जीवन की ओर प्रेरित करें। रिचर्ड्स मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कलाकार के लिए नैतिकता को स्वाभाविक मानते हैं।

रिचर्ड्स 'कला कला के लिए' सिद्धांत का विरोधी है। वे काव्य में साधारणीकरण को आवश्यक मानते हैं। वह कहता है 'जो काव्यानुभूति को संसार से अलग देखता है उसमें असंतुलन, संकीर्णता और एकांगिता आ जाती है। अत: काव्यानुभूति संसार से पृथक की चीज नहीं है यह माना जाए तभी मन में आवेगों का संतुलन होगा, दृष्टि व्यापक होगी तथा विश्वजनीनता के भाव उत्पन्न होंगे। वे नैतिकता को मनोवैज्ञानिक मानववादी दृष्टि से निर्धारित करते हैं। उनके अनुसार अच्छा (Good) वही है जो मूल्यवान हो और मूल्यवान वह है जो मन में संगतिपूर्ण संतुलन स्थापित करे। उन्होंने समीक्षा के परंपरागत मतों (धार्मिक, नैतिक, सौंदर्यशास्त्रीय) का विरोध करते हुए शुद्ध मनोवैज्ञानिक मत प्रस्तुत किए। उनका मनोवैज्ञानिक, आदर्शवादी, मानववादी दृष्टिकोण पाश्चात्य काव्यशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण देन है जो प्रेरक भी है और पूरक भी।'

3.9.3 रिचर्ड्स की काव्य-भाषा

रिचर्ड्स ने काव्य-भाषा के दो रूप माने हैं-(क) वैनिक (ख) रागात्मक।

वैज्ञानिक भाषा में निरूपण या निर्देशन अभिमत होता है, जबकि रागात्मक भाषा में भाव का उद्‌बोधन। एक में भाषा सीधी, सरल और सपाट होती है तथा दूसरी में रमणीयता-संपन्न।

भारतीय आचार्य भामह ने भी भाषा के दो भेद किये हैं, जो रिचर्ड्स से मिलते-जुलते हैं। उनके अनुसार वैज्ञानिक भाषा 'वार्ता' है और रागात्मक भाषा 'वक्रता'।

इन्हीं को क्रमशः स्वभावोक्ति प्रधान तथा वक्रोक्ति प्रधान कहा जा सकता है। प्रश्न उठता है कि भाषा के भावोद्बोधक प्रयोग की क्या विशेषताएं हैं? किन तत्वों के प्रयोग द्वारा काव्य भाषा भाव जगाने में समर्थ होती है। इस संदर्भ में रिचर्ड्स ने भाषा के विभिन्न तत्वों का विवेचन करते हुए काव्य-भाषा में अर्थ के प्रमुख तीन प्रकार होते हैं–

1. **मुख्यार्थ या वस्तु बोध–** वस्तु-स्थिति की परिचायिका शब्द-शक्ति।
2. **वचन-भंगी या ध्वनि–** सहृदयता या श्रोता के प्रति लेखक की चेष्टा या मनोभाव।
3. **उद्देश्य–** कलाकार का अभिप्राय जो उसके अनुभव आदि की समग्रता को विशिष्ट बनाता है।

रिचर्ड्स के अनुसार श्रेष्ठ काव्य-भाषा में इन सब तत्वों की सहज योजना रहती है, किंतु प्रकरण के अनुसार तीनों की मात्रा में अंतर हुआ करता है। जैसे विज्ञान में मुख्यार्थ प्रधान होता है, किंतु काव्य में भावना की प्रधानता होती है। जहां भावना की प्रमुखता होगी, वहां भाषा स्वभावतः रागात्मक हो जाएगी।

मूल्यांकन– रिचर्ड्स के विचार मौलिक और चमत्कारपूर्ण हैं। उन्होंने पहली बार अंग्रेजी साहित्य में व्यापक और व्यवस्थित सौंदर्यशास्त्र के निर्माण का श्लाघनीय प्रयास किया है। उन्होंने आलोचना का एक पूर्ण और स्वतंत्र शास्त्र प्रस्तुत किया। इसके लिए उन्होंने मनोविज्ञान को अपनी आलोचना पद्धति का आधार बनाया है, साथ ही मानव-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान जैसे नव विकसित विज्ञानों का भी उपयोग किया है।

रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत के केंद्र में व्यक्ति है, समाज नहीं। क्योंकि मनोविज्ञान की जिन शाखाओं पर उनकी आलोचना पद्धति आश्रित है, वे व्यक्ति मूलक हैं। इसलिए अपनी समग्र मीमांसा के मूल में चाहे वह मूल्य की मीमांसा हो या नैतिकता की, व्यक्ति को ही रखा है। उन्होंने आर्नल्ड की तरह समाज और संस्कृति की बात कभी-कभी उठाई है, परंतु उसका पल्लवन नहीं किया। मूल्य और संप्रेषण रिचर्ड्स की आलोचना के आधार स्तंभ हैं। मूल्य का संबंध आवेगों की संतुष्टि है और संप्रेषण का संबंध भाषा से है। इसी कारण उनकी आलोचना-पद्धति मनोवैज्ञानिक या अर्थवैज्ञानिक कही जाती है।

रिचर्ड्स काव्य के प्रयोजन में आनंद को स्थान नहीं देते, अपितु उसके स्थान पर काव्य का एकमात्र प्रयोजन आवेगों की संतुष्टि के द्वारा 'संतुलित विश्रांति' की उपलब्धि मानते हैं।

रिचर्ड्स के आलोचना सिद्धांतों पर मूलतः अरस्तू, अर्नाल्ड, जार्ज सांतायना और फ्रायड आदि का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। रिचर्ड्स में विषयांतर, विरोधाभास, स्वल्पता, अनावश्यक शुष्कता आदि त्रुटियां लक्षित होती हैं। फिर भी अंग्रेजी भाषा जगत में उनका बहुत मान और प्रभाव रहा है। तो भी, इलियट की अपेक्षा रिचर्ड्स का चिंतन अधिक वैज्ञानिक, क्रमबद्ध और पूर्ण है। हिंदी में शुक्ल जी ने भी रिचर्ड्स की चर्चा की है।

3.10 टी.एस. इलियट के काव्य सिद्धांत

थॉमस स्टीयर्न्स इलियट का जन्म अमेरिका में हुआ। आधुनिक पाश्चात्य साहित्यकारों में इनका विशिष्ट स्थान है। इलियट बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे। वे एक साथ उच्चकोटि के नाटककार, युग-कवि, मूर्धन्य समीक्षक, पत्रकार, साहित्य सिद्धांतकार तथा संपादक रहे। इलियट के पांच कविता संग्रह व छह नाटक हैं तथा उनके भाषणों एवं निबंधों के संग्रह उनकी समालोचना कृतियों के रूप में विख्यात है जो उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं। इलियट स्वाध्याय के धनी थे। उन्होंने पूर्ववर्तियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का गहन अध्ययन किया और उन पर लेख लिखे जो उनके साहित्य के प्रति अनुराग को दर्शाते हैं। उन्होंने दान्ते, शेक्सपीयर, मिल्टन, कॉलरिज, वड्सवर्थ आदि पर लेख लिखे।

पाश्चात्य साहित्य पर दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि वहां महान कवि ही महान आलोचक हुए हैं। इलियट तो इसी बात पर विश्वास करते थे कि कवि आलोचक ही महत्वपूर्ण आलोचना कर सकता है। शायद यही कारण है कि उनकी कविताओं में उनकी आलोचना ही प्रतिबिंबित होती है।

बीसवीं सदी के आरंभ से ही रोमानी एवं मानवतावादी अवधारणाओं का विरोध आरंभ हो गया था। इलियट भी इससे सहमत थे तथा स्वच्छंदतावाद के विरोध में खड़े थे। इंग्लैंड में ह्यूम ने स्वच्छंदतावाद और मानववाद के विरोध में, कला तथा साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में क्लासिसिज्म (शास्त्रवाद) की पुन: स्थापना का प्रयास बीसवीं सदी के आरंभ में किया। इलियट ने इस प्रयास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। क्योंकि वे अपनी शास्त्रवादप्रियता के लिए भी जाने जाते थे तथा उनकी आलोचना भी इसी कारण नवशास्त्रवादियों जैसे ड्राइडन, जॉनसन आदि की परंपरा में जोड़ी जाती थी। इलियट ने ऐसे आलोचना-सिद्धांतों का प्रतिपादन भी किया जिन्होंने साहित्यिक आलोचना को व्यापक रूप से प्रभावित किया तथा जो नवशास्त्रवादी नहीं कर सके थे। इन्हीं आलोचना-सिद्धांतों ने इलियट को प्रतिष्ठा के शिखर पर बिठाया।

3.10.1 इलियट का आलोचनात्मक दृष्टिकोण

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में जब इलियट ने आलोचना के क्षेत्र में कदम रखा तब वहां दो तरह की समीक्षा दृष्टियां रखने वाले दो संस्थान सक्रिय थे। एक तो प्रभाववादी समीक्षक थे जो भाव प्रवणता पर बल देते थे। उनका कहना था, आलोचक में उच्च कोटि की सौंदर्यपरक संवेदना या बोध होना पर्याप्त है ताकि वह आलोच्य कृति के भावों को गहनता से ग्रहण कर उसे अभिव्यक्त कर सके। ये लोग हर तरह की विद्वत्ता, आलोचना-सिद्धांत और साहित्यिक परंपराओं को अनावश्यक मानते थे। दूसरा समूह प्रत्ययवादी या बुद्धिवादियों का था जो कृति के बौद्धिक विश्लेषण को महत्व देते थे। ये आलोच्य कृति को दार्शनिक, समाजशास्त्री, ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचित कर इनका संबंध अनावश्यक रूप से कृति से जोड़ देते थे। इलियट ने दोनों का विरोध किया। ये दोनों अपूर्ण आलोचक थे। प्रभाववादियों की आलोचना में आलोचक आलोच्यकृति से जो प्रभाव ग्रहण करता है उसमें अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ता, घटाता और परिवर्तित करता है तथा प्रत्ययवादियों की आलोचना साहित्यिक न होकर सामाजिक अधिक हो जाती है अत: ये दोनों अशुद्ध और अपूर्ण आलोचनाएं हैं। ऐसा

इलियट ने माना और इनकी आलोचना करते हुए दो निबंध लिखे 'The Perfect Critic' और 'The Imperfect Critic'। उन्होंने ऐसी आलोचनाओं के प्रतिनिधि आलोचक कवि आर्नल्ड की 'प्रचारवादी आलोचक' कहकर कटु आलोचना की।

इलियट ने 'The Function of Criticism' निबंध में आलोचना के सही रूप पर प्रकाश डाला। इलियट आलोचना का प्रमुख साधन तथ्य बोध को मानते हैं। यह तथ्य ज्ञान आलोचक को गुमराह होने से बचाता है। तथ्य बोध से तात्पर्य आलोचक की वस्तुनिष्ठता से है। आलोचक का वस्तुनिष्ठ होना आलोचना का अनिवार्य साधन है।

इलियट कहते हैं– सच्ची आलोचना या स्वस्थ आलोचना वह है जिसमें आलोचक आलोच्यकृति की अच्छाई-बुराई, पक्ष-विपक्ष पर अपना मत व्यक्त न करे बल्कि उस कृति के अंदर स्थित तथ्यों का विश्लेषण करके मत दे। अर्थात विवेचना के नाम पर मात्र तथ्यों का विश्लेषण एवं प्रस्तुतीकरण ही स्वस्थ आलोचना है।

आलोचना का दूसरा साधन तुलना को मानते हुए इलियट कहते हैं कि आलोचक को आलोच्य कृति की तुलना प्राचीन कवि और उनके ग्रंथों से करनी चाहिए। इलियट कहते हैं कि आलोचक को तथ्यों का स्वामी होना चाहिए नौकर या दास नहीं। यह भी कहते हैं कि काव्य रचना करते समय कवि या रचनाकार विश्लेषण, संघटन, निर्माण, संशोधन, जोड़ना-घटाना, खोजना, परिवर्तित करना जैसे श्रम करता है। तब कहीं रचना तैयार होती है। इसलिए उच्चकोटि का काव्य-सृजन बिना आलोचनात्मक श्रम के संभव नहीं है यह मानना होगा तथा यह भी कि कवि-आलोचक की आलोचना सर्वाधिक विश्वसनीय एवं श्रेष्ठ होती है।

इलियट कहते हैं आलोचना के दो प्रकार होते हैं प्रथम सैद्धांतिक, जिसमें जाना जाता है कि कविता क्या है? द्वितीय व्यावहारिक, जिसमें यह जाना जाता है कि कविता अच्छी है तो क्यों? आलोचना के ये दोनों भेद जुड़े हुए एवं अविभाज्य हैं। इलियट आलोचना की सीमा निर्धारित करते हुए कहते हैं कि आलोचक को साहित्य संबंधी ज्ञान की विविध शाखाओं–समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, मानवशास्त्र आदि का उपयोग कम से कम उतना ही करना चाहिए जितना अनिवार्य हो, उसे (आलोचना के समय) इन विषयों का व्याख्याता नहीं बनना चाहिए।

बीसवीं सदी के आरंभ तक स्वच्छंदतावादी काव्य-परंपरा का 'वैयक्तिक काव्य-सिद्धांत' प्रभावी था। इलियट ने इसका विरोध करते हुए निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत प्रतिपादित किया।

3.10.2 परंपरा और वैयक्तिक प्रज्ञा

इलियट कहते हैं कि किसी भी कलाकार या रचनाकार का मूल्यांकन करना हो तो वह पूर्ण और सार्थक तभी होगा जब हम उसकी तुलना प्राचीन रचनाओं और रचनाकारों से करेंगे। इलियट के शब्दों में "कोई भी कवि, किसी भी कला का कोई भी कलाकार अकेले अपनी पूरी अर्थवत्ता सिद्ध नहीं कर पाता। उसकी महत्ता, उसका विवेचन मृत कवियों एवं कलाकारों के साथ उसके संबंध का विवेचन है। उसका अकेले का मूल्यांकन आप नहीं कर सकते। तुलना के लिए आपको उसे भी मृतों के साथ रखना होगा।" परंपरा से इलियट का तात्पर्य 'इतिहासबोध' से है। इसी इतिहासबोध के कारण हम होमर से आज तक की सभी रचनाओं और रचनाकारों की प्रवृत्तियों से परिचित हैं। इलियट की परंपरा मात्र रूढ़ि नहीं है, वरन्

चिर-गतिशील सर्जनात्मक संभावनाओं की समष्टि है। काव्य में जीवंतता और परिपक्वता लाने के लिए इलियट रचनाकार का परंपरोन्मुखी होना आवश्यक मानते हैं तथा यह भी कि इसके लिए रचनाकार रचना में सार्वभौम, विश्वजनीन, सामूहिक संवेगों की अभिव्यक्ति करे। चूंकि व्यक्ति मानस से परंपरा मानस कहीं अधिक मूल्यवान, महत्वपूर्ण एवं सार्वजनीन होता है इसलिए उन्होंने परंपरा से अविच्छिन्न रूप से जुड़े निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

इलियट घोषणा करते हैं कि धर्म में एंग्लो-कैथोलिक, राजनीति में-राजभक्त तथा साहित्य में अभिजात्यवादी होते हैं। अभिजात्य यानी 'क्लासिक'। वे कला एवं साहित्य में व्यवस्था एवं अनुशासन के पक्षपाती हैं। इसलिए आलोचना का अभिगम 'क्लासिकल' मानते हैं। वे अभिजातकृति अर्थात 'क्लासिक' को प्रौढ़ सभ्यता की प्रौढ़ भाषा साहित्य की प्रौढ़ कृति मानते हैं जिसकी रचना प्रौढ़ मस्तिष्क के द्वारा संभव होती है। प्रौढ़ साहित्य में तत्कालीन समाज की प्रौढ़ता का प्रतिबिंब होता है इसलिए कह सकते हैं कि इसके पीछे एक सुदीर्घ परंपरा अथवा भाषा साहित्य की प्रगति का इतिहास होता है। अर्थात प्रौढ़ साहित्य का रचनाकार अपने अतीत या पूर्ववर्ती प्राचीन साहित्य के प्रति आस्था रखता है। उसका सतर्कता से अध्ययन कर पूर्वजों के संस्कार, आचार-विचार का अपने प्रौढ़ मस्तिष्क से रचना में उपयोग करता है। अभिजातकृति व्यापक और प्रभावशाली होती है। वह मर्मस्पर्शी और जातीय चरित्रों का उत्कृष्टता से निदर्शन करने वाली होगी। निष्कर्ष यह है कि इलियट यहां भी परंपरा पर बल देते हैं।

3.10.3 निर्वैयक्तितावाद का सिद्धांत

'Tradition and Individual Talent' नामक निबंध में इलियट लिखते हैं कि अतीत मरता नहीं बल्कि वर्तमान में जिंदा रहता है। यदि हम किसी कवि की रचना का विश्लेषण करें तो पाते हैं कि उस रचना के सर्वोत्तम अंश या सर्वाधिक वैयक्तिक अंशों में अतीत के साहित्यकारों का प्रभाव प्रतिबिंबित होता दिखाई देता है। तात्पर्य यह है कि श्रेष्ठ या महान सृजन के लिए परंपरा का अंश अनिवार्य है। साहित्यकार अतीत से कुछ लेता है फिर उसमें जोड़-घटाकर परिवर्तित करके उसे कुछ देता है। यह लेन-देन साहित्य की परंपरा है। रचनाकार जब अतीत की परंपरा को परिवर्तित कर, कुछ जोड़ता-घटाता है तो अतीत का यह परिवर्तित स्वरूप सौंपते हुए आत्मप्रकाशन करता है। रचनाकार की प्रवृत्तियों का, संस्कारों का, दृष्टिकोण का पता चलता है। लेकिन अतीत से परंपरा को लेते हुए वह आत्म का अवसान करता है। अहम को भूलकर, अपने निजी को भूलकर, खुले हृदय से प्राप्त करता है। क्योंकि अतीत से लेना महत्वपूर्ण है। इसीलिए वह आत्मोत्सर्ग करता है, आत्म-समर्पण करता है। उसके इस आत्म-समर्पण आत्मोत्सर्ग से ही उसका विकास पथ निर्धारित होता है। वस्तुत: कलाकार या रचनाकार की प्रगति एक सतत या निरंतर आत्मोत्सर्ग, आत्मसमर्पण या व्यक्ति तत्व के तिरोभाव की प्रक्रिया है। इलियट लिखता है– 'The Progress of an Artist is a continual self-sacrifice, a continual extinction of personality.' यह आत्मोत्सर्ग की कलात्मक क्रिया ही निरंतर निर्वैयक्तीकरण की प्रक्रिया कहलाती है। जिसमें कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही नहीं बल्कि अवसान भी होता है। रचनाकार आत्म-प्रकाशन नहीं बल्कि उसका तिरोभाव या अवसान करता रहता है।

इलियट कवि को माध्यम मानता है। कवि काव्य, सृजन प्रक्रिया का ऐसा माध्यम है जो अपने मन पर पड़े प्रभावों और अनुभवों को विलक्षण रीति से संयुक्त करके, समन्वित करके इस तरह अभिव्यक्त करता है कि वह अभिव्यक्ति यानी काव्य रचना उसके व्यक्तिगत, निजी जीवन के अनुभव प्रभावों से स्वतंत्र, निरपेक्ष और सार्वजनीन होती है। इलियट 'परंपरा एवं वैयक्तिक प्रज्ञा' में लिखते हैं "कवि के पास अभिव्यक्त करने के लिए कोई 'व्यक्तित्व' नहीं होता। एक विशिष्ट माध्यम होता है, जो केवल एक माध्यम होता है व्यक्तित्व नहीं। जिसमें मन पर पड़े हुए प्रभाव अजीब और अप्रत्याशित ढंग से संयुक्त होते हैं। हो सकता है कि व्यक्ति के लिए जो प्रभाव और अनुभव महत्वपूर्ण हों वे काव्य में कोई स्थान ग्रहण न करें और जो काव्य में महत्वपूर्ण हो जाएं उनका योग कवि व्यक्ति में, व्यक्तित्व में, नगण्य हों।" उदाहरणस्वरूप देखें कि ऑक्सीजन और सल्फर डाई ऑक्साइड से भरे जार में यदि प्लेटिनम का एक टुकड़ा डाल दिया जाए, तो दोनों मिलकर सल्फर ऐसिड में बदल जाएंगे। किंतु प्लैटिनम का टुकड़ा विकारहीन रहेगा। ठीक इसी तरह सृजन प्रक्रिया के दौरान कवि मानस प्लैटिनम के टुकड़े की भांति निर्विकार रहता है। माध्यम बना रहता है।

इलियट कवि व्यक्तित्व और कविता के बीच संबंध स्वीकार नहीं करते। किसी कवि के व्यक्तित्व की महानता या उपदेशात्मकता के कारण कविता महान नहीं बनती बल्कि वह महान कृति इसलिए बनती है कि उसमें रचनाकार का निस्पृह मस्तिष्क कार्यरत होता है। जो विशिष्ट एवं विभिन्न भावनाओं का स्वच्छंदतापूर्वक निर्विकार भाव से बिना किसी पूर्वाग्रह या दुराग्रह के मिश्रण करके नवीन सृजन करता है। रचना की इसी निर्वैयक्तिकता, निस्पृहता अथवा तटस्थता को महत्व प्रदान करते हुए इलियट लिखते हैं– 'But the more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creats' अर्थात कलाकार जितना अधिक पूर्ण होगा उसके सृजन में लगे हुए आक्रांत मन में पृथकत्व उतना ही अधिक होगा।

तात्पर्य यह है कि निर्वैयक्तिक होने से उदात्तता तो बढ़ती ही है, पूर्णता भी बढ़ती है। कवि की दृष्टि आत्म को भूलकर दाता रचनाकार की कोटि में आ जाती है। इलियट काव्य में अत्यधिक निजीपन के स्थान पर सार्वजनीन मनोभावों की अभिव्यक्ति को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। व्यक्ति रचनाकार परंपरा से प्रभावित होता है और परंपरा को प्रभावित करता है। निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत को पुष्ट करती हुई उनकी काव्य की परिभाषा है–"कविता भाव का स्वच्छंद प्रवाह नहीं, भाव से पलायन है, व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, उससे मुक्ति का नाम है।"

इलियट के काव्य की अवधारणा से संबंधित दो महत्वपूर्ण कथन हैं 'वस्तुनिष्ठ समीकरण' तथा 'भावबोध वियोजन'। इलियट कहते हैं कि 'कवि के मनोभावों का सहृदय तक सीधा-सीधा संप्रेषण नहीं हो पाता अर्थात या तो कवि जटिलता के कारण अपने भावों को समझा नहीं पाता या सहृदय समझ नहीं पाता। इसीलिए कवि को चाहिए कि वह अपने काव्य में चुनी हुई श्रेष्ठ वस्तुओं, स्थितियों, चित्रों, घटनाओं का ही उपयोग करें ताकि इनके माध्यम से वह अपने मनोभावों (संवेगों) को सहृदय तक ठीक से संप्रेषित कर सके और सहृदय उन भावों से अपना तारतम्य स्थापित कर सके, समझ सकें।'

इलियट का दूसरा कथन है, 'भाव बोध वियोजन' यानी 'हृदय बुद्धि का पृथक्करण या अलगाव।' इलियट के अनुसार यह दोष स्वच्छंदतावादी एवं विक्टोरियन कवियों में पाया जाता है। ये बुद्धि और हृदय अर्थात भावना के समन्वित महत्व को नहीं समझते। बुद्धि और भावना के एकीकरण के कारण ही 17वीं शती के आरंभ तक महान काव्य रचा जाता रहा। बाद के कवियों ने भाव-बोध वियोजन को स्वीकारा जिसे दुर्घटना कहा जा सकता है। भाव-बोध एकीकरण या समन्वय से ही उत्तम काव्य की सृष्टि संभव है।

इलियट का महत्व

इलियट ने साहित्यानुशीलन के लिए तथ्य बोध संबंधी वैज्ञानिक पद्धति पर बल दिया जिससे रचना का उसके वास्तविक रूप में जांच-परख और प्रतिस्थापन हुआ। उनका निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत आलोचक एवं कवि को नई दिशा एवं दृष्टि देने वाला है। इलियट स्वयं को अभिजात्यवादी कहते हैं लेकिन उनके अभिजात्यवाद तथा नवशास्त्रवादियों के आभिजात्यवाद में अधिक समानता नहीं है। उन्होंने 'परंपरा एवं वैयक्तिक प्रज्ञा' में काव्य मूल्यांकन के लिए अतीत के आलोचकों द्वारा निर्धारित नियमों का तिरस्कार किया। इलियट की आलोचना व्यक्ति साहित्यकार के अनुभवों पर आधारित आलोचना है इसलिए वह अधिक महत्वपूर्ण है। इलियट पाश्चात्य काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण स्तंभ हैं। जिनके सिद्धांतों ने परवर्ती पाश्चात्य आलोचकों को चिंतन-मनन की नई दिशा दी।

गतिविधि

अपने मित्रों के साथ मिलकर अरस्तू के त्रासदी सिद्धांत पर एक लघु नाटिका का मंचन करें।

क्या आप जानते हैं?

पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में टी.एस. इलियट ऐसे काव्य-सृष्टा और आलोचक हैं जिनके काव्य और चिंतन में एकरूपता मिलती है।

3.11 सारांश

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परंपरा का मूल यूनान में माना जाता है। सुकरात के शिष्य प्लेटो को प्रथम पाश्चात्य समीक्षक होने का गौरव प्राप्त है। माना जाता है कि प्लेटो के समय का समाज पतित एवं विकृत दशा में था। वे अपने समाज का उत्थान करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने साहित्य और ज्ञान की हर विधा को सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से परखा। तत्कालीन रचे जा रहे साहित्य को, काव्य को उन्होंने हीन दृष्टि से देखते हुए उस पर आरोप लगाए। हालांकि प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने इन आक्षेपों का समुचित उत्तर दिया। अरस्तू की विचारधारा साहित्य के प्रति स्वस्थ और सकारात्मक थी। सोलहवीं शताब्दी के अंत में समीक्षकों के विचारों को दृष्टिगत रखते हुए साहित्यिक नियम बनने लगे। बोयलो ने अपनी कृति 'आर्ट पोएटिक' में काव्य के उद्देश्य, शैली, प्रकृति एवं रूपों के विषय में नियम निर्धारित किए। माना जाता है कि इन नियमों के पालन में बंधी हुई लीक के बीच साहित्य की आत्मा

घुटने लगी और प्रतिक्रिया स्वरूप स्वच्छंदता के लिए विद्रोह भी दृष्टिगोचर होने लगा। सत्रहवीं शताब्दी में नवक्लासिकवादी और स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों में संघर्ष बना रहा। अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में साहित्य की सुगमता, सरलता एवं स्पष्टता पर बल देने के साथ प्राचीन साहित्य पर चिंतन एवं स्वच्छंद प्रकृति के विकास पर गतिविधियां चलती रहीं। बुद्धि को कल्पना से अधिक महत्व देने के साथ कल्पना के सौंदर्य और गौरव पर व्याख्याएं प्रस्तुत हुईं। उन्नीसवीं शताब्दी में राजनैतिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक, मनोवैज्ञानिक आदि क्रांतियों ने साहित्य को प्रभावित किया और साहित्य जीवन के निकट आ गया। जीवन की तरह ऊबड़-खाबड़ गद्य को प्रधानता हो गई। बीसवीं शताब्दी का आरंभ अंग्रेजी समाज एवं साहित्य के लिए बेहद अव्यवस्था का समय था। कुंठा, निराशा, अनास्था, अमानवीयता आदि प्रवृत्तियों के बीच आलोचना का आरंभ हुआ। इरविंग बेबिट एवं ह्यूम ने नीति एवं आचार पर बल देते हुए स्वच्छंदतावादी काव्य में बिंबवाद का विरोध किया। आधुनिक युग में मनोवैज्ञानिक आलोचना का दौर आरंभ हुआ जो अधुनातन समीक्षाओं के रूप में नई-दृष्टियों से संपन्न होता हुआ निरंतर जारी है।

प्लेटो दार्शनिक होते हुए भी सहृदय कवि थे आलोचक नहीं, इसलिए उनकी आलोचनाएं किसी एक कृति में संगृहीत नहीं मिलतीं। प्लेटो से पूर्व काव्य-समीक्षा संबंधी विचार स्फुट रूप में प्राप्त होते हैं। प्लेटो ने अपनी पूर्व परंपरा के काव्य का अध्ययन किया और यत्र-तत्र उनका उल्लेख भी किया। होमर के प्रति उनके मन में आदर था। ऐसा होते हुए भी उन्होंने तत्कालीन काव्य और कवियों की निंदा की। प्लेटो ने काव्य या कवि की नहीं बल्कि देखा जाए तो जिस प्रवृत्ति के अधीन होकर कवि जिस तरह का काव्य लिख रहे थे, उस प्रवृत्ति की निंदा की। प्लेटो दार्शनिक होने के साथ सत्य का उपासक और तर्क का पक्षपाती था। प्लेटो के अनुसार सत्य वह है जिसमें समाज और व्यक्ति के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को बल मिले। इसके विपरीत जो कुछ भी हो उसे वह असत्य मानते हुए काव्य को भी इसी कसौटी पर कसकर देखता था। उसने दर्शन की वेदी पर कवि-हृदय की बलि चढ़ाकर सत्य की रक्षा की। प्लेटो ने अपने कलागत सिद्धांत दर्शनशास्त्र के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किए। उसके विचारशील मस्तिष्क को यह बात चुनौती लगती थी कि कवि चिरंतन सत्य के शोधक और प्रतिष्ठाता होते हैं। वह अंधी अनुयायिता को नापसंद करता था। प्लेटो कविता को उसी सीमा तक ग्राह्य मानता था जिस सीमा तक वह मानव, समाज एवं देश के उत्थान के लिए हितकारी हो। प्रथम आचार्य होने के कारण प्लेटो का ऐतिहासिक महत्व है। उसने परवर्ती आचार्यों के लिए पथ प्रशस्त किया। उन्हें चिंतन की सामग्री दी। कहीं वे कवि की तरह तर्क करते हैं, कहीं दार्शनिक की तरह वकालत करते हैं। अतः मतों में एकाध स्थान पर विरोधाभास पाया जाता है जो स्वाभाविक लगता है। प्लेटो के काव्य सिद्धांत पाश्चात्य काव्यशास्त्र के लिए अमूल्य हैं।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अरस्तू का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने विरेचन सिद्धांत, अनुकरण सिद्धांत तथा त्रासदी का सिद्धांत दिया। प्लेटो के शिष्य होने के नाते अपने गुरु द्वारा सुझाए अनुकरण शब्द की व्याख्या और विकास कर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग प्लेटो ने किया था। उसके शिष्य अरस्तू ने इसे ग्रहण किया और कला को अनुकरणात्मक माना। परंतु काव्य को परखने की अरस्तू की दृष्टि सौंदर्यवादी है। अरस्तू ने काव्य को सौंदर्यशास्त्री की दृष्टि से देखकर उसे दर्शन, नीति, राजनीति की

बेड़ियों से मुक्त किया। उसने प्रत्येक कलाकृति को सौंदर्य की वस्तु माना। अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकृति मानते है। यहां प्रकृति से उनका अभिप्राय केवल प्रकृति या सृष्टि के बाह्य, स्थूल, गोचर रूप से ही नहीं बल्कि इनके साथ आंतरिक रूप काम, क्रोध, कल्पना आदि से भी है। अरस्तू अनुकरण का अर्थ हूबहू नकल करना नहीं मानते। उनका मत है कि 'अनुकृति की प्रक्रिया में प्रकृति के अनेक दोष और प्रभाव कला द्वारा पूरे कर दिए जाते हैं। अरस्तू का तर्क है कि यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती तो वह हमें उतना ही देती जितना प्रकृति देती है, उससे अधिक नहीं। जबकि कविता का रसास्वादन करते हुए हम आनंद के सरोवर में इसलिए गोते लगाते हैं कि वह हमें वह तत्व देती है जो प्रकृति नहीं दे सकी। अरस्तू मानते हैं कि कलाकार अपनी संवेदना, अनुभूति, कल्पना और आदर्श आदि के प्रयोग से अपूर्ण को पूर्ण बना सकता है। उसका अनुकरण भावनामय होता है। अरस्तू का 'अनुकरण सिद्धांत' महत्वपूर्ण और व्यापक है। अन्य कवि एवं आचार्यों ने भी इसका प्रयोग किया है। होरेस कविता को जीवन का अनुकरण मानता था। विड़ा नामक आलोचक कवियों को प्रकृति का अनुकरण करने की सलाह देता था। बैन जानसन ने दृढ़तापूर्वक शास्त्रीय अनुकरण को कलात्मक रचना का मूलस्रोत माना। वर्तमान में अनुकरण सिद्धांत प्रकृतिवाद, यथार्थवाद और अतियथार्थवाद के रूप में देखा जाता है।

अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो के जीवनकाल में ही उनके आक्षेपों का दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया। 'विरेचन सिद्धांत' का जन्म भी ऐसे ही एक उत्तर के रूप में हुआ। 'विरेचन' शब्द का प्रयोग कर अरस्तू ने प्लेटो के आक्षेप का उत्तर दिया और काव्य की महत्ता स्थापित की। प्लेटो काव्य और नाटक को हेय मानता था इसलिए अरस्तू ने गुरु की दृष्टि को परिवर्तित करने के लिए विरेचन सिद्धांत की स्थापना की। यह सिद्धांत कामनाओं को उद्दीप्त ही नहीं करता बल्कि उसके बाद भाव शमन करके सुख, शांति और स्वास्थ्य भी प्रदान करता है। मनोविश्लेषकों की तरह ही उन्होंने कहा कि विरेचन प्रक्रिया द्वारा प्रेक्षक के मन की ग्रंथियां खुल जाती हैं, घुटन दूर हो जाती है। 'विरेचन' से अरस्तू का तात्पर्य भावों का निष्कासन मात्र नहीं बल्कि उनका संतुलन भी था। भावातिरेक मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। इससे मनुष्य का मानसिक संतुलन खो जाता है। अरस्तू का अभिप्राय यही था कि त्रासदी करुणा तथा त्रास के अवांछित अंश को उभार कर निकाल देती है, परिणामस्वरूप मनोवेगों में सामंजस्य स्थापित हो जाता है। जो मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभदायी है। विरेचन सिद्धांत पाश्चात्य काव्यशास्त्र में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह अरस्तू की अमूल्य देन है। उन्होंने त्रासदी के प्रभाव को बढ़ाया, फ्रायड आदि के लिए मनोविश्लेषण का आधार प्रदान किया। आई.ए.रिचर्ड्स आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मार्ग प्रशस्त हुआ। शुक्ल जी के द्वारा प्रस्तुत 'हृदय की मुक्तावस्था' का यहां साम्य है। विरेचन सिद्धांत पाश्चात्य काव्यशास्त्र के लिए एक उपलब्धि है।

अरस्तू ने अपने ग्रंथ में नाटकों पर विशेषकर त्रासदी पर बहुत विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने त्रासदी और कौमदी नामक दो भेद नाटक के माने। त्रासदी का लक्ष्य है यथार्थ जीवन से भव्यतम जीवन का चित्रण। यहां भव्यता का आधार नैतिक है। इसी आधार पर त्रासदी में औसत से उच्चतर मानव जीवन का चित्रण किया जाता है और त्रासदी को श्रेष्ठ काव्य का रूप माना गया है। कौमदी का लक्ष्य है यथार्थ जीवन से हीनतर जीवन का चित्रण। त्रासदी किसी कार्य की अनुकृति है। कार्य गंभीर स्वतः पूर्ण और निश्चित आयाम

वाला होता है। निश्चित आयाम का अर्थ है ऐसा कार्य जिसे दर्शक या पाठक समग्र रूप में ग्रहण कर सके। कार्य का वर्णन नहीं होता वरन प्रदर्शन होता है। मूलतः भाषा, छंद, लय और गीत आदि से अलंकृत होती है। करुणा और भय के भाव इसमें प्रदर्शित होते हैं। इन भावों के उद्रेक द्वारा इनका उचित विवेचन किया जाता है और वे विश्रांत हो जाते हैं। अरस्तू ने एक प्रकार से कथावस्तु को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हुए त्रासदी की आत्मा माना है। कथावस्तु अर्थात नाटक और नाटकीय प्रयोजन की दृष्टि से कार्य व्यापार का क्रम है। इसीलिए अरस्तू ने कथावस्तु को घटनाओं का विन्यास कहा। त्रासदी में कार्य व्यापार ही अनुकरण किया जाता है और यह अनुकरण दृष्टि विधान के माध्यम से ही होता है। जिस कार्य व्यापार का अनुकरण किया जाता है उसके कर्ता का चरित्र और विचार तत्व भी इस अनुकरण के माध्यम से उद्घाटित होता चलता है। नाटकीय कार्य-व्यापार का उद्देश्य चरित्रों का प्रतिरूपण करना ही नहीं है क्योंकि चरित्रों का स्थान गौण है प्रमुखता सुनियोजित घटनाओं को दी जाती है। इसका कारण यह है कि चरित्र भी कार्य व्यापार के माध्यम से ही व्यक्त होता है। इस प्रकार जीवन का विस्तार और व्यक्ति के सुख-दुख उसके कार्यों पर ही निर्भर करते हैं और कथावस्तु के रूप में ही सामने आते हैं। चरित्र से उनका सीधा संबंध नहीं होता। इसीलिए अरस्तू ने कार्य व्यापार को त्रासदी की आत्मा या उसका साध्य कहा है और चरित्र-चित्रण का गौण महत्व दिया है।

लोंजाइनस रोमांटिक आलोचना के आधार स्तंभ माने जाते हैं। लोंजाइनस की रचना 'पेरिइप्सुस' का यूनानी काव्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है। 'पेरिइप्सुस' का अर्थ है–औदात्य, ऊंचाई। लोंजाइनस ने 'उदात्त' की कहीं भी सूत्र-बद्ध व्याख्या नहीं की। उन्होंने उदात्त के स्रोतों, औदात्य के बीच आने वाली बाधाओं, तथा उदात्त के प्रभाव को ही स्पष्ट किया है। लोंजाइनस की विवेचन पद्धति अरस्तू की तरह सूत्रबद्ध व्याख्या वाली नहीं है। वे विषय का विशद विवेचन करते हैं। उनकी दृष्टि व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की है। उन्होंने उदात्त के विवेचन में पांच तत्वों की चर्चा की। प्रथम महान धारणाओं की क्षमता या विषय की गरिमा और द्वितीय भावावेश की तीव्रता। ये दोनों तत्व जन्मजात होने के कारण अंतरंग पक्ष में आते हैं तथा शेष तीन-समुचित अलंकार योजना, उत्कृष्ट भाषा तथा गरिमामय रचना-विधान बहिरंग पक्ष में आते हैं। इन दोनों पक्षों के अतिरिक्त उदात्त विवेचन में तीसरा विरोधी तत्व वाला पक्ष भी होता है। लोंजाइनस अलंकार शास्त्री था। अतः व्याकरण शास्त्र, विश्लेषणात्मक आलोचना-शास्त्र तथा निबंध- रचना शास्त्र पर उसकी गहरी एवं सूक्ष्म दृष्टि एवं पकड़ थी। वह शास्त्रानुकूल रचना पर बल देता था। लोंजाइनस काव्य के लिए भावोत्कर्ष को सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व मानता था। उसने सिद्धांत रूप में प्रस्तुत किया कि–"काव्य या साहित्य का उद्देश्य चरमोत्कर्ष प्रदान करना है तर्क द्वारा बाध्य करना नहीं।" पाठक या श्रोता को वेद्यांतर शून्य बनाना ही काव्य का उद्देश्य है। साहित्य कल्पना द्वारा पाठक को अभिभूत करता है।अपने पूर्ववर्ती आलोचकों की तुलना में लोंजाइनस के विचार अत्यंत प्रगतिशील और क्रांतिकारी हैं। ब्रैडले, कान्ट आदि से तुलना करने पर तो लोंजाइनस अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं।

क्रोचे अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक हैं। वे इटली के प्रसिद्ध सौंदर्यशास्त्री तथा दार्शनिक होने के साथ-साथ कलावादी भी थे। उनके अभिव्यंजनावाद ने साहित्य के साथ-साथ कला

एवं संगीत को भी प्रभावित किया। अभिव्यंजनावाद वह कला सिद्धांत है जिसमें आत्मा का अपनी सौंदर्य बोध संबंधी प्रक्रिया पर बल दिया जाता है। यह बाह्य प्रकृति से प्रभावित न होने वाला सौंदर्य प्रधान, आत्मानंदमूलक व्यापार है। सहजानुभूति यह क्रिया है जो आत्मा में ही पूर्णता प्राप्त करती है। उदाहरण के लिए–जब चित्रकार किसी वस्तु को देखता है तब उस वस्तु का चित्र उसके मन में अंकित हो जाता है या अभिव्यक्त हो जाता है। यह सहजानुभूति की आंतरिक अभिव्यंजना है। आंतरिक रूप रचना है, जो सौंदर्य तत्व को जन्म देती है। क्रोचे इसे आत्मा का अभिव्यंजनात्मक कर्म मानता है। इसी कर्म के द्वारा यानी सौंदर्य तत्व की उत्पत्ति के बाद इसी अभिव्यंजनात्मक कर्म द्वारा कलाकार भावनाओं तथा संवेगों के वेग को नियंत्रित रखकर प्रभावों को बिंबों में अभिव्यक्त कर उनसे मुक्त होता है। सारांश यह है कि क्रोचे सहजानुभूति को अभिव्यंजना मानता है जो आंतरिक होती है। मन के भीतर होती है बाहर नहीं। उल्लेखनीय है कि क्रोचे का अभिव्यंजना संबंधी सारा निरूपण कला के लिए है, कलाकृति के लिए यानी साहित्यिक कृति के लिए नहीं। वे कला एवं कलाकृति को दो अलग-अलग वस्तुओं के रूप में देखते हैं। क्रोचे काव्य (कला) का सौंदर्य के अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्य नहीं मानते। वे मंगल-अमंगल को धर्म और नीति से तथा सौंदर्य को कला क्षेत्र से जोड़ते हैं। क्रोचे अनुभूति और अभिव्यक्ति में कोई भेद नहीं मानते, इसलिए विषय-वस्तु और शैली को अभिन्न घोषित करते हैं। भारतीय आचार्य कुंतक और क्रोचे दोनों कलावादी हैं। दोनों ने अभिव्यंजना को कला का प्राण माना है। दोनों अभिव्यंजना को अखंड मानते हैं। दोनों काव्य में कल्पना तत्व को प्रमुखता देते हैं। फिर भी वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद में अंतर है क्योंकि एक का प्रवर्तक अलंकारवादी है और दूसरे का दार्शनिक। क्रोचे के अनुसार काव्य की आत्मा सहजानुभूति है। वे आनंद को अभिव्यंजना का सहचर मानते हैं।

कॉलरिज रोमांटिक युग के सूक्ष्मदर्शी तत्ववेत्ता थे तथा अपनी आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि और आलोचनात्मक प्रतिभा के कारण प्रसिद्धि के शिखर पर पहुंचे। निर्बंधता, फक्कड़पन और निरंतर कल्पना के सागर में गोते लगाने वाले इस कवि की मानसिक उर्वरता अद्भुत थी। कॉलरिज दर्शन और काव्य का अविच्छिन्न संबंध मानते थे। अत: उन्होंने अपने काव्य सिद्धांतों की स्थापना तत्व चिंतन के आधार पर की। कॉलरिज की स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति को नियमों का बंधन स्वीकार नहीं था। उन्होंने वड्सवर्थ का सहयोगी बनकर 18 वीं शताब्दी के कृत्रिम एवं रूढ़ काव्य-मूल्यों के उन्मूलन एवं स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा में महत्वपूर्ण योग दिया। वे पूर्व निर्धारित नियम पालन को अनावश्यक मानते थे तथा मौलिकता और प्रतिभा के पक्षधर थे। कॉलरिज के अनुसार काव्य का आनंद सौंदर्य के द्वारा उत्पन्न होता है। चूंकि आनंद सौंदर्य के बिना किसी प्रयत्न से स्वयं उद्भूत होता है इसलिए वे ही पाठक ऐसे काव्य का रसास्वादन पूर्णत: कर सकते हैं जिनकी वृत्तियां कोमल हैं, जो भावुक हैं, सौंदर्य के पारखी हैं। कॉलरिज तत्ववेत्ता होने के कारण दर्शन और काव्य का अविच्छिन्न संबंध मानते थे। उनके काव्य सिद्धांत इसी तत्व चिंतन पर आधारित हैं। वे मन को स्रष्टा का प्रतिबिंब मानते हुए कहते थे कि संसार के पदार्थ ब्रह्म के विषय अथवा विचार हैं और जगत विषयीकृत ब्रह्म है। ब्रह्म और प्रकृति का संयोग कल्पना द्वारा होता है। विश्व ब्रह्म की कला है। मानव चेतना भी विश्व चेतना है। कॉलरिज संपूर्ण सृष्टि को चेतना की अभिव्यक्ति

मानते हैं तथा जड़ और चेतन में सामंजस्य स्वीकार करते हैं। जड़ पदार्थ को देखकर कवि के हृदय में भाव उत्पन्न होते हैं और वह काव्य सृजन में रत हो जाता है। कॉलरिज कल्पना के दो प्रकार मानते हैं-आद्य या मुख्य या प्राथमिक कल्पना और प्रतिनिधि या विशिष्ट कल्पना। वे ब्रह्मवादियों की तरह आत्मा व जगत दोनों को एक ही सत्ता के दो रूप मानते हैं, पर ब्रह्मवादी आत्मा और जगत के बीच भिन्नता का कारण माया को मानते हैं। वहीं कॉलरिज इसका कारण मुख्य कल्पना को मानते हैं। इसी मुख्य कल्पना के कारण चेतना खंड-खंड रूप में दिखाई देती है। ब्रह्म ने इसी के आश्रय पर सृष्टि का निर्माण किया। यह मुख्य कल्पना व्यक्तियों में भी पाई जाती है। यह मानव-मन में मानसिक विश्व को प्रस्तुत करती है। यह समस्त मानव-ज्ञान की सजीव शक्ति है और संपूर्ण मानव प्रत्यक्षीकरण का प्रमुख माध्यम है।

महाकवि वड्र्सवर्थ मूलतः आलोचक नहीं थे। नवशास्त्रवादी समीक्षकों के प्रहारों के विरुद्ध आत्मरक्षा के लिए उन्होंने आलोचना का हथियार उठाया। आलोचना करना उनका उद्देश्य नहीं था क्योंकि स्वभावतः वे कवि थे। वड्र्सवर्थ से पूर्व काव्य शैली के निर्धारित नियमों के अनुसार काव्य भाषा की शब्दावली निश्चित थी तथा उसमें से निम्नकोटि के साधारण शब्दों को बहिष्कृत किया गया था। वड्र्सवर्थ विशिष्ट-काव्यगत युक्तियों जैसे मानवीकरण, वक्रोक्ति तथा व्याकरणगत स्वच्छंदताओं के विरुद्ध थे। उन्हें काव्य रचना में विपर्यय तथा वैषम्य नहीं भाता था। वे वस्तुपरिगणन-प्रणाली, अनावश्यक रूप से ठूंसी गई पौराणिक कथाएं, भावाभास, विलक्षणता, अस्पष्टता, शाब्दिक चमत्कार, दूरारूढ़ कल्पना, अतिशयोक्ति और कृत्रिमता के विरोधी थे। वड्र्सवर्थ का भाषा सिद्धांत काव्य सिद्धांतों से घनिष्ठता रखता है। वे काव्य को भावावेग का उच्छलन मानते हैं और भावों के उच्छलन के समय भाषा हृदय से निकलती है जबकि चिंतन-मनन के बाद की भाषा गढ़ी हुई होती है। लेकिन जिस तरह चिंतन के पश्चात कवि का मनोमस्तिष्क परिष्कृत, उसका सहज भावावेग उच्च कोटि का, प्राणवान तथा ऊर्जस्वित हो जाता है। उसी तरह सच्चाई से किया गया विवेकपूर्ण चुनाव भाषा को गरिमायुक्त, सजीव, जीवंत बना देता है। वड्र्सवर्थ भावोच्छलन के पक्ष में हैं किंतु उन्हें किसी विवेकहीन व्यक्ति का भावोच्छलन अभीष्ट नहीं है। वे सतर्क एवं विचारवान व्यक्ति के भावोच्छलन को पसंद करते हैं। वड्र्सवर्थ तीव्र भावावेग के क्षणों में लिखी गई कविता को ही महान मानते हैं जिसमें तीव्र भावावेग के कारण ही उदात्त रूपक-शैली का प्रयोग किया गया हो। वे भाषा की सरलता और साधारणता पर बल देते हैं। वड्र्सवर्थ के भाषा-सिद्धांत पर दृष्टिपात करें तो लगता है कि वे प्रकृतिवादी हैं। वे ग्राम्य गीतों तथा ग्राम्य भाषा का अनुकरण करने की बात कहते हैं तथा कलावाद और कृत्रिमता का विरोध करते हैं पर जब उनके सिद्धांतों पर सूक्ष्म गहन दृष्टि से चिंतन-मनन किया जाए तो मालूम होता है कि वे स्पैंसर, मिल्टन, चौसर तथा शैक्सपियर की कला को भी अपने प्रकृतिवाद में समन्वित कर लेते हैं। वड्र्सवर्थ ने पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के लिए चिंतन का नया मार्ग प्रशस्त किया। अतः उनकी देन की अवहेलना नहीं की जा सकती।

आई. ए. रिचड्र्स मूलतः मनोवैज्ञानिक हैं। मनोविज्ञान के क्षेत्र से साहित्य में आने के कारण उनके काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों पर मनोविज्ञान का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वे आलोचक के लिए मनोविज्ञान के अध्ययन को आवश्यक मानते हुए कहते हैं कि मानव

की मानसिक प्रक्रियाओं एवं साहित्य के बीच गहन संबंध है। इस संबंध को स्पष्ट करते हुए उन्होंने आलोचना को नई दिशा एवं दृष्टि प्रदान की। रिचर्ड्स कहते हैं "कलात्मक संतुलन की अवस्था मन की शून्यावस्था से भिन्न होती है तथा उत्तेजना पूर्ण अवस्था से अलग होती है। साहित्य का प्रयोजन यह होना चाहिए कि मन में संतुलन के साथ बाह्य गतिविधियों के लिए तत्परता भी हो।" वे कहते हैं कि कला मूल्यवान अनुभव प्रदान करती है। कलाकार की अनुभूतियों में ऐसे आवेगों का संतुलन दिखाई देता है जो सामान्य मनुष्यों में अधिकतर अस्त-व्यस्त तथा द्वंद्व से घिरे होते हैं। अतः कला की उपयोगिता और सफलता, सार्थकता, सिद्धि इसी बात में है कि वह आवेगों का संगठन करे। उसमें संतुलन स्थापित करे। ऐसी परिस्थितियां निर्मित करे जो नकारात्मकता, द्वंद्व, बुभुक्षा, विरोध का परिहार कर सकारात्मक, संतुलित और शांत जीवन की ओर प्रेरित करें। रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत के केंद्र में व्यक्ति है, समाज नहीं। क्योंकि मनोविज्ञान की जिन शाखाओं पर उनकी आलोचना पद्धति आश्रित है, वे व्यक्ति मूलक हैं। इसलिए अपनी समग्र मीमांसा के मूल में चाहे वह मूल्य की मीमांसा हो या नैतिकता की, व्यक्ति को ही रखा है। इलियट का आधुनिक पाश्चात्य साहित्यकारों में विशिष्ट स्थान है।

इलियट रोमानी एवं मानवतावादी अवधारणाओं तथा स्वच्छंदतावाद के विरोध में खड़े हुए। इंग्लैंड में ह्यूम ने स्वच्छंदतावाद और मानववाद के विरोध में, कला तथा साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में क्लासिसिज्म (शास्त्रवाद) की पुनः स्थापना का प्रयास बीसवीं सदी के आरंभ में किया। इलियट ने इस प्रयास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पाश्चात्य साहित्य पर दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि वहां महान कवि ही महान आलोचक हुए हैं। इलियट इस बात पर विश्वास करते थे कि कवि आलोचक ही महत्वपूर्ण आलोचना कर सकता है। शायद यही कारण है कि उनकी कविताओं में उनकी आलोचना ही प्रतिबिंबित होती है। इलियट कहते हैं कि किसी भी कलाकार या रचनाकार का मूल्यांकन करना हो तो वह पूर्ण और सार्थक तभी होगा जब हम उसकी तुलना प्राचीन रचनाओं और रचनाकारों से करेंगे। सच्ची आलोचना या स्वस्थ आलोचना वह है जिसमें आलोचक आलोच्यकृति की अच्छाई-बुराई, पक्ष-विपक्ष पर अपना मत व्यक्त न करे बल्कि उस कृति के अंदर स्थित तथ्यों का विश्लेषण करके मत दे। इलियट ने 'वैयक्तिक काव्य-सिद्धांत' का विरोध करते हुए निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत प्रतिपादित किया। इलियट कवि व्यक्तित्व और कविता के बीच संबंध स्वीकार नहीं करते। किसी कवि के व्यक्तित्व की महानता या उपदेशात्मकता के कारण कविता महान नहीं बनती बल्कि वह महान कृति इसलिए बनती है कि उसमें रचनाकार का निस्पृह मस्तिष्क कार्यरत होता है। जो विशिष्ट एवं विभिन्न भावनाओं का स्वच्छंदतापूर्वक निर्विकार भाव से बिना किसी पूर्वाग्रह या दुराग्रह के मिश्रण करके नवीन सृजन करता है। इलियट ने साहित्यानुशीलन के लिए तथ्य बोध संबंधी वैज्ञानिक पद्धति पर बल दिया जिससे रचना का उसके वास्तविक रूप में जांच-परख और प्रतिस्थापन हुआ। उनका निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत आलोचक एवं कवि को नई दिशा एवं दृष्टि देने वाला है। इलियट स्वयं को अभिजात्यवादी कहते हैं लेकिन उनके अभिजात्यवाद तथा नवशास्त्रवादियों के अभिजात्यवाद में अधिक समानता नहीं है। उन्होंने 'परंपरा एवं वैयक्तिक प्रज्ञा' में काव्य मूल्यांकन के लिए अतीत के आलोचकों द्वारा निर्धारित नियमों का तिरस्कार किया। इलियट की आलोचना व्यक्ति साहित्यकार

के अनुभवों पर आधारित आलोचना है इसलिए यह अधिक महत्वपूर्ण है। इलियट पाश्चात्य काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण स्तंभ हैं।

इस प्रकार आपने जाना कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र में किस प्रकार साहित्यिक विचार आंदोलन चला। विभिन्न विद्वान अपनी अपनी विचारधारा लेकर अवतरित हुए और उन्होंने साहित्य जगत को प्रभावित किया। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं।

3.12 मुख्य शब्दावली

- **समीक्षक** : आलोचक।
- **प्रवृत्ति** : रुझान।
- **ग्राह्य** : स्वीकार करने योग।
- **अनुकृति** : नकल/अनुकरण।
- **प्रतीयमान** : अनुभव होता हुआ।
- **आत्माभिव्यंजन** : स्व की अभिव्यक्ति।
- **यांत्रिक अनुकरण** : बिना सोचे समझे नकल।
- **शाश्वत** : सनातन, अमर।

3.13 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1. 'लिरिकल बैलेड्स'
2. 19वीं शताब्दी
3. प्लेटो
4. प्लेटो
5. सौंदर्यशास्त्री की
6. अरस्तू
7. प्लेटो पर
8. छह
9. औदात्य
10. भावोत्कर्ष
11. पांच
12. लोंजाइनस
13. क्रोचे
14. कला के लिए

15. क्रोचे
16. कल्पना लोक
17. कॉलरिज
18. सौंदर्य
19. ब्रह्म कल्पना का
20. कॉलरिज
21. वड्र्सवर्थ
22. प्रकृतिवादी
23. वड्र्सवर्थ
24. कल्पना शक्ति
25. आई. ए. रिचड्र्स
26. अभिव्यक्ति
27. विचार से
28. मनोवैज्ञानिक
29. तथ्य बोध
30. वैयक्तिक काव्य-सिद्धांत
31. इतिहास बोध
32. आलोचक एवं कवि को

3.14 अभ्यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विकास क्रम पर एक निबंध लिखिए।
2. प्लेटो द्वारा निर्देशित सत्काव्य के गुणों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. अरस्तू के विरेचन सिद्धांत की प्रासंगिकता सिद्ध कीजिए।
4. अभिव्यंजना से क्या तात्पर्य है? समझाइए।
5. अच्छी कविता के अपरिहार्य गुणों का विवेचन कीजिए।
6. 'छंद एक प्रकार का खमीर है' के संदर्भ में कॉलरिज के काव्य की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
7. वड्र्सवर्थ की भाषा पर विभिन्न विद्वानों द्वारा दर्ज की गई आपत्तियों की समीक्षा कीजिए।
8. आई. ए. रिचड्र्स की काव्य-भाषा की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. प्लेटो के काव्य सिद्धांतों की समीक्षा करते हुए काव्यशास्त्र में उसके योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
2. अरस्तू द्वारा प्रस्तुत 'अनुकरण की प्रवृत्ति का सोदाहरण विवेचन कीजिए।
3. 'अरस्तू ने कार्य व्यापार को त्रासदी की आत्मा या उसका साध्य माना है'– सिद्ध कीजिए।
4. लोंजाइनस की उदात्त की अवधारणा का विस्तार से विश्लेषण कीजिए।
5. क्रोचे सौंदर्यशास्त्री तथा दार्शनिक होने के साथ-साथ कलावादी भी थे– उदाहरण सहित विवेचन कीजिए।
6. काव्य सर्जन में कल्पना की उपयोगिता सिद्ध करते हुए कॉलरिज के काव्य-सिद्धांतों की समीक्षा कीजिए।
7. 'सच्ची भाषा वह है जो मनुष्य भावावेग के क्षणों में बोलता है'– के संदर्भ में वड्र्सवर्थ के भाषा-चिंतन का विस्तृत विवेचन कीजिए।
8. आई. ए. रिचड्र्स के मूल्य-सिद्धांत का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
9. एक प्रसिद्ध काव्य-सृष्टा एवं आलोचक के रूप में इलियट के योगदान को रेखांकित कीजिए।
10. निर्वैयक्तितावाद के सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

3.15 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. डॉ. भगीरथ मिश्र, *काव्यशास्त्र*, विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर-1957
2. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, *हिन्दी साहित्य में विविध वाद*, पद्मजा प्रकाशन कानपुर 2010-वि.सं.
3. डॉ. वेंकट शर्मा, भूमिका नगेंद्र, *आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास*, आत्माराम एंड संस दिल्ली-1967
4. डॉ. जगदीश प्रसाद कौशिक, *काव्य दर्पण*, साहित्यागार, जयपुर-1988
5. डॉ. जगदीश प्रसाद कौशिक, *भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमान*, साहित्यागार जयपुर -1988
6. सत्यदेव मिश्र, *पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांत और वाद*, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा,1975
7. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, *सहृदय और साधारणीकरण*, हिंदुस्तान एकेडमी इलाहाबाद, 1984
8. डॉ. लक्ष्मी पांडेय, *अधुनातन काव्यशास्त्री : आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी*, उर्मिल प्रकाशन, गाजियाबाद।

4.0

4.7 मार्क्सवादी आलोचना

मार्क्सवाद चिंतन पद्धति की एक व्यापक परंपरा है। इस सिद्धांत के निर्माता कार्ल मार्क्स (1818-1883) थे तथा ऐंजेल्स (1820-1895) ने मार्क्स के सिद्धांतों की सर्वाधिक विश्वसनीय व्याख्या की तथा इन सिद्धांतों का प्रचार भी किया। ये दोनों (मार्क्स एवं ऐंजेल्स) आपस में मित्र थे तथा मूलतः आर्थिक एवं राजनीतिक विचारक थे। मार्क्स के अतिरिक्त इस परंपरा में लेनिन, गोर्की, प्लेखानान, कॉडवेल आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। मार्क्स एवं ऐंजेल्स की साहित्य में भी रुचि थी। मार्क्स ने पर्याप्त समाजवादी साहित्य की रचना की। उसकी रचनाओं में 'द पॉवर्टी ऑफ फिलॉसफी–1847', 'द कम्यूनिष्ट मेनिफेस्टो–1848', 'दास कैपिटल' आदि प्रमुख हैं। मार्क्स साहित्य मुख्यतः सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से संबंधित है। इन्हीं ग्रंथों में उन्होंने यत्र-तत्र कला-साहित्य संबंधी विचार भी प्रकट किए।

कार्ल मार्क्स के विचार युगांतरकारी हैं। उसकी दार्शनिक स्थापनाएं व्यापक हैं जिनका जीवन के हर क्षेत्र पर प्रभाव पड़ता है। वर्तमान में भी अधिकांश रचनाकार एवं उनकी रचनाएं मार्क्स दर्शन से प्रभावित हैं। मार्क्स के सिद्धांत 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' पर आधारित जो साहित्य रचा गया उसमें प्रगतिवादी आंदोलनों ने भौतिक उपयोगितावादी मूल्यों की स्थापना की तथा साहित्य के आनंदवादी मूल्यों को हिला कर रख दिया। मार्क्स के 'वैज्ञानिक समाजवाद' की व्याख्या करते हुए ऐंजेल्स लिखते हैं–"वैज्ञानिक समाजवाद वह समाजवाद है जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने से पहले उन तमाम वैज्ञानिक नियमों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है जिनके आधार पर सामाजिक परिवर्तन होते हैं। सामाजिक गत्यात्मकता नियम विहीन नहीं होती। यदि हम इन नियमों को जान लें तो उसी के अनुरूप समाजवादी परिवर्तन कर सकेंगे। वैज्ञानिक समाजवाद जिस स्थान पर खड़ा है, वह स्वप्नों एवं भावनाओं की कोमल भूमि नहीं है वरन् सत्य और परिस्थिति का कठोर धरातल है।"

मार्क्सवाद सृष्टि और समाज दोनों के विकास पर दृष्टि रख कर चिंतन करने वाला दर्शन है। इसके दो स्वरूप हैं–पहले भाग में सृष्टि और समाज के विकास का विश्लेषण और दूसरे में इस विश्लेषण के आधार पर परिवर्तन के लिए प्रयास किए जाते हैं। मार्क्सवादी दर्शन,

व्यापक, विराट, सुसंबद्ध तथा विस्तृत है। मार्क्स की विचारधारा को सुगमता की दृष्टि से चार भागों में बांट कर अध्ययन किया जाता है–

1. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद
2. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या अथवा ऐतिहासिक भौतिकवाद
3. वर्ग संघर्ष का सिद्धांत
4. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत

ये चारों मार्क्स दर्शन में परस्पर सुसंबद्ध हैं तथा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की अविभान्य इकाई हैं। इन चारों में से विश्व साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया–द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद ने। वस्तुतः मार्क्स सौंदर्य शास्त्र का मूल द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ही है। ऐतिहासिक भौतिकवाद तो द्वंद्वात्मक पद्धति के आधार पर इतिहास का अध्ययन है।

4.7.1 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

यह मार्क्स का दार्शनिक दृष्टिकोण है तथा संपूर्ण मार्क्सवाद को समझने की कुंजी है। यह सिद्धांत संसार की सभी समस्याओं को हल कर सकता है तथा इससे भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन सामाजिक परिवर्तनों की दशा ज्ञात हो सकती है। हिंदी-साहित्य कोश के अनुसार–"द्वंद्वात्मक भौतिकवाद दर्शन की दो विभिन्न धाराओं से संबंधित है। जहां तक इसकी प्रणाली का संबंध है, यह हीगल के द्वंद्वात्मक आदर्शवाद से प्रभावित हुआ है और जहां तक दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रश्न है, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद अन्य पूर्ववर्ती भौतिकवादियों के अतिरिक्त जर्मन दार्शनिक फायरबाख के यांत्रिक भौतिकवाद अर्थात मैकेनिकल मैटीरियलिज्म से प्रभावित हुआ है। इस द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को समझने के लिए भौतिकवाद एवं द्वंद्व प्रक्रिया को अलग-अलग समझना होगा–

भौतिकवाद–मार्क्स अद्वैतवादी थे। वे हीगल या अन्य वेदांतियों की तरह सृष्टि का मूल किसी चेतना सत्ता या ब्रह्म को नहीं मानते थे बल्कि उनका मत है कि सृष्टि का मूल तत्व एक मात्र भूत अथवा पदार्थ अथवा जड़ प्रकृति है। भूत अथवा पदार्थ का तात्पर्य प्रत्यक्ष जड़ जगत है जो दिखाई देता है। यह प्रकृति को या भूत को मूल तत्व मानने वाला वाद ही भौतिकवाद है।

मार्क्स अनीश्वरवादी थे। आत्मा तथा ईश्वर में उनकी आस्था नहीं थी। अपनी कठोर भौतिकवादी धारणा के कारण उनका मानना था कि ईश्वर एवं आत्मा का हम अनुभव नहीं कर सकते, अतः उसके अस्तित्व को स्वीकारना भ्रामक है, मृगमरीचिका है। मनुष्य को अपना वैचारिक आधार स्पष्ट भौतिक वस्तुओं को बनाना चाहिए। ईश्वर मनुष्य की कल्पना है जबकि पेड़, मकान, कुर्सी आदि प्रतीत होने वाली सदैव सत्य वस्तुएं हैं। इस तरह इंद्रियगोचर प्रत्यक्ष जगत को ही सृष्टि का मूल मानते हुए मार्क्स कहते हैं कि "संसार के विकास, परिवर्तन और नियंत्रण के लिए किसी ब्रह्म जैसी काल्पनिक शक्ति की आवश्यकता नहीं है, ये क्रियाएं तो प्रकृति की अंतर्निहित शक्ति से और उसके स्वादानुसार होती रहती हैं।"

यहां मार्क्स के इस मत पर प्रश्न उठा कि प्रकृति जड़ है, चेतनाहीन है तो उसमें परिवर्तन और गति के लिए शक्ति और संभावना कहां है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मार्क्स ने जड़ प्रकृति की विशेषताएं बताई हैं–"निरंतर गतिशीलता प्रकृति का स्वभाव है। इस बात

को वैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध किया जा सकता है। प्रत्येक जड़ पदार्थ ईंट, पत्थर आदि की संरचना अणुओं से मिलकर हुई है। प्रत्येक अणु का निर्माण न्यूट्रॉन, इलैक्ट्रॉन से होता है जो निरंतर सक्रिय रहते हैं। इस प्रकार जड़ भूत की गत्यात्मकता अनवरत एवं निरपवाद है। इस तरह स्वयं गतिमान जड़ प्रकृति के संचालन के लिए किसी बाह्य शक्ति ईश्वर आदि की आवश्यकता नहीं है, वह स्वचालित है, स्वयं परिवर्तनगामी है, विकासोन्मुख है।" मार्क्स कहता है कि प्रकृति नश्वर है। इसमें स्थायी कुछ नहीं है। पुरातन का ह्रास होता है और नवीन निर्माण होता है, सृष्टि होती है। प्रकृति एक सुसंबद्ध समष्टि है। इसका कोई भी तत्व एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं होता वरन संबंधित होता है। प्रकृति का प्रत्येक तत्व और प्रत्येक घटना एक-दूसरे को अनिवार्य रूप से प्रभावित करते हैं।

मार्क्स की धारणा है कि प्रत्येक जड़ पदार्थ में विरोधी तत्वों की अनिवार्य उपस्थिति होती है। जैसे-लोहा कठोर होते हुए भी अपनी कोमलता के कारण काटा जा सकता है। विद्युत में धन और ऋण दो परस्पर विरोधी तत्व सदा रहते हैं। इन अंतर्विरोधी तत्वों के कारण ही जड़-प्रकृति में विकास क्रम आगे बढ़ता है। इसी तरह अंतर्विरोधी स्वभाव के कारण सामाजिक विकास संभव होता है।

द्वंद्वात्मक पद्धति-हीगल से गृहीत इस पद्धति में मार्क्स कहते हैं कि प्रकृतिगत परिवर्तन एवं विकास द्वंद्वात्मक पद्धति में होते हैं। उनका मत है कि विकासक्रम वाद, प्रतिवाद और संवाद के त्रैत से सदा ऊर्ध्वगामी होता है। उदाहरणस्वरूप वे गेहूं के पौधे को रेखांकित करते हैं-"गेहूं का बीज वाद है। भूमि में बोया हुआ गेहूं अपने अंतर्विरोधों के कारण गलकर नष्ट होकर गेहूं के पौधे के रूप में अपना विकास करता है। पौधे के विकास की यह अवस्था प्रतिवाद है। तीसरी अवस्था में पौधे पर बाली आएगी और पककर गेहूं के दानों में बदल जाएगी, पौधा अपने अंतर्विरोधों के कारण सूखकर नष्ट हो जाएगा। बाली का पककर गेहूं के दानों में बदलना संवाद है।" दूसरा उदाहरण चट्टान का देते हैं-"चट्टान अपने रूप में वाद है। अपने अंतर्विरोधों के कारण टूटकर वह चूर्ण बनती है। यह प्रतिवाद है तथा चूर्ण पानी के साथ बहकर समुद्र में पहुंचता है तथा अपने अंतर्विरोधों के कारण यह चूर्ण पुनः समुद्री चट्टान का रूप ले लेता है, यह संवाद है।"

हीगल एवं फायरबाख से प्रभावित होने पर भी मार्क्स का यह सिद्धांत मौलिक है कि भौतिक जगत की सभी वस्तुएं तथा घटनाएं अपने अंतर्विरोधों के कारण और द्वंद्वात्मक संघर्ष के कारण निरंतर परिवर्तित होती हैं तथा विकास पाती हैं। हीगल और मार्क्स दोनों अद्वैतवादी थे पर दोनों के दृष्टिकोण में भेद था। मार्क्स ने लिखा है कि-हीगल का दर्शन उल्टा सिर के बल पर खड़ा था, उन्होंने उसे सीधा करके पैरों पर खड़ा किया। अर्थात विचारों की काल्पनिक दुनिया से निकालकर यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित किया।

4.7.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद

मार्क्स ने द्वंद्ववादी पद्धति को इतिहास पर आरोपित करते हुए मानव-इतिहास के विभिन्न परिवर्तनों एवं घटनाओं के लिए भौतिक अथवा आर्थिक कारणों को उत्तरदायी माना है। इस तरह की गई इतिहास की भौतिकवादी अथवा आर्थिक व्याख्या ही उनका ऐतिहासिक भौतिकवाद है। मार्क्स ने इस सिद्धांत की सुव्यवस्थित व्याख्या नहीं की केवल छिट-पुट टिप्पणियां ही की हैं लेकिन उनके परवर्ती मार्क्सवादियों तथा ऐंजेल्स ने इस सिद्धांत की पूर्ण एवं व्यवस्थित व्याख्या की है।

इस सिद्धांत के अनुसार, भोजन मनुष्य की प्राथमिक एवं अनिवार्य आवश्यकता है अत: प्रकृति के साधनों से भोजन सामग्री जुटाना मनुष्य के सभी कार्यों में से महत्वपूर्ण कार्य है। चूंकि प्राकृतिक साधनों से मनुष्य अकेले अधिक उत्पादन नहीं कर सकता इसलिए वह सामूहिक रूप से मिल-जुल कर यह कार्य करते हैं। इस तरह जीवन के आवश्यक पदार्थों के उत्पादन की दृष्टि से मिल-जुल कर रहने से समाज की रचना होती है। समाज के कुछ लोग अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए उत्पादन के साधनों तथा उत्पादित सामग्री पर अनावश्यक अधिकार कर लेते हैं जिससे असंतोष उत्पन्न होता है। किंतु ये गरीब, शोषित और असंतुष्ट लोग यह अनुभव नहीं करते कि उनके शोषण और दुख का कारण उत्पादन के साधनों का दोषपूर्ण वितरण और कुछ लोगों का निजी स्वार्थ है। वे स्वर्ग लोक की कल्पना करते हैं कि वे वहां जाकर ही इन दुखों, अभावों और चिंताओं से मुक्त होकर अनंत सुख का भोग करेंगे। यह काल्पनिक मायाजाल ही धर्म है। मार्क्सवादियों की दृष्टि में गरीबों को भीषण कष्टों से मुक्त करने वाली मृग-मरीचिका है। समाज में अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए सत्ताधारी समृद्ध वर्ग धर्म नामक संस्था का निर्माण करता है। समाज में अनादि काल से दो वर्ग हैं–शोषक वर्ग एवं शोषित वर्ग। शोषक वर्ग राज्य की संपूर्ण व्यस्था, नियम-कानून, सामाजिक मूल्य-मान्यताएं आदि की बागडोर अपने हाथों में इसलिए रखता है ताकि वह उत्पादन के साधनों पर अपना एकाधिकार बनाए रखे। इस प्रकार धर्म-कर्म, आचार-विचार, राजनीतिक संस्थाएं, नैतिक-अनैतिक व्यवहार, कला एवं सभ्यता के निर्माण में समाज की आर्थिक स्थितियां ही निर्णायक भूमिका अदा करती हैं।

सूत्र रूप में मार्क्स कहता है कि–सामान्यत: मानव की सामाजिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक जीवन प्रक्रिया को निश्चितता प्रदान करने का कार्य भौतिक जीवन के उत्पादन साधनों द्वारा होता है। अर्थात मानव की सत्ता उसकी चेतना द्वारा निश्चित नहीं होती, वरन् उसकी सामाजिक भौतिक परिस्थितियां उसकी राजनैतिक, धार्मिक व कला संबंधी चेतनाओं को निर्धारित करती है।

इतिहास पर आर्थिक कारणों से पड़ने वाले प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए मार्क्सवादियों ने मानव इतिहास को पांच युगों में बांटा है–(1) आदिम साम्यवादी युग, (2) दास-पद्धति युग, (3) सामंतवादी युग, (4) पूंजीपति युग, (5) साम्यवादी युग। इनमें से प्रथम तीन युग व्यतीत हो चुके हैं। चतुर्थ चल रहा है, पांचवा भावी है।

4.7.3 साहित्य एवं कला संबंधी विचार

मार्क्सवादी कला एवं साहित्य का मानवतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए इसे जीवन के लिए मानते हैं। इसे आर्थिक समानता स्थापित करने में सहयोगी होना चाहिए, वे ऐसा मानते हैं। मार्क्सवाद के अनुसार, "उत्पादन के साधन, समाज की यथार्थ परिस्थितियां ही मनुष्य के सांस्कृतिक, साहित्यिक, राजनीतिक जीवन क्रम को संचालित करने वाले तत्व हैं।" लेकिन ये सब एक-दूसरे पर भी और आर्थिक आधार पर भी क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं ऐसा ऐंजेल्स का मानना है।

इतिहास के विकास क्रम में शोषित यानी सर्वहारा वर्ग तथा शोषक के बीच निरंतर, दिन-रात संघर्ष चल रहा है। मार्क्सवाद के अनुसार–'ज्ञान' की सभी शाखाओं का यह महत् उद्देश्य है कि वे इस वर्ग संघर्ष को तीव्रतर करें ताकि साम्यवादी युग की स्थापना हो सके।

जोकि इतिहास के विकास क्रम का अंतिम आदर्श युग होगा। लेनिन कहते हैं–'साहित्य इस संघर्ष को तीव्र करने का महानतम अस्त्र है।' इस दृष्टिकोण से साहित्यकार का मूल उद्देश्य शोषित वर्ग को पूंजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के लिए प्रोत्साहित करना हुआ। तात्पर्य यह है कि मार्क्सवाद साहित्य कला का प्रयोजन सर्वहारा (शोषित) वर्ग के हितों की रक्षा करना तथा वर्ग संघर्ष में उन्हें विजयी बनाकर साम्यवाद की स्थापना करना है।

मार्क्सवादी साहित्य को वर्गवाद की उपज मानते हैं। लेनिन का स्पष्ट मत है कि वर्गहीन समाज में ही वर्गहीन साहित्य की रचना संभव है। अतः साहित्यकार के निरपेक्ष स्वातंत्र्य का सिद्धांत मात्र भ्रम है, विडंबना है। उदाहरणस्वरूप–सामंतशाही का रचनाकार उन जीवन मूल्यों की कल्पना भी नहीं कर सकता जो कि समाजवादी युग के साहित्यकार द्वारा निर्मित होंगे या हैं। इसलिए वे साहित्य को वर्गगत मानते हैं।

मार्क्सवादी व्यक्तिनिष्ठ काव्य को हेय, अकल्याणकारी तथा समाज-विरोधी मानते हैं। वे काव्य में सामाजिक या सामूहिक भाव पर बल देते हैं। जनमानस की विशिष्ट मान्यताओं, संस्कारों, प्रभावों तथा प्रतिक्रियाओं का समष्टिगत रूप 'सामूहिक भाव' है जो साहित्यकार द्वारा प्रयोग किए जाने पर अपनी सुगंधि से जन-मानस को मदमस्त कर देगा। मूक जनता को शब्दों का भंडार देगा तथा उन्हें सक्रिय और सचेत बनाएगा।

मार्क्सवादी संसार को परिवर्तनशील मानते हुए साहित्य की विधाओं को भी युग विशेष के साथ जोड़ते हैं। जैसे–महाकाव्य को सामंती युग के योद्धा वर्ग तथा नाटक को कृषि युग की उपज मानते हैं। जीवन के यथार्थ किंतु नग्न चित्रों को मार्क्सवादी कलापूर्ण नहीं मानते। यथार्थवादियों को कार्य-कारण संबंध का तिरस्कार नहीं करना चाहिए जैसे युद्ध के वर्णन में उसके कारण, परिणाम तथा व्यापक परिवर्तनों की चर्चा करना आवश्यक है इनमें से एक भी तत्व को छोड़ देने पर वह एकांगी यथार्थवादी होगा। अर्थात यथार्थवाद से उनका तात्पर्य है–ऐसा है और ऐसा किस कारण है तथा ऐसा होने से क्या लाभ-हानि है। मार्क्सवादी, साहित्यकार की व्यक्तिगत मान्यताओं को महत्व नहीं देते। वे साहित्य-मूल्यांकन का एकमात्र मानदंड सामाजिक उपयोगिता को मानते हैं। वे साहित्य को पार्टी-सिद्धांतों के प्रचार का साधन मानते हैं। हालांकि यह उनका संकीर्ण और सांप्रदायिक दृष्टिकोण माना गया तथा समाजवादी यथार्थ को वर्तमान के साथ-साथ प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन का प्रतिमान घोषित करना भी उनका रूढ़िवादी तथा संकुचित दृष्टिकोण है। मार्क्सवादी कला-साहित्य के विशुद्ध सौंदर्यवादी अथवा रूपवादी चमत्कारों एवं बौद्धिक वाग्जालों के सृजन में संलग्न सभी वादों के विरोधी हैं, क्योंकि ये शोषित वर्ग के हितों की रक्षा नहीं करते। मार्क्स के इन सिद्धांतों एवं मान्यताओं का विश्व साहित्य पर गहन एवं व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है।

4.8 समाजशास्त्रीय आलोचना

'समाज शास्त्रीय आलोचना' का अर्थ न केवल सांस्कृतिक दृष्टि तक ही सीमित है, अपितु इसमें इतिहास वह नैतिकता दोनों का समावेश है। समाज अपने किसी विशिष्ट युग में ही पूर्ण नहीं होता। उसके पीछे एक परंपरा होती है और आगे एक सम्भावना। इस परंपरा और सम्भावना को समझे बिना एक युग के समाज को समझना मुश्किल है। अतः ऐतिहासिकता

व नैतिकता इसके दो पक्ष हैं जिनके अभाव में समाजशास्त्र के अर्थ को पूर्ण रूप से नहीं समझा जा सकता।

'समाजशास्त्र' के वास्तविक स्वरूप को उसके क्षेत्र के माध्यम से समझा जा सकता है। समाजशास्त्र के क्षेत्र निर्धारण के विषय में विद्वानों द्वारा प्रतिपादित मतों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. विशिष्टात्मक विचारधारा

2. समन्वयात्मक विचारधारा

विशिष्टात्मक विचारधारा में हम वस्तु का अध्ययन दो विधियों द्वारा करते हैं- (i) स्वरूप (ii) अन्तर्वस्तु। स्वरूप से तात्पर्य बाह्य वस्तु से है, अन्तर्वस्तु से तात्पर्य आंतरिक विशेषताओं से है। विशिष्टात्मक विचारधारा के अनुसार सामाजिक संबंधों में भी स्वरूप और अन्तर्वस्तु का भेद परिव्याप्त है।

समन्वयात्मक विचारधारा के अंतर्गत समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान माना गया है। जिसमें समाज का समग्र रूप से अध्ययन होता है तथा समाज के विभिन्न अंगों के बीच उत्पन्न होने वाली अंतक्रियाओं को ध्यान में रखा जाता है। मानव शरीर के अंग जिस प्रकार अन्योन्याश्रित हैं, उसी प्रकार सामाजिक जीवन के विभिन्न अंग एक-दूसरे से अलग नहीं है। एक का प्रभाव दूसरे पर अवश्य पड़ता है।

समाजशास्त्र संस्थाओं का अध्ययन करता है। संस्थाएं मानवीय हितों को अपने विशिष्ट साधनों कार्यनिधियों व पद्धतियों से संपन्न करती है। साहित्य मानवीय भावनाओं को परिष्कृत नहीं करता अपितु उदात्त मानवीय चेतना में सुसभ्य संस्कार भी लाता है। अत: साहित्य और संस्थाएं दोनों ही विशद् कार्यों से जुड़ी हैं। संस्थाए जिन-जिन रीतियों रूढ़ियों के समूह से घिरी रहती हैं वे साहित्य में प्रतिबिंबित होती हैं। संस्थाओं में जिन सामाजिक संबंधों, मूल्यों, कार्य प्रणालियों की सुस्थिति है वह सुस्थिति साहित्य के भीतर निश्चित रूप से विद्यमान है। इस प्रकार समाजशास्त्र की आधारभूत सामाजिक संस्थाओं में परिवार एवं रिश्तेदारी, आर्थिक, राजनैतिक, वैधानिक, धार्मिक, शैक्षणिक एवं वैज्ञानिक संस्थाएं शामिल हैं। साहित्य कला के रूप में सामाजिक संस्था के क्षेत्र में शामिल हो जाता है। अभिव्यक्तिमूलक संश्लिष्ट संस्थाओं में कला, नाटक, मनोरंजन शामिल हैं। डॉ. विश्वम्भरदयाल गुप्ता की मान्यता है कि हित साधना के कारण कला एवं साहित्य में अनेक परंपराएं व रूढ़ियां सम्बद्ध रही हैं जिन्होंने संस्थात्मक आधार ग्रहण करने में शुरुआत की है। अत: साहित्य एक प्राचीन संस्था है। इसी प्रकार साहित्य एक सामाजिक संस्था है। इसका माध्यम है भाषा, जो एक सामाजिक सर्जना है। साहित्य का अपना एक स्वतंत्र समाज होता है। जिसके निर्माण में लेखक, पाठक, आलोचक तथा प्रकाश के अन्त:संबंधों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की प्रणालियों से पूर्व अनेक विधियां प्रचलित रहीं। इनमें दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, काव्यशास्त्रीय, सौंदर्यशास्त्रीय, शैली विज्ञान, ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक जैसी दृष्टियों के आधार पर साहित्य का विश्लेषण अध्ययन किया जा रहा है। मूल्यांकन विश्लेषण अब विभिन्न ज्ञानानुशासनों के आधार पर करने के पक्ष में है। इसलिए अब रचनाकार एक साथ अनेक लक्ष्यों की पूर्ति करता है। सामाजिक धरातल पर संबंधों की अन्तक्रियाओं को साहित्यिक धरातल पर समझने का प्रयास करना चाहता है, इन सभी

पद्धतियों से अधिक सटीक मापक पद्धति 'साहित्य का समाजशास्त्र' है। साहित्य के समाजशास्त्रीय के अध्ययन की अनेक पद्धतियां प्रचलित हैं पर इसका आधार वस्तुपरक एवं वैज्ञानिक अवश्य रहा है। इतना नहीं नहीं साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन नवीन अवधारणाओं की स्थापना करता है। साहित्य और समाज के पारस्परिक संबंधों के साथ अन्तःक्रियाओं की जटिलता एवं संघर्षों को रूपायित करता है। अब साहित्यकार समाज तथा साहित्य के पारस्परिक संबंधों को दर्पण, प्रतिबिम्बन, यथार्थ चित्रण से बढ़कर संश्लिष्ट स्थितियों को एक साथ समझने की प्रविधि को उद्घाटित करता है। साहित्य और समाजशास्त्र के बीच का रूप समाप्त हो चुका है। अब साहित्य का मूल्यांकन प्रत्यक्ष आधार पर किया जाने लगा है। समाजशास्त्रीय की दृष्टि में साहित्यिक घटना लौकिक वस्तु है। साहित्य की समाजशास्त्रीय अध्ययन की पद्धति इस तथ्य को प्रस्थापित करती है कि रचयिता की चेतना और मानसिकता जो रचना में कथ्य, पात्र, संवाद परिवेश आदि के रूप में अभिव्यक्ति पाती है, उसके मूल में समाज रहता है। इसलिए साहित्य समाजशास्त्री का मुख्य कार्य अथवा प्रतिपाद्य साहित्य के संरचनात्मक स्वरूप का अध्ययन करना तथा लेखक, प्रकाशक, पाठक आदि इकाइयों के संबंधों के जटिल जाल को समझने में अग्रसर होना है।

'साहित्य का समाजशास्त्र' अपने आप में एक जटिल एवं व्यापक विषय है। इसकी अनेक प्रविधियां, पद्धतियां मार्क्सवादी तथा मार्क्स-विरोधी दो स्कूलों में माना है। उनकी दृष्टि में समाजशास्त्र एक आलोचनात्मक अनुशासन एवं क्रिया है। साहित्य को जब समाजशास्त्रीय पद्धति के आधार पर विश्लेषित किया जाता है तब इस पर धर्म, रीति-रिवाज और विधि के प्रभाव का विश्लेषण किया जाता है साहित्य को विचारधारा की दृष्टि से आंका जाता है, सामाजिक विधान को भी आधार बनाया जाता है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और द्वंद्वात्मक आदर्शवाद, मार्क्स और हीगेल की धारणाओं से साहित्य का अध्ययन भिन्न-भिन्न नवीन दिशाओं की ओर विकसित हो चुका है। सटीक सार्थक एवं सम्यक् दृष्टियां "साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन" प्रस्तुत कर चुकी है।

'साहित्य का समाजशास्त्र' की प्रमुख सैद्धांतिक मान्यताओं का विश्लेषण अनेक दृष्टियों से किया गया है। इसकी मान्यताओं को एक परिधि में आबद्ध नहीं किया जा सकता कारण, इसका गतिशील एवं विकासशील होना है। रूचेक के अनुसार साहित्य–समाजशास्त्र की तीन प्रमुख सैद्धांतिक मान्यताएं प्रतिपादित की गई हैं।

1. प्रतिच्छाया सिद्धांत
2. नियामक सिद्धांत
3. प्रभावक सिद्धांत

ऐलनस्विंगवुड भी साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की तीन मान्यताएं हैं–

1. दर्पण सिद्धांत
2. लेखक की सामाजिक स्थिति का सिद्धांत
3. कृति के अस्तित्व एवं स्वागत का सिद्धांत

साहित्य का समाजशास्त्री, साहित्य को समाज की प्रतिच्छाया, समाज के नियामक व प्रभाव रूप में तथा कृति की सामाजिक स्वीकृति के संदर्भ में तथ्यों का संकलन एवं

प्रकल्पनाओं का निर्माण तथा परीक्षण करता रहा है। इन मान्यताओं आधारों को विश्व के साहित्यकारों एवं समाजशास्त्रियों ने स्वीकार किया है। फिर भी समय-समय पर इनमें परिवर्तन व विकास स्वाभाविक तरीके से होता रहा है। प्रतिच्छाया सिद्धांत के अंतर्गत समाज को दर्पण अर्थात प्रतिच्छाया माना गया है। साहित्य द्वारा युग प्रतिबिम्बित होता है। मार्क्सवादी विचारकों ने इस सिद्धांत का समर्थन किया है।

प्रेमचंद के अनुसार "इतिहास की अपेक्षा साहित्य जीवन पर अधिक प्रभाव डाल सकता है क्योंकि साहित्य अपने देश का प्रतिबिम्ब होता है।" साहित्य के समाजशास्त्र का प्रतिच्छाया सिद्धांत रचना विशेष के परिवेश और इस परिवेश के बीच उसकी संरचना को समझने में विशेष रूप से सहायक हो सकता है। नियामक सिद्धांत के अंतर्गत साहित्य को प्रेरक एवं उद्देश्यपूर्ण माना जाता है, आदर्शात्मक सामाजिक मूल्यों के प्रति साहित्यकार समाज का सही मार्ग निर्देशक होता है।

प्रभावक सिद्धांत प्रथम सिद्धांत तथा द्वितीय सिद्धांत का प्रभावशाली प्रेरक पक्ष है। यहां साहित्यकार का कार्य युग को प्रतिबिंब करना ही नहीं वरन उसे विसंगतियों से मुक्त कर नवीन दिशा की ओर ले जाना भी है। एक प्रकार से विषमताओं विपदाओं के बीच सही मूल्यों का आह्वान, आत्मबल प्रदान कराना साहित्यकार का लक्ष्य होता है।

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की प्रमुख प्रवृत्ति समग्रतावादी मानी जाती है। इस पद्धति के मूल में लेखक (कृतिकार) कृति और पाठक त्रिवर्ग अवश्य रहता है जबकि अन्य पद्धतियों में किसी एक पक्ष को केंद्र में रखा जाता है। यह विश्लेषण पद्धति प्रतिमानों को आत्मसात् किए हैं–त्रिवर्ग एक-दूसरे का पूरक है और अब प्रकाशक को भी घटक रूप में सम्मिलित किया गया है।

पाश्चात्य विचारकों से प्रभावित भारतीय विद्वानों ने साहित्य का समाजशास्त्र विषयक काफी कार्य किया है। हिंदी में मार्क्स, एंजेल्स, प्लेखानोव, लुकाच, ल्युसिएं, गोल्डमान सरीखे विचारकों का विशेष प्रभाव रहा है। हिंदी आलोचना को सामाजिक आधार पर समझने का प्रयास करने वाले समीक्षकों में डॉ. विश्वंभर दयाल गुप्ता, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, डॉ. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, डॉ. रमेश कुंतल मेघ, डॉ. शिव कुमार मिश्र, मुक्तिबोध, डॉ. रामविलास शर्मा तथा डॉ. नाववर सिंह जैसे लेखक प्रमुख हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि साहित्य समाज का दर्पण, प्रतिबिंब तथा प्रतिच्छाया तक सीमित नहीं है। वह उसका प्रभाव व नियामक तथा दशा और दिशा प्रदान करने वाला है। इस विश्लेषण पद्धति की निश्चित वैज्ञानिक विधि है–इसकी प्रतिमानक प्रणाली है। हिंदी आलोचना के विकास में भले ही 'साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन का प्रचलन देर से हुआ हो पर कुछ संगोष्ठियों-सेमीनारों में इस पद्धति के महत्व की चर्चा हो चुकी है। हिंदी आलोचना में समाजशास्त्रीय प्रणाली की ठीक प्रकार से शुरुआत मुक्तिबोध की आलोचना पद्धति से मानी जा सकती है। मुक्तिबोध ने इस पद्धति को आत्मसात कर माना है कि "साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव-सत्ता का अध्ययन है। अतएव जो लोग ऊपरी तौर पर साहित्य का ऐतिहासिक विहंगावलोकन अथवा समाजशास्त्रीय निरीक्षण कर चुकने में ही अपनी इतिकर्तव्यता समझते हैं वे एक पक्षीय अतिरेक करते हैं। ऐसे व्यक्ति साहित्य के ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय परिवेश की बात करके चुप हो जाते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि

आलोचना में ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक-सौंदर्यात्मक विवेचन की संपूर्ण एकात्मकता रहे।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि साहित्य की समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति समकालीन हिंदी समीक्षा को एक 'नयी आधारभूमि, प्रदान करती है। यह समीक्षा को वस्तुनिष्ठ बनाती है इसे सामाजिक सरोकारों के प्रति सचेत करती है। आज समीक्षा में रचना के साथ रचनाकार, परिवेश के साथ-पाठक और प्रकाशक को भी घटक रूप में अंगीकार किया गया है।

4.9 सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना

साहित्य-विश्लेषण की अनेक पद्धतियां प्रचलित हैं। समय-समय इन पद्धतियों एवं विश्लेषण, प्रणालियों में परिवर्तन एवं विकास होता रहा है। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में साहित्य की इन विभिन्न प्रचलित पद्धतियों-प्रणालियों की प्रतिमानक पहचान का प्रयास होता आ रहा है। इस सिद्धांत मूल्यांकन विश्लेषण की कसौटी रहा है- इसके साथ ही ध्वनि, रीति, अलंकार तथा औचित्यादि को भी कुछ आचार्यों ने मूल्यांकन विश्लेषण की पद्धतियां माना है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में सौंदर्यशास्त्रीय समाजशास्त्रीय, मार्क्सवादी, संरचनावादी पाठ भाषा वैज्ञानिक, चिह्न संकेत वैज्ञानिक आदि पद्धतियां विश्लेषण में विशेष रही हैं। इनमें सौंदर्यशास्त्रीय पद्धति प्रमुख हैं। हिंदी में सौंदर्यशास्त्र के अनेक पर्यायवाची हैं, जिनमें नंदनशास्त्र, कलाशास्त्र, संवेदनशास्त्र, कलादर्शन, सौंदर्यदर्शन, सौंदर्यविज्ञान, कलामीमांसा, दीक्षा शास्त्र, रस शास्त्र, आस्वादन शास्त्र कला विज्ञान तथा लालित्य-शास्त्र आदि प्रमुख हैं। हिंदी में 'ऐस्थेटिक्स' का हिंदी रूपांतर 'सौंदर्यशास्त्र' ही प्रचलित है। सौंदर्यशास्त्र सौंदर्य संबंधी मान्यताओं आत्मगत, वस्तुगत तथा समन्वित दृष्टि आदि की चर्चा इसमें की जाती है।

4.9.1 सौंदर्यशास्त्र की परिभाषा एवं स्वरूप

सौंदर्यशास्त्र मुख्य रूप से पश्चिम की विधा है किंतु भारतीय आलोचना दृष्टि भी इससे अछूती नहीं रही। डॉ. कुमार विमल ने सौंदर्य चिंतन को पाश्चात्य दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए संक्षेप में 'यूनान' रोम, जर्मनी, इंग्लैंड तथा रूस आदि देशों में विभाजित किया है। यूनान में सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू की धारणाएं हैं। सुकरात के अनुसार 'सुंदर' और 'शिव' एक है अतः सुंदर जीवन सापेक्ष है, प्लेटो की मान्यता है कि 'सुंदर', 'शिव' और 'सत्य' एक है। 'सुंदर' के लिए नैतिक होना आवश्यक है। अरस्तू के मत में सौंदर्य आकांक्षा, वासना और उपयोगिता से ऊपर की वस्तु है।

रोम के प्लुटार्क ने सौंदर्य को एक प्रकार की कलात्मक कुशलता माना है। बाडमगार्टेन का मत है कि प्रकृति ही सुंदर का चरम प्रतिमान हैं वे सौंदर्य शास्त्र को संवेदनशील ऐंद्रियबोध के शास्त्र के रूप में लेते हैं। कांट के अनुसार सौंदर्य चिंतनशील धारणा का आनंद है। इंग्लैंड के एल्सन ने सौंदर्य को विचारों का प्रवाह माना है। रूस के चर्नाशेब्स्की की धारणा है कि "सौंदर्य जीवन है।" हीगेल 'आइडियल की अभिव्यक्ति का प्रयास सौंदर्य' मानते हैं। और इनका माध्यम या अनुकरण ही उनकी दृष्टि में सुंदर है। वह इसका प्रयोग ललित कलाओं के दर्शन के रूप में करते हैं। हीगेल के पश्चात सौंदर्य शास्त्र में जिसका विशेष महत्व है वह है- क्रोचे। क्रोचे की मान्यता है कि सौंदर्यशास्त्र अभिव्यक्ति की क्रियाओं का विज्ञान है।

भारतीय आचार्यों में वामन कहते हैं 'सौंदर्यमलंकार' 'शिशुपाल वध' में माघ के द्वारा कहा गया है कि- "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रमणीयतायाः"। "प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता" कालिदास ने कुमारसंभव में कहा है। पंडित राज जगन्नाथ ने 'रस गंगाधर' में कहा है कि "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"। रवींद्रनाथ टैगोर के शब्दों में "मनुष्य के मुख में केवल आकृति की ही सुंदरता नहीं होती, उसमें चेतना की दीप्ति, बुद्धि की स्फूर्ति और हृदय का लावण्य भी होता है।" निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अंतः बाह्य की युगपत् क्रिया द्वारा ही सौंदर्य की सृष्टि होती है।

4.9.2 सौंदर्य या सौंदर्यात्मक मूल्य

रमेश कुंतलमेघ के मेध के शब्दों में "व्यक्ति के अहम् के भी दो पक्ष हैं- एक प्राकृतिक अथवा आदिम और दूसरा सामाजिक अथवा संस्कृत अहम्। आदिम अहम् मूलवृत्ति मूलक है और किसी प्रतिबंध को स्वीकार नहीं करता। सामाजिक अहम् मूलवृत्ति मूलक है और किसी प्रतिबंध को स्वीकार नहीं करता। सामाजिक अहम् प्रतिबंधों से समझौता करता है और सौंदर्य मूल्य इसमें स्थित रहते हैं। आदिम अहम् से जीवन में गति आती है और सामाजिक अहम् से सौंदर्यमूल्य प्रौढ़ होते हैं। इस प्रकार एक ओर आदिम और सामाजिक अहम् का आपसी द्वंद्व और दूसरी ओर वस्तु और वातावरण का द्वंद्व इस प्रक्रिया को संचालित करता है। अहम् के आपसी द्वंद्वों के फलस्वरूप संवेग, आवेश, सुख, रेचन आदि की स्थितियां उभरती-डूबती रहती हैं तथा वातावरण के द्वंद्वों के फलस्वरूप पदार्थ माध्यम से संयुक्त कलाकृति और उसको धारण करने वाला सामाजिक परिवेश बनता बदलता है। हमारा सापेक्ष अहम् अपने सौंदर्यानुभव तो करता है किंतु सौंदर्य की प्रतिष्ठा अपने से बाहर अर्थात वस्तु में करता है।" सौंदर्य वस्तुगत है, वस्तु कायम रहती है, किंतु सौंदर्यानुभव काल और जन के अनुरूप कभी तीव्र और कभी लुप्त एवं कभी परिवर्तित हो जाते हैं।

4.9.3 सौंदर्यात्मक मूल्यों की कोटियां

मूल्य-मीमांसा में मूल्यों की अनेक कोटियां वर्णित हैं। स्थूलता तथा सूक्ष्मता के आधार पर मूल्यों को विभाजित किया जाता है। विद्वानों के अनुसार "सौंदर्यमूलक आत्मगत, बहिर्गत होने से व्यापकता का समावेश होता है। इस प्रकार सौंदर्य-मूल्यों में विविधता तथा तीव्रता स्वयमेव आ जाती है। इन्हीं को 'कलावस्तु अंतर्भूत' एवं 'कलावस्तु बहिर्गत' तथा समन्वित मूल्य भी कहा जाता है।

कलावस्तु अंतर्भूत मूल्य में पदार्थात्मक मूल्य, संवेदनात्मक मूल्य, रूपात्मक मूल्य एवं विषय वस्तुगत मूल्य आते हैं। कलावस्तु बहिर्भूत मूल्य में पुनः प्रस्तुतीकरण तथा आत्मीकरण से संबंधित विषय वस्तुगत मूल्य, सामाजिक अथवा सार्वभौम आदर्श के मूल्य एवं वैयक्तिक आदर्श के मूल्य आदि आते हैं।

4.9.4 सौंदर्य संबंधी तीन विश्वात्मक दृष्टिकोण

सौंदर्य की विभिन्न परिभाषाओं एवं वर्गों को देखते हुए सौंदर्य की तीन प्रमुख विश्वात्मक दृष्टियां उभर कर आती हैं-

1. वस्तुनिष्ठ (बहिर्मुखी)

2. आत्मनिष्ठ (अंतर्मुखी)

3. सापेक्ष (समन्वयवादी)

सौंदर्य के प्रति वस्तुगत अथवा विषयीगत दृष्टि रखने वाले चिंतकों ने सौंदर्य को बाह्य पदार्थ में देखा है। आत्मसत्ता में विश्वास न रखने वाले ये सौंदर्य चिंतक सौंदर्य को इंद्रियों को सुख देने वाले गुणों अथवा रूप से समाहित मानते हैं। वस्तु की सुडौलता, आकार, रूप, व्यवस्थित क्रम, एकान्विति, स्पष्टता, सुकुमारता, कोमलता, सामंजस्य, संतुलन, अनुपात, माधुर्य उदात्तता आदि गुणों के आधार पर वस्तुवादी विचारक सुंदरता का निर्णय करते हैं।

आत्मनिष्ठ दृष्टि में विश्वास रखने वाले विद्वानों का मानना है कि सौंदर्य व्यक्ति की निजी अनुभूति है वस्तु या कथित गुण-प्रतीतियां मात्र हैं। जड़ पदार्थ का अपना कोई रूप गुण नहीं है। ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से प्रमाता की चेतना के सन्निकर्ष से ही इसमें रूप, गुण का आविर्भाव होता है। रागात्मक प्रवृत्ति ही वस्तु में सौंदर्य का प्रसार करती है।

वस्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ दृष्टियों के अतिरिक्त चिंतकों का एक बड़ा वर्ग सौंदर्य के समन्वयवादी दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया करता है। डॉ. नगेंद्र के अनुसार "सौंदर्य न तो पूर्णत: प्रमाता की चेतना में होता है और न पदार्थ में। उसकी सत्ता वस्तुत: दोनों के समन्वय में है।" डॉ. रमेश कुंतल मेघ के अनुसार "सौंदर्य एक गुण है, जिसका सामाजिक चरित्र होता है। सौंदर्य वस्तुगत तथ्य के रूप में समाज में अस्तित्वमान सौंदर्य मनुष्य के सामाजिक जीवन एवं ऐतिहासिक दशा की उपज है और मानवीय समाज के बिना सौंदर्य की कल्पना नहीं की जा सकती।"

भारतीय सौंदर्यशास्त्रीय परंपरा में जिन आलोचकों का नाम प्रधान रूप से आता है उनमें आनंद कुमार स्वामी, अमृत शेरगिल, अवनींद्र नाथ ठाकुर, रामकृष्ण दास, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ. जगदीश गुप्त, डॉ. भगवत शरण उपाध्याय, डॉ. फतेह सिंह, डॉ. गोविंद चंद्र पांडे, डॉ. कुमार विमल एवं डॉ. रमेश कुंतल मेघ आदि प्रमुख हैं। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि पश्चिम में उपजी सौंदर्यशास्त्री अवधारणा भारत में भी हिंदी आलोचना के क्षेत्र में पर्याप्त फली-फूली है। भारतीय सौंदर्यशास्त्र को समझने के लिए नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र को समझना अनिवार्य है। हिंदी समीक्षा में सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन पाश्चात्य और भारतीय दोनों दृष्टियों को आत्मसात किए हैं।

4.10 शैली वैज्ञानिक

हिंदी में जिस 'शैली' शब्द का प्रयोग किया जाता है उसका सामान्यत: दो शब्दों अंग्रेजी के स्टाइल और संस्कृत के रीति से संबंध है। शैली के स्वरूप को भारतीय व पाश्चात्य ने अपनी-अपनी दृष्टि से विवेचित किया है।

डॉ. नगेंद्र के अनुसार शैली शब्द की उत्पति 'शील' शब्द से हुई है। डॉ. भोलनाथ तिवारी ने शैली शब्द के मूल में 'शील' शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही माना है। शील एक देवता विशेष है, जिनका मेध्य मांजनी विधा है, इस विधा में 'लीपना' तथा पॉलिश करना आदि का आना, 'शील' शब्द के अर्थ स्तर पर 'शैली' के काफी निकट ला देता है।

कतिपय विद्वानों ने 'शील' का अर्थ एकाग्र होना, अभ्यास होना भी स्वीकार किया है। कोश के अनुसार शील का अर्थ स्वभाव, आचरण चरित आदि में है। इस आधार पर शील शब्द की व्याप्ति व्यक्ति व्यवहार, चरित्र, मनोवृत्ति, रुचि आदि तत्वों तक में है।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने मनोभावों को व्यक्त करने के सौंदर्यात्मक प्रयोग को 'शैली' कहा है। उन्होंने शैली के स्वरूप को मनोभाव से जोड़ा है।

हिंदी में प्रयुक्त 'शैली' शब्द अंग्रेजी के 'स्टाइल' के पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया है किंतु अंग्रेजी का स्टाइल शब्द अत्यंत व्यापक है हिंदी में शैली शब्द जहां व्यक्तित्व, साहित्य और साहित्य में प्रयुक्त रचनागत विशिष्टताओं एवं सौंदर्य तक सीमित है वहीं अंग्रेजी में 'स्टाइल' का संबंध साहित्येतर विशिष्टताओं से जोड़ा गया है। पाश्चात्य जगत में शैली के लिए रामचंद्र प्रसाद लिखते हैं-

"वे समस्त नुकीले उपकरण जैसे कि लोहे की कलम जिनसे तांबे के पत्रों पर खोदा जाता है या चित्रों की प्रतिच्छाया उतारी जाती है स्टाइल कहे जाते हैं। 'स्टाइल' शब्द से छेद करने वाले बरमी के उस उपकरण का बोध होता है जिससे प्राचीन और मध्ययुग में उन पहियों पर लिखा जाता था, जिन पर मोम जमाया गया होता था। इस उपकरण का दूसरा सिरा धारहीन होता था, जिससे अक्षरों को मिटाया जा सकता।" रेवरैंड, सेमुअल, वेजली, प्लेटो, चेस्टरफील्ड आदि ने 'शैली' को 'वैचारिक दृष्टि' माना है। चेस्टरफील्ड के अनुसार 'शैली विचारों की पोशाक है।'

निष्कर्षत: एक रचनाकार के लिए 'शैली' ही वह उपादान है जिसके द्वारा लेखक अपनी 'ज्ञानात्मक संवेदना' को पाठक तक पहुंचाता है। 'शैली वैज्ञानिक' समीक्षक रचना के रूप में सौंदर्य का अध्ययन भाषिक उपादानों के माध्यम से कर कृति के मूल कथ्य उद्घाटित करता है।

शैली को दो आधारों पर परिभाषित किया जाता रहा है। (i) भाषापरक (ii) रचनाकार के व्यक्तित्व के आधार पर। शैली के समाजशास्त्रीय स्वरूप पर नगेंद्र का कहना है कि "भाषा समाज के जीवन-व्यापार का अनिवार्य साधन है और साहित्य उसका दर्पण" अत: शैली विज्ञान जो साहित्य का भाषिक अध्ययन है दोनों छोरों पर भाषा और साहित्य दोनों के माध्यम से समाजशास्त्र में आबद्ध है। आरंभ में मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान आदि का विकास स्वतंत्र अनुशासनों के रूप में हुआ था, परंतु समाजवादी दर्शन के प्रभाव से समाजशास्त्र का महत्व बढ़ा है और अन्य अनुशासनों में उसका प्रवेश होता गया। मनोविज्ञान के क्षेत्र में सामाजिक मनोविज्ञान का, भाषा के क्षेत्र में सामाजिक भाषाविज्ञान का विकास हुआ है। शैली में जिस हद तक शैलीकार के सामाजिक व्यक्तित्व अर्थात देशकाल से निर्मित व्यक्तित्व का प्रतिफलन रहता है, उसी हद तक शैली विज्ञान पर भी समाजशास्त्र का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। वैयक्तिक शैली से आगे बढ़कर शैली वैज्ञानिकों से वर्गीय शैली, युगीन शैली तथा राष्ट्रीय शैली आदि के अध्ययन प्रस्तुत किए हैं उनसे उनका आधार स्पष्टत: समाजशास्त्र ही है।"

4.10.1 शैली वैज्ञानिक आलोचना तत्व

शैली वैज्ञानिक आलोचना तत्वों का प्रमुख उद्देश्य साहित्य के भाषिक सौंदर्य को प्रस्तुत करना होता है। यह आलोचना काव्य-भाषा को विशिष्ट भाषा के रूप में स्वीकार करती है।

उसमें ध्वनि, रूप रचना, शब्द प्रयोग, वाक्य रचना तथा अर्थाभिव्यक्ति के विभिन्न स्तरों पर अपनी व्यवस्था है। सामान्य भाषा इस व्यवस्था और व्याकरण में आबद्ध होती है, किंतु साहित्य में इन नियमों का पालन नहीं हो पाता। काव्य विशिष्ट अनुभव पर आधारित होता है, अत: काव्यभाषा को विशेष अनुभव की अभिव्यक्ति करने के लिए विशेष बनना पड़ता है। इसी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में भाषा के नियम टूट जाते हैं, उनके स्थान पर विशिष्ट एवं नवीन प्रयोग होते हैं। शैली वैज्ञानिक आलोचना के दो तत्व प्रमुख रूप से हैं- 1. अग्रप्रस्तुति प्रतिमान, 2. चयन संयोजन।

1. अग्र प्रस्तुति प्रतिमान को पेशबंदी, अग्रगामिता, अग्रप्रस्तुति आदि नामों से जाना जाता है। संप्रेषणीयता की दृष्टि से हिंदी में 'अग्रप्रस्तुति' ही स्वीकार्य है। यह प्रतिमान आलोचक की ओर सक्रिय होता है। यह सीधे अभिलक्षणों पर और उसके द्वारा उन्मीलित होने वाली रचना की साभिप्रायता पर विचार करता है। यह भाषा के सभी स्तरों पर क्रियाशील होता है। ध्वनि स्तर से भाषा के अद्यतन स्वीकृत सर्वोच्च स्तर पर प्रोक्ति तक यह क्रियाशील होता है। भाषा की एक समर्थ इकाई प्रोक्ति मानी गई है। उससे यह पता चलता है कि लेखक ने भावों को संप्रेषणीय बनाने के लिए किस प्रकार से वाक्य का संयोजन किया है। 'अंग प्रस्तुति' प्रतिमान से चतु:आयामी अर्थ संप्रेषित होता है- (अ) विचलन, (ब) समांतरता, (स) विपथन, (द) विरलता।

   इनमें विचलन और समांतरता के अग्रप्रस्तुति के पूर्व स्वीकृत अवयव हैं। कोई कृति अपनी सृजनात्मकता में चतु:आयामी अग्रप्रस्तुति के प्रसंगत और पद्धतिबद्ध वैशिष्ट्य द्वारा विशेषीकृत होती है। इसका संबंध पाठक के मनोविज्ञान और पाठकीय सहृदयता से है। कृति की बुनावट को अधिक ऐंद्रिक रूप प्रदान करने हेतु 'अग्रगामिता' के चतु:आयामी अवयवों की महती भूमिका होती है।

   (अ) **विचलन**- सामान्य भाषा के सामान्य भाषिक नियमों के अतिक्रमण को विचलन कहा जाता है। विचलन को 'सहेतुक' भी कहा जाता है क्योंकि उसके पीछे रहने वाले तत्व कलात्मक संवेग की अपनी ही विशिष्टता रखते हैं। जोफ्री लीच के अनुसार "यह विचलन शब्द, व्याकरण, ध्वनि, लिखावट, अर्थ, बोली, रजिस्टर एवं ऐतिहासिक काल' आदि कई स्तरों पर होता है।" स्पष्टत: विचलन वह उपकरण है जिसके द्वारा रचनाकार अपने सृजनात्मक उद्देश्य को पूरा करता है। 'विचलन' के कई स्तर हैं-

   - **ध्वनि स्तरीय विचलन**- ध्वनिपरक विचलन का प्रयोग सृजनात्मक भाषा में देखने को मिलता है। अज्ञेय के यात्रा संस्मरण 'एक बूंद सहसा उछली' का एक उदाहरण विचलन को स्पष्ट करता है। अज्ञेय शेक्सपीयर का स्मारक देखने के लिए बस की प्रतीक्षा में बैठे हुए सोचते हैं कि "इथथे अगली बथ मेरी हो थकती है। थेक्थपीयर को थलाम।"

     इन वाक्यों में 'स' ध्वनि के स्थान पर 'थ' का प्रयोग हुआ है। तुतलाहट में भी 'स' का उच्चारण प्राय: 'थ' ही होता है। इस प्रक्रिया के द्वारा अज्ञेय व्यक्त करना चाह रहे हैं कि शेक्सपीयर की साहित्यिक समझ के समक्ष वे बच्चे हैं।

- **शब्द स्तरीय विचलन**- इसमें उन समग्र शब्दों का अध्ययन किया जाता है, जो कोश की सीमा का अतिक्रमण करते हैं। कवि अथवा रचनाकार को अर्थ की अभिव्यक्ति अथवा कथ्य को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए कुछ नवीन शब्दों की रचना करनी पड़ती है क्योंकि कोशगत शब्द रचनाकार के 'कथ्य' का प्रतिनिधित्व करने में कभी-कभी पूर्ण समर्थ नहीं होते हैं।

  डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार "भाषा में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि अलग-अलग प्रकार के शब्द होते हैं। और प्रत्येक भाषा के नियमानुसार उस भाषा में इनका प्रयोग होता है। काव्य भाषा में कभी-कभी इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि एक भाषा भाग का प्रयोग दूसरे रूप में करने की छूट ले ली जाय।"

  जब साहित्यकार के मस्तिष्क में उठी नयी संकल्पना के अनुरूप शब्द उसे संबद्ध भाषा में नहीं मिलता, तब वह दूसरे स्थान से शब्द लेकर नवीन शब्द की रचना करता है और अपने मनोभावों को साकार करता है, जैसे-

  "पहले लोग सठिया जाते थे
  अब कुर्सिया जाते हैं।"

  उपर्युक्त वाक्य में कवि ने 'कुर्सिया' जाते हैं शब्द संज्ञा (कुर्सी) से क्रिया (कुर्सियाना) में परिवर्तित किया है।

- **व्याकरणिक विचलन**- इसमें वाक्य स्तरीय, पद स्तरीय व्याकरण में किए गए विपथन को सम्मिलित किया जाता है। काव्य तथा अन्य साहित्यिक रचनाओं में व्याकरणिक विपथन का खूब प्रयोग हुआ है। जैसे कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'चारू चन्द्रलेख' में एक वाक्य आता है- "निछावर कर दे अपना सर्वस्व उसके चरणों में।"

- **संज्ञा-विचलन**- संज्ञा शब्दों में विचलन अनेक प्रकार से होता है। यह विचलन काव्य भाषा और सामान्य-भाषा दोनों में होता है किंतु सामान्य भाषा में प्रयुक्त शब्द बहुप्रयुक्त होने से अपना अर्थ सौंदर्य खो देते हैं और सामान्य भाषा के शब्द बन जाते हैं। जैसे-

  "हर डगर के प्रश्न हैं मेरे लिए पठनीय
  कौन सा पथ कठिन है।"

- **सर्वनाम विचलन**- इस विचलन में परंपरा सम्मत एवं व्याकरण सिद्ध सर्वनाम का प्रयोग न करके, उसके स्थान पर इसके सर्वनाम का प्रयोग किया जाता है-

  "अधजले शब्दों के ढेर में तुम
  क्या तलाश रहे हो?
  तुम्हारी आत्मीयता"

- **कारकीय विचलन**- जहां कर्ता के स्थान पर कर्म का प्रयोग किया जाए उसे कारकीय विचलन कहते हैं। यहां प्रयोजन कर्म को प्रधान रखता है

व्यंग्य के अतिरिक्त प्रभाव उत्पन्न करने के लिए भी कारकीय विचलन का प्रयोग किया जाता है।

"मोटा आरामकुर्सी के पास खिसक आया" इसमें कर्म (मोटा) को कर्ता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

- **विशेषण विचलन**- उसमें संज्ञा के साथ विशेषण का विपक्षित प्रयोग किया जाता है- जैसे

  और बहुत चौड़ी हवाएं
  चौड़ी शब्द हवाओं का विशेषण है।

- **क्रिया-विशेषण विचलन**- इसमें क्रिया के साथ विशेषण का विपथित प्रयोग होता है। जैसे *"काली निगाह में पली"*

- **मानवीकरण विचलन**- इसमें निर्जीव संज्ञाओं के साथ कर्तव्य भाव का आरोपण हो वहां क्रिया स्तरीय अथवा मानवीकरण होता है। जैसे-

  "किसलय वसना नवलय लतिका
  मिली मधुरप्रिय उरू तरू पतिका" (निराला)

  "जैसे अंधकार में
  एक दीपक की लौ
  उसके वृत्त में करवट बदलता सा
  पीला अंधेरा।"

- **लिंग विचलन**- लिंग व्यवस्था का प्रयोग इसके अंतर्गत आता है। जैसे-

  "अचानक यह स्याही की बूंद
  लेखनी से गिरकर सुकुमार।"

  यहां बूंद में पुल्लिग का प्रयोग हुआ है।

- **अर्थ स्तरीय विचलन**– मानवीकरण विशेषण विपर्यय आदि शब्द स्तरीय विचलन के साथ-साथ अर्थ स्तरीय विचलन के भी प्रतीक हैं। इनके अतिरिक्त जहां शब्द अपना प्रचलित अर्थ छोड़कर, अन्य अर्थ प्रदान करें, वहां अर्थ-स्तरीय विचलन कहा जाएगा। जैसे-

  उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर

(ब) **समानांतरता**– यदि विचलन का सिद्धांत अनियमितता की संकल्पना को अपना आधार बनाता है तो समांतरता, अतिरिक्त नियमितता की संकल्पना को बना लेता है। समांतरता का अर्थ किसी भाषिक लक्षण की पुनरावृत्ति की नियमितता।

(स) **विपथन**– विपथन की मूल अवधारणा भी अतिक्रमण को ही लेकर चली है, लेकिन यह अतिक्रमण लेखक के निजी भाषा के मानक से होता है जब रचनाकार अपने द्वारा स्वीकृत और सुस्थिर एक मानक की प्रत्याशा से अतिक्रमण कर जाता है और इसके समानंतर या विरोध में दूसरे 'मानक' को उपस्थित करता है तब 'विपथन' होता है।

(द) **विरलता**– विरलता की अवधारणा उन्मीलकों पर आधारित होती है। उन्मीलक शब्दों का प्रयोग प्राय: विरल ही होता है। विश्लेषण के सहारे इसे रेखांकित भी नहीं किया जा सकता। उन्मीलक कथावस्तु को नीरसता से बचाने के लिए यहां-वहां विरल रूप में प्रयुक्त होते हैं जिससे रोचकता की निरन्तरता नहीं टूटती। विरलता से तात्पर्य भी सामान्य अर्थों में अंग अथवा अंश के पास-पास नहीं होनी चाहिए अर्थात कथा-वर्णन के भाषा-प्रयोग में बीच-बीच में विरलता के होने से शब्दों के प्रयोग में अवकाश की व्यवस्था होती है।

भाषा के सभी स्तरों– ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य, प्रोक्ति तथा अर्थ में विरलता के अभिलक्षण विद्यमान रहते हैं।

विरलता की अवधारणा समान्तरता की विलोम है। विरलता एक ही संख्या तक सीमित रहती है, एक से आगे बढ़ने पर आवृत्ति होने लगती है। विचलन की अवधारणा से भी एकदम विपरीत है। विलचन में व्याकरण के नियमपरक मानक से अतिक्रमण होता है लेकिन विरलता का जन्म ऐसे मानक के बीच से ही होती है।

विरलता की अवधारणा विपथन के विरोध में भी जन्म लेती है। विरलता विचलन की तरह न तो नियमगत मानक से अतिक्रमण करती है और न ही विपथन की तरह सिद्धांतगत मानकों का अतिक्रमण करती है। जहां-जहां विपथन की स्थिति होगी वहां विरलता मौजूद नहीं रहती।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साभिप्राय भाषिक विशिष्टता या अग्र प्रस्तुति कभी विचलन के सहारे उपस्थित होती है, कभी विपथन के सहारे तो कभी समान्तरता के साथ उत्पन्न होती है।

2. **चयन संयोजन**- डॉ. नगेंद्र के अनुसार "शैली विचारित या अविचारित चयन प्रक्रियाओं की फलश्रुति होती है। एक ही भाषा की दो उक्तियां, जिनका वाच्यार्थ प्राय: समान होते हुए भी भाषिक संरचना भिन्न होती है, शैली की दृष्टि से भिन्न मानी जा सकती है।"

कोरीना के अनुसार "हाथ से निकालकर बीज बोना चाहिए न कि पूरे बोरे सहित" यहां भाषा के प्रयोग को महत्व दिया गया। भाषा के इस प्रकार के चयन में भाषा के लिए वैयक्तिक संस्पर्श प्राप्त करने की संभावनाएं रहती हैं।

चयन के अनेक स्तर होते हैं। वाक्य स्तर पर कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य आदि संरचनाओं में चयन के अवसर होते हैं। डॉ. नगेंद्र के अनुसार शैली के निर्माण में चयन की प्रक्रिया अनिवार्य है। कहीं तो लेखक सावधान होकर कलात्मक विवेक से शब्दों का, शब्द घटकों का, वाक्यांशों और वाक्यों का चयन करता है। चयन के कई स्तर हैं- इनमें

1. ध्वनि चयन
2. शब्द चयन
3. युगीन प्रवृत्ति
4. छंद की मांग एवं लयात्मकता के लिए

5. नाद-सौंदर्य के लिए
6. अर्थ का सूक्ष्म अंतर व्यक्त करने के लिए
7. प्रकरण उपयुक्तता एवं प्रस्तुत से समानता के लिए
8. आंचलिकता का रंग देने के लिए
9. वाक्य-चयन
10. शब्द की अर्थ-व्यंजक शक्तियों में चयन

निष्कर्षत: 'शैली' चयन की प्रक्रिया से निर्मित होती है। रचनाकार जिस भाषा को अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपनाता है, वह सामाजिक संस्कार भी है और व्याकरणिक व्यवस्था भी। अत: रचनाकार भाषा को निर्मित नहीं करता, उसकी स्वतंत्रता तो समाज में उपलब्ध भाषा में से इस प्रकार चयन करने में होती है, जो सौंदर्य की सृष्टि कर सके।

4.10.2 शैली वैज्ञानिक आलोचना का स्वरूप

'शैली वैज्ञानिक आलोचना' कृति का विश्लेषण प्रस्तुत करती है। अंतर यह है कि अन्य समीक्षा पद्धतियां जहां मात्र दृष्टियां हैं वहां 'शैली विज्ञान' एक प्रणाली भी है, जिसकी दृष्टि भाषापरक है। इन आलोचनाओं को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. वाक्य स्तर पर सिद्ध भाषिक प्रतीकों का अध्ययन
2. साहित्यिक शैली विज्ञान और
3. काव्यकृति के स्तर पर सिद्ध भाषिक प्रतीकों का अध्ययन अथवा संरचनात्मक शैली विज्ञान।

शैली विज्ञान आभ्यंतर आलोचना की वह प्रणाली है, जिसकी चिंतन परंपरा वस्तुवादी और दृष्टि भाषावादी है। चूंकि शैली विज्ञान की दृष्टि से साहित्य एक शाब्दिक कला है और कला का क्षेत्र विशद और विस्तृत है इसलिए काव्यकृति को शाब्दिक प्रतीक स्वीकार करना अनुचित नहीं है। उचित होने का कारण यह है कि काव्य कृति द्वारा जिस काव्य वस्तु का सृजन होता है, वह पूरी की पूरी भाषाबद्ध होती है तथा भाषा के प्राण तत्व के रूप में शैली स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है। इसलिए शैली विज्ञान की मान्यता है कि शाब्दिक अभिव्यक्ति पक्ष के विवेचन-विश्लेषण द्वारा उसके तथ्य तक पहुंचना संभव हो सकता है और काव्य-वस्तु भाषाबद्ध है, इसलिए भाषा निरपेक्ष रहकर उसका विश्लेषण अधूरा ही माना जाएगा।

शैली विज्ञान के प्रमुख आलोचकों में डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, डॉ. नगेंद्र, डॉ. कृष्ण कुमार, डॉ. पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु प्रमुख हैं।

सारांश में कहा जा सकता है कि शैली वैज्ञानिक आलोचना रचना को उसकी समग्रता में देखती है। कृति के आंतरिक के सौंदर्य का उद्घाटन इसका प्रमुख उद्देश्य है। शैली वैज्ञानिक समीक्षा ने भाषा और साहित्य विषयक अध्ययन के बीच की खाई को दूर किया है। इसने समीक्षा को विविध वादों- अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद आदि से निकालकर रचना से जोड़ा है।

4.11 नयी समीक्षा आलोचना प्रणालियां

नयी समीक्षा बीसवीं शताब्दी की अत्यधिक चर्चित आलोचनात्मक वृत्ति है। जिसका नाम 'रूपात्मक समीक्षा' भी है। सर्वप्रथम इस आलोचना-प्रवृत्ति ने परंपरागत साहित्यिक मानदंडों कला-मूल्यों और दृष्टियों में गहरे स्तर पर बदलाव को रेखांकित किया है। 'नयी आलोचना' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जोएल स्पिनगार्न ने 1910 में किया। इसी शब्द का उपयोग कर 1941 में रैन्सम ने एक पुस्तक का प्रकाशन किया। नयी समीक्षा का मूल सिद्धांत है कि कविता का अस्तित्व उसके रूप में ही सन्निविष्ट है। काव्य की समीक्षा से तात्पर्य है कविता के रूप का विश्लेषण। सन् 1956 में टी. एस. इलियट को नयी समीक्षा शब्द के मुक्त प्रयोग पर अपने निबंध 'आलोचना के सीमांत' में यह चेतावनी के रूप में कहना पड़ा- "लोग नयी आलोचना" शब्द का प्रयोग अक्सर यह समझे बिना करते हैं कि इस शब्द में कितनी विविधता का समावेश है।" इस शब्द की अनिश्चितता के कारण ही नयी समीक्षा को सौंदर्यपरक रूपवाद जैसे नाम से भी संकलित किया गया। चूंकि यह समीक्षा मात्र रूपवाद न होकर विश्लेषणात्मक आलोचना का एक नया ढंग है, नयी प्रवृत्ति है, नया आंदोलन है, नया विकास है, इस दृष्टि से 'नयी समीक्षा' शब्द ही प्रचलन में आता रहा है।

नयी समीक्षा गहरे स्तर पर 'आनटोलॉजिकल थ्योरी' के विकास का एक ऐसा नया ढंग है जो कृति की स्वायत्तता, विशिष्टता तथा अद्वितीयता के रूपवादी सिद्धांत को मानती है। कविता के वस्तुनिष्ठ निरपेक्ष समझ के लिए नयी समीक्षा ने इस बात पर पूरा ध्यान केंद्रित कर दिया कि कविता के भीतर पाठक या आलोचक को उसमें प्रयुक्त शब्दावली, विशिष्ट शब्दों, अक्षरों, बिंबों, प्रतीकों आदि के मध्य प्राप्त विविध संबंधों का विश्लेषण-व्याख्यान ही जागरूकता से अपेक्षित है। क्योंकि कविता काव्यभाषा में हो इसे भीतर से समझने के लिए नयी समीक्षा ने कृति के ध्वनि और वस्तु के कसे हुए संसार के सूक्ष्म गहन विश्लेषण के साथ पाठ-विश्लेषण की पद्धति को कायम किया।

हिंदी की नवीन सैद्धांतिक समीक्षा का स्वर नयी समीक्षा में पूरी तरह से उभरकर आया है। यह नयी समीक्षा प्रगतिवादी समीक्षा के अतिवाद से भिन्न प्रयोगवाद तथा नयी कविता के युग में नवीन रूपवाद का अनवरत समर्थन करती रही है। शिल्पगत चमत्कारों को लेकर उठी बहस ने नयी कविता ने एक आंदोलन का रूप धारण कर लिया है। इस बहस में विचारों से समाजवादी और संस्कारों से व्यक्तिवादी नेमिचन्द्र जैन, डॉ. रघुवंश, श्री विजयदेव नारायण साही से लेकर मलयज तक सभी शामिल हैं। ये सभी न केवल सृजन-प्रक्रिया, सृजन के उपादान और सृजन माध्यम को ही व्यक्ति विशिष्ट मानते हैं, बल्कि नये काव्य-सौंदर्य के भावन और आस्वाद के लिए प्रमाता या सामाजिक के विशिष्ट साहित्यिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक संस्कारों से युक्त व्यक्तित्व की कल्पना करते हैं।

रस-सिद्धांत का विरोध करने पर भी सभी नयी-समीक्षा के चिंतक साधारणीकरण-सिद्धांत का समर्थन करते हैं। नये संदर्भों में वे सभी साधारणीकरण के साथ काव्य और रचना-प्रक्रिया की बौद्धिक व्याख्या करते हैं। सभी संप्रेषण-सिद्धांत को कला में प्रधान सिद्धांत के रूप में स्वीकृति देते हैं तथा बिंब-प्रतीक और काव्य-भाषा को काव्य प्रतिमान के रूप मे प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। सभी संप्रेषण-सिद्धांत को कला में प्रधान सिद्धांत के रूप

में स्वीकृति देते हैं तथा बिंब-प्रतीक और काव्य-भाषा को काव्य प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

हिंदी समीक्षा की नवीन चेतना और दृष्टि पर द्वितीय विश्व-युद्ध का गहरा प्रभाव है। नये कलाकारों ने सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन का तीव्रतम चित्रण अपने सृजन और आलोचना-कार्य में किया है। परंपरागत मूल्यों पर तीखे व्यंग्य किए हैं। इस परंपरा में अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ. जगदीश गुप्त, साही, नेमिचन्द्र जैन आलोचक हैं। नयी समीक्षा चिंतन में निराशावादी जीवन-दर्शन की प्रधानता है।

हिंदी की नयी समीक्षा का संपूर्ण वैज्ञानिक चिंतन पश्चिम से ही प्रारंभ हुआ है। पूर्व के आलोचकों ने पश्चिम के मूल्यों से स्वतंत्रता के पश्चात एक युद्ध लड़ा एवं नयी परिस्थितियों ने कवियों, समीक्षकों में नवीन बोधों तथा दृष्टियों को विकसित किया। डॉ. रघुवंश के शब्दों में "भौतिक विज्ञानों के साथ समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा मानव शास्त्र आदि क्षेत्रों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकसित होने से इस युग में प्राचीन स्थापनाओं, मर्यादाओं और मूल्यों में क्रांति उपस्थित हुई। यह आधुनिक युग अपनी वैचारिक दृष्टि तथा मशीनी सभ्यता के साथ पिछले समस्त युगों के सामने प्रश्नचिह्न बन गया।

नयी समीक्षा के प्रमुख विषयों में जीवन की भौतिकतावादी दृष्टि पर विचार है। इसमें माना गया कि जीवन भौतिकता से शासित है और मानव का समस्त भावनात्मक जीवन काम-वासना अथवा अहंमूलक प्रवृत्तियों पर आधारित है। अज्ञेय ने इसी अर्थ में 'जीवन को यौन वर्जनाओं का पुंज' कहा है। इसी विचार दृष्टि की भूमि में श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'लघुमानव सिद्धांत' का प्रतिपादन किया। "नयी कविता आज की मानव विशिष्टता से उद्‌भूत उस लघुमानव के लघु परिवेश की अभिव्यक्ति है जो एक ओर आज की समस्त रिक्तताओं के बीच वह अपने व्यक्तित्व को भी सुरक्षित रखना चाहता है।" श्री वर्मा के इस दृष्टिकोण को प्रगतिवादी समीक्षकों ने अमरीकी प्रतिक्रियावादी सिद्धांत दृष्टि का नाम दिया है जिसकी विस्तार से चर्चा मार्क्सवादी समीक्षा के अध्ययन में की गई है। स्वयं नयी कविता के पक्षधर मुक्तिबोध ने नयी कविता में उस 'लघु मानव-सिद्धांत' को अमरीकी प्रचार का हिस्सा कहा है। वे उसे शीतयुद्ध की साम्राज्यवादी विचारधारा का व्यक्तिवादी आत्म-सीमित अमरीकी दर्शन मानते हैं। क्योंकि यह मुख्यतः मानव मुक्तिवादी विचारधाराओं के विरुद्ध हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि काव्य-प्रतिमानों में अनुभूति की प्रमाणिकता, प्रमाणिकता की अनुभूति, परंपरा और आधुनिकता, प्रयोग और प्रगति, युगीन यथार्थ की चेतना, समाज और साहित्य की समस्या, प्रासंगिकता और समसामयिकता, आधुनिक भाव बोध, कवि और जीवन, सामाजिकता और प्रतिबद्धता, दायित्व बोध और सांस्कृतिक-मूल्य, सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन-अनास्था, कुंठा, अमानवीकरण, त्रास, जटिलता, तनाव, विसंगति, विडंबना, अकेलापन, आत्म निर्वासन, अस्तित्व का संकट, अस्मिता का संकट, विवशता, ऊब आदि नयी समीक्षा के प्रमुख विषय रहे हैं। इस समीक्षा में काव्य संरचना, काव्य-भाषा और सृजनशीलता, अनुभूति की जटिलता, काव्यबिंब और सपाटबयानी, नया प्रतीक विधान, नयी उपमान योजना, कलाकार की ईमानदारी, परिवेश और मूल्य, रचना-प्रक्रिया की समस्या, रचनाकार की दृष्टि, अलंकार-छंद आदि के सभी प्रश्नों पर भी विचार किया गया है।

गतिविधि

आधुनिक आलोचकों की समीक्षा शैली की विशेषताओं को एक चार्ट के माध्यम से दर्शाते हुए उनकी तुलना कीजिए।

क्या आप जानते हैं?

प्रसिद्ध समीक्षक डॉ. नामवर सिंह अपनी वक्तृत्व (वाचन) कला के लिए बेहद लोकप्रिय हैं कदाचित ऐसा इसलिए है कि वे स्वयं चाहते हैं कि बोला हुआ लिखा सा लगे और लिखा हुआ बोलता सा।

4.12 सारांश

'आलोचना' साहित्य की वह विधा है, जो कलाकार की सृष्टि में निहित रहस्य को सर्वजन हिताय, साकार रूप प्रदान करती है। आलोचक किसी कृति को हृदयंगम करता है, उसके रस-प्रवाह में अपने को निमग्न कर देता है और फिर उसकी विशेषताओं पर विचार करता हुआ उसकी उपलब्धियों एवं कमियों का खाका खींचता है। इतना ही नहीं कृतियों को श्रेणीबद्ध करना, लक्ष्य-ग्रंथों के आधार पर लक्षणों की स्थापना करना या फिर उन लक्षणों के आधार पर किसी कृति का मूल्यांकन करना एवं उस पर अपना निर्णय देना या अन्य कृतियों को उसके समकक्ष रख कर तुलनात्मक अध्ययन करना आदि समस्त स्थितियां भी आलोचना के अंतर्गत आती हैं। आलोचना साहित्य का बीज-वपन निश्चय ही भक्तिकाल में हो गया था। भक्तिकाल में हमारा परिचय आलोचना के दो रूपों से होता है। एक तो शास्त्रीय या सैद्धांतिक आलोचना से, दूसरा व्यावहारिक आलोचना के तुलनात्मक एवं प्रभावात्मक रूप से। प्रभावात्मक आलोचना का बीज-वपन भक्ति काल में हो चुका था। तुलसी और सूर की श्रेणी में गंग कवि और कवि केशवदास के नामों का उल्लेख तत्कालीन आलोचक प्रायः करते रहे हैं। रीतिकालीन आचार्यों ने हिंदी साहित्य में एक प्रणालीबद्ध आलोचना की स्थापना की। आधुनिककाल में भी हमारे आलोचना-शास्त्र पर संस्कृत काव्यशास्त्र का अप्रतिम प्रभाव है।

भारतेंदु युग में किसी कृति के गुण-दोषों का विवेचन ही आलोचना का लक्ष्य रहा। दूसरे इस युग में आलोचना पुस्तकाकार में उभर कर नहीं आई, बल्कि लेखों के माध्यम से पुस्तकों की विस्तृत समालोचना लिखी जाने लगी। द्विवेदी युगीन आलोचना साहित्य की सर्वोपरि विशेषता यह है कि लेखों, टिप्पणियों आदि के साथ कृति एवं कृतिकारों पर स्वतंत्र पुस्तकों के प्रणयन की प्रणाली का प्रारंभ हुआ। दूसरे, इस युग में सामान्य कोटि की तुलनात्मक आलोचना का भी सूत्रपात हुआ, आगे चल कर परिष्कृत एवं प्राजल रूप में विकास हुआ। तीसरे, पाश्चात्य आलोचना एवं प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र का समन्वयरूप हिंदी आलोचना साहित्य में अधिक निखार के साथ प्रविष्ट हुआ।

आलोचना के क्षेत्र में युग पुरुष माने जाने वाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी पारदर्शी दृष्टि एवं सूक्ष्म चिंतन के द्वारा एक दूरदर्शी और तत्व पारखी के रूप में हिंदी आलोचना को नया आयाम, ऊंचा अर्थ एवं आशय प्रदान किया। आचार्य शुक्ल ने प्राचीन

काव्यशास्त्र के सार तत्व को ग्रहण कर उसमें पाश्चात्य समीक्षा का पुट देकर युगानुरूप काव्य कृतियों का अवलोकन कर आलोचना साहित्य को एक नया रूप प्रदान किया। आचार्य शुक्ल द्वारा प्रशस्त मार्ग को और भी अधिक स्वच्छ एवं प्रांजल बनाने में शुक्लोत्तर आलोचकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'काव्य में लोक मंगल' के सिद्धांत की स्थापना की। लोक चिंता, लोकधर्म, लोक जीवन, लोक हृदय, लोकादर्श आदि शुक्ल जी के जीवन दर्शन के आधार शब्द हैं। इन्हीं के भीतर अपनी समस्त समीक्षा-दृष्टि अंगी रूप में विद्यमान हैं। इसी केंद्रीय चिंतन की शब्दावली से शुक्ल जी ने काव्य का समस्त विवेचन 'लोक धर्म' और 'लोक मंगल' की दृष्टि से किया है। 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' नामक लिखे गए निबंध में संपूर्ण काव्य का वर्गीकरण इसी आधार को लेकर किया है। इस प्रकार 'लोक-पीड़ा' ने उनका विशेष ध्यान आकृष्ट किया है। मानवतावादी द्विवेदीयुगीन समीक्षादर्शों का उनमें परिष्कृत सुधार भी इसी रूप में हुआ है कि उन्होंने रहस्यवाद अतश्चेतना, कलावाद, सामंतवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद आदि सभी समाज विरोधी शक्तियों साहित्य एवं आलोचना में से निकालकर 'लोकमंगल की साधनावस्था' को स्थापित किया है।

साहित्य की आत्मा सौंदर्य या आकर्षण-शक्ति है। वस्तुतः साहित्य के प्रसंग का प्रयोग अभिधात्मक अर्थ में न होकर लाक्षणिक अर्थ में ही होता है। भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यकारों एवं आलोचकों ने समय-समय पर 'आकर्षण' एवं 'आकर्षण-शक्ति' का उल्लेख किया है। साहित्य की आकर्षण-शक्ति विश्व में व्याप्त शक्ति का ही एक रूप है। जिस प्रकार वैज्ञानिक विभिन्न भौतिक पदार्थों से उनमें निहित शक्ति को जगाकर अपने लक्ष्य की पूर्ति करता है, उसी प्रकार साहित्यकार भी विभिन्न मानसिक तत्वों की शक्ति को जगाकर उसे एक ऐसा रूप देता है जिसे हम साहित्य कहते हैं। साहित्यकार का द्रव्य मानसिक क्षेत्र का होता है तथा उसका माध्यम भाषा का होता है अतः उसकी कार्य-प्रणाली अत्यंत सूक्ष्म एवं अदृश्य होती है। साहित्यकार द्वारा प्रयुक्त द्रव्य को भी प्रमुख रूप से तीन तत्वों में विभिक्त किया जाता है– भाव, विचार, कल्पना।

रचना के तीन क्षणों से अभिप्राय है कि किसी भी रचना का सर्जन करने के समय रचनाकार को किन-किन स्थितियों से गुजरना पड़ता है। रचना के तीन क्षण का मुक्तिबोध का सिद्धांत आज हिंदी साहित्य में बहुत प्रचलित है। रचना के ये तीन क्षण वस्तुतः रचना-प्रक्रिया के तीन सोपान हैं। कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है उस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक फैंटेसी का रूप धारण कर लेना, मानो वह फैंटेसी अपनी आंखों के सामने खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है उस फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता है।

स्वच्छंदतावाद समीक्षा पद्धति एक विश्वव्यापी आंदोलन के रूप में उभरी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास में पं. श्रीधर पाठक को स्वच्छंदतावाद का प्रवर्तक माना है। स्वच्छंदतावाद पश्चिम के रोमैंटिसिज्म का हिंदी अनुवाद है। इसकी मुख्य प्रवृत्ति विद्रोह की है। स्वच्छंदतावादी समीक्षा पद्धति 'वाद' न होकर एक 'दृष्टि' है। यह दृष्टि प्राचीन रूढ़ियों से मुक्ति पाने के लिए अपना स्वतंत्र मार्ग अन्वेषित करती है। इस समीक्षा में

जीवन के प्रति एक ऐसा भावमय दृष्टिकोण है जो 'अनुभूति' को केंद्र में रखकर पनपता है। हिंदी में स्वच्छंदतावादी आलोचकों से अभिप्राय यही है कि वे प्राचीन सिद्धांतों की रूढ़ियों से विद्रोह करते हैं और देश और काल की नवीन चिंतन धाराओं से तालमेल बिठाते हुए स्वतंत्र चिंतन करने वाले आलोचक हैं। ऐसे समीक्षकों ने भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को नवीन चिंतन के परिप्रेक्ष्य में समझने-समझाने का प्रयास किया है ताकि हिंदी का अपना स्वतंत्र समीक्षा-शास्त्र विकसित हो सके।

मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति के प्रणेता कार्ल मार्क्स अद्वैतवादी और अनीश्वरवादी थे। उनके दर्शन 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' ने विश्व साहित्य पर व्यापक प्रभाव डाला। मार्क्स के मित्र ऐंजिल्स ने उनके सिद्धांतों की व्याख्या की। मार्क्स का साहित्य सामाजिक आर्थिक समस्याओं से ओत-प्रोत है। मार्क्सवाद सृष्टि और समाज की विकासोन्मुखी स्थिति पर चिंतन करने वाला दर्शन है। मार्क्स मानते हैं कि प्रकृति गत परिवर्तन एवं विकास द्वंद्वात्मक पद्धति से होते हैं। विकास क्रम-वाद, प्रतिवाद और संवाद के त्रैत से सदा ऊर्ध्वगामी होता है। वे साहित्य को वर्गवाद की उपज मानते हैं। वे व्यक्तिनिष्ठ काव्य को हेय, अकल्याणकारी तथा समाज विरोधी मानते हैं। इस वाद ने विश्व साहित्य पर गहन प्रभाव डाला। मार्क्सवादी साहित्य को वर्गवाद की उपज मानते हैं। लेनिन कहते हैं कि वर्गहीन समाज में ही वर्गहीन साहित्य की रचना संभव है। अतः साहित्यकार के निरपेक्ष स्वातंत्र्य का सिद्धांत मात्र भ्रम है, विडंबना है।

साहित्य के समाजशास्त्रीय के अध्ययन की अनेक पद्धतियां प्रचलित हैं पर इसका आधार वस्तुपरक एवं वैज्ञानिक अवश्य रहा है। इतना नही नहीं साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन नवीन अवधारणाओं की स्थापना करता है। साहित्य और समाज के पारस्परिक संबंधों के साथ अन्तःक्रियाओं की जटिलता एवं संघर्षों को रूपायित करता है। साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की प्रमुख प्रवृत्ति समग्रतावादी मानी जाती है। इस पद्धति के मूल में लेखक (कृतिकार) कृति और पाठक त्रिवर्ग अवश्य रहता है जबकि अन्य पद्धतियों में किसी एक पक्ष को केंद्र में रखा जाता है। यह विश्लेषण पद्धति प्रतिमानों को आत्मसात् किए हैं–त्रिवर्ग एक-दूसरे का पूरक है और अब प्रकाशक को भी घटक रूप में सम्मिलित किया गया है। पाश्चात्य विचारकों से प्रभावित भारतीय विद्वानों ने साहित्य का समाजशास्त्र विषयक काफी कार्य किया है। साहित्य की समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति समकालीन हिंदी समीक्षा को एक नयी आधारभूमि, प्रदान करती है। यह समीक्षा को वस्तुनिष्ठ बनाती है इसे सामाजिक सरोकारों के प्रति सचेत करती है।

सौंदर्यशास्त्र मुख्य रूप से पश्चिम की विधा है किंतु भारतीय आलोचना दृष्टि भी इससे अछूती नहीं रही। सौंदर्य की विभिन्न परिभाषाओं एवं वर्गों को देखते हुए सौंदर्य की तीन प्रमुख विश्वात्मक दृष्टियां उभर कर आती हैं- बहिर्मुखी, अंतर्मुखी और समन्वयवादी। चिंतकों का एक बड़ा वर्ग सौंदर्य के समन्वयवादी दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया करता है। डॉ. नगेंद्र के अनुसार "सौंदर्य न तो पूर्णतः प्रमाता की चेतना में होता है और न पदार्थ में। उसकी सत्ता वस्तुतः दोनों के समन्वय में है।" डॉ. रमेश कुंतल मेघ के अनुसार सौंदर्य एक गुण है, जिसका सामाजिक चरित्र होता है। सौंदर्य वस्तुगत तथ्य के रूप में समाज में अस्तित्वमान सौंदर्य मनुष्य के सामाजिक जीवन एवं ऐतिहासिक दशा की उपज है और मानवीय समाज के बिना सौंदर्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

हिंदी में प्रयुक्त 'शैली' शब्द अंग्रेजी के 'स्टाइल' के पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया है किंतु अंग्रेजी का स्टाइल शब्द अत्यंत व्यापक है हिंदी में शैली व्यक्तित्व, साहित्य और साहित्य में प्रयुक्त रचनागत विशिष्टताओं एवं सौंदर्य तक सीमित है। एक रचनाकार के लिए 'शैली' ही वह उपादान है जिसके द्वारा लेखक अपनी 'ज्ञानात्मक संवेदना' को पाठक तक पहुंचाता है। 'शैली वैज्ञानिक' समीक्षक रचना के रूप में सौंदर्य का अध्ययन भाषिक उपादानों के माध्यम से कर कृति के मूल कथ्य उद्घाटित करता है। शैली वैज्ञानिक आलोचना तत्वों का प्रमुख उद्देश्य साहित्य के भाषिक सौंदर्य को प्रस्तुत करना होता है। यह आलोचना काव्य-भाषा को विशिष्ट भाषा के रूप में स्वीकार करती है। उसमें ध्वनि, रूप रचना, शब्द प्रयोग, वाक्य रचना तथा अर्थाभिव्यक्ति के विभिन्न स्तरों पर अपनी व्यवस्था है। डॉ. नगेंद्र के अनुसार "शैली विचारित या अविचारित चयन प्रक्रियाओं की फलश्रुति होती है। एक ही भाषा की दो उक्तियां, जिनका वाच्यार्थ प्राय: समान होते हुए भी भाषिक संरचना भिन्न होती है, शैली की दृष्टि से भिन्न मानी जा सकती है।" शैली वैज्ञानिक आलोचना रचना को उसकी समग्रता में देखती है। कृति के आंतरिक के सौंदर्य का उद्घाटन इसका प्रमुख उद्देश्य है।

नयी समीक्षा गहरे स्तर पर 'आनटोलॉजिकल थ्योरी' के विकास का एक ऐसा नया ढंग है जो कृति की स्वायत्तता, विशिष्टता तथा अद्वितीयता के रूपवादी सिद्धांत को मानती है। हिंदी की नवीन सैद्धांतिक समीक्षा का स्वर नयी समीक्षा में पूरी तरह से उभरकर आया है। यह नयी समीक्षा प्रगतिवादी समीक्षा के अतिवाद से भिन्न प्रयोगवाद तथा नयी कविता के युग में नवीन रूपवाद का अनवरत समर्थन करती रही है। शिल्पगत चमत्कारों को लेकर उठी बहस ने नयी कविता ने एक आंदोलन का रूप धारण कर लिया है। हिंदी की नयी समीक्षा का संपूर्ण वैज्ञानिक चिंतन पश्चिम से ही प्रारंभ हुआ है। पूर्व के आलोचकों ने पश्चिम के मूल्यों से स्वतंत्रता के पश्चात एक युद्ध लड़ा एवं नयी परिस्थितियों ने कवियों, समीक्षकों में नवीन बोध ों तथा दृष्टियों को विकसित किया। इस प्रकार आपन हिंदी आलोचना के विभिन्न पड़ावों को जाना और अनेक समीक्षा पद्धतियों के स्वरूप को पहचाना।

4.13 मुख्य शब्दावली

- **समीक्षक** : आलोचक।
- **भावोन्मेष** : भाव का जागना।
- **नवोन्मेष** : नयी-नयी चीजों का उद्भव।
- **आडंबर** : बाहरी दिखावा।
- **मर्मस्पर्शी** : हृदय को छूने वाला।
- **अभिव्यंजित** : प्रकट।
- **अनीश्वरवादी** : नास्तिक।
- **त्रैत** : तीन का समूह।
- **दमन** : मन को दबाना।
- **उद्दीपन** : जगाना, उत्तेजित करना।

- **प्रतीच्य** : पश्चिम संबंधी।
- **विपथन** : मार्ग से इधर-उधर होना।

4.14 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1. आलोचक का
2. आदिकाल में
3. भक्तिकाल में
4. रीतिकालीन आचार्यों को
5. आधुनिक काल में
6. लेखों के माध्यम से
7. द्विवेदी युग में
8. आचार्य रामचंद्र शुक्ल को
9. शुक्लोत्तर युग में
10. आचार्य रामचंद्र शुक्ल
11. काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था
12. आकर्षण-शक्ति सिद्धांत
13. आठ
14. तीन
15. चार
16. रचयिता के मानस में
17. कल्पना
18. पहला क्षण
19. फैंटेसी
20. तीसरे क्षण में
21. विद्यानिवास मिश्र
22. कार्ल मार्क्स
23. स्वच्छंतावादी
24. पश्चिम पर
25. दु:ख के
26. कल्पना ने
27. सौंदर्यमयी

28. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

29. पं. शांतिप्रिय द्विवेदी

30. सामाजिक साहित्य

31. आनंदवादी मूल्यों को

32. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

33. विरोधी तत्वों की

34. हीगल के

35. पांच

36. वर्गवाद की

37. समाजशास्त्र के

38. संस्थाओं का

39. प्रत्यक्ष आधार पर

40. लौकिक वस्तु

41. संरचनात्मक स्वरूप

42. तीन-तीन

43. समग्रतावादी

44. पश्चिम की

45. क्रोचे ने

46. तीन

47. बाह्य पदार्थ में

48. आत्मनिष्ठतावादी

49. शील

50. डॉ. रामकुमार वर्मा

51. साहित्य के भाषिक तत्व को प्रस्तुत करना

52. प्रोक्ति

53. विचलन

54. नयी समीक्षा

55. जोएल स्पिनगार्न ने

56. नवीन सैद्धांतिक समीक्षा के

57. आंदोलन का

58. भौतिकवादी दृष्टि

4.15 अभ्यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. हिंदी आलोचना के प्रमुख सिद्धांत एवं प्रणालियों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।
2. काव्यशास्त्रीय चिंतन से आप क्या समझते हैं? समझाइए।
3. आकर्षण-शक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए विभिन्न विद्वानों की परिभाषाएं दीजिए।
4. आकर्षण-शक्ति के वैज्ञानिक आधार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
5. स्वच्छंदतावादी आलोचना के स्वरूप को परिभाषित कीजिए।
6. स्वच्छंदतावादी काव्य चिंतन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
7. मार्क्सवादियों की दृष्टि में साहित्य एवं कला के स्वरूप को परिभाषित कीजिए।
8. शैली वैज्ञानिक किसे कहते हैं? समझाइए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. हिंदी साहित्य में काव्यशास्त्रीय चिंतन एवं हिंदी आलोचना की विकास यात्रा का विस्तार से विवेचन कीजिए।
2. लोकमंगल के सिद्धांत के स्वरूप का विस्तार से विश्लेषण कीजिए।
3. साहित्य की आकर्षण-शक्ति से आप क्या समझते हैं? सोदाहरण विवेचन कीजिए।
4. 'हर रचना मृत्यु होती है...' के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न साहित्यकारों द्वारा उल्लिखित रचना के तीन क्षणों की व्याख्या कीजिए।
5. हिंदी के स्वच्छंदतावादी समीक्षकों की विशेषताओं का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
6. मार्क्सवादी आलोचना की प्रवृत्ति एवं विशेषताओं का विस्तार से विश्लेषण कीजिए।
7. समाजशास्त्रीय आलोचना के स्वरूप को परिभाषित करते हुए उसकी उपयोगिता सिद्ध कीजिए।
8. सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना पद्धति एवं मूल्यों को विस्तार से परिभाषित कीजिए।
9. शैली वैज्ञानिक आलोचना तत्वों का विस्तार से विश्लेषण कीजिए।
10. नयी समीक्षा की आलोचना प्रणाली की विशेषताओं का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।

4.16 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. गणपति चंद्र गुप्त, *हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास*, लोकभारती प्रकाशन, इलहाबाद।
2. मैनेजर पांडेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
3. कमला प्रसाद, *रचना और आलोचना की द्वंद्वात्मकता*, के.के. पब्लिकेशंस डॉट कॉम।

इकाई 5 हिंदी के प्रमुख आलोचक –II

5.1

5.6 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में जन्मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी के लब्धप्रतिष्ठित लेखक व समालोचक रहे हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उनकी प्रसिद्ध उपन्यास कृति है। 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', एवं 'कबीर' इनके समालोचनात्मक ग्रंथों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आचार्य द्विवेदी आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ निबंधकारों, इतिहासकारों में गिने जाते हैं। आधुनिक समीक्षकों में उनका नाम अग्रगण्य है। उनके उपन्यास कम किंतु अत्यंत रोचक और महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि वे मूलत: काव्यशास्त्री नहीं हैं किंतु काव्यशास्त्र और काव्यात्मवाद पर लिखे गए उनके कुछ निबंध हमें काव्यशास्त्र से संबंधित उनके मतों का परिचय देते हैं।

आचार्य द्विवेदी रसवादी प्रतीत होते है। उनके गद्य साहित्य की मार्मिकता भी यही दर्शाती है इसलिए उनके निबंध ललित निबंधों की श्रेणी में रखे जाते है। आचार्य द्विवेदी 'काव्य रस की परंपरा' नामक निबंध में नंदिकेश्वर से आरंभ कर रीतिकाल तक रस की परंपरा पर चर्चा करते है। संस्कृत आचार्यों के मतो और सूत्रों पर विवेचन प्रस्तुत करते हैं। इसमें उन्होंने काव्यशास्त्रीय और कामशास्त्रीय विनोदों के मिलते-जुलते स्वरूप को देखकर कहा-"काव्य को केवल काव्यशास्त्र ने ही नहीं प्रभावित किया है, कामसूत्र ने भी किया है, अतः इन वैनोदिक सामग्रियों का कामशास्त्र से मिलना न तो आश्चर्य का कारण है और न कामशास्त्रीय वैनोदिक प्रकरण और काव्यशास्त्रीय वैनोदिक प्रकरण की एकता की ही निशानी है।" आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि भरत के पूर्ववर्ती काल में 'रस' शब्द का अर्थ शृंगार ही समझा जाता था। जो परवर्ती काल में पूरी तरह अमान्य नहीं हुआ।

5.6.1 रस संबंधी दृष्टिकोण

आचार्य द्विवेदी रवीन्द्रनाथ की काव्य परिभाषाओं का उल्लेख करते हुए 'रस' को परिभाषित करते हैं-"हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, जानते हैं, उसके साथ जब अनिर्वचनीय का योग होता है तो हम उसे 'रस' कहते हैं, अर्थात वह वस्तु जिसे हम अनुभव करते हैं पर व्याख्या द्वारा समझा नहीं सकते हैं।" रसानुभूति के विषय में उनका मत उल्लेखनीय है, "आधुनिक पाठक रस की अनुभूति के लिए काल्पनिक नर-नारियों की सृष्टि नहीं करता, अपने संचित अनुभवों का ही प्रयोग करता है। भारतीय अलंकार शास्त्रों की चरितार्थता इसी में है कि उन्होंने काव्यार्थ को समझने के लिए वैज्ञानिक मान निश्चय करने का मार्ग दिखाया है। मेरा निश्चित मत है कि हमारे अलंकारशास्त्र रसबोध में सहायक हैं, बाधक नहीं। यदि कोई सचमुच भारतीय साहित्य का रस अनुभव करना चाहे तो उसे भारतवर्ष के चिरसंचित संस्कारों का अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिए। जब हम देश और काल के विश्वासों को ठीक-ठाक समझ लेंगे, तभी उनके आधार पर रचित साहित्य के अनाविल रस रूप का परिचय पा सकेंगे।"

साधारणीकरण विचार

सहृदय एवं साधारणीकरण के संबंध में आचार्य द्विवेदी कहते हैं-"काव्य के शब्दों में पाठक को रजोगुण और तमोगुण के पचड़े से हटाकर सत्वस्थ करने की शक्ति होती है। उसे आनंद के साथ उसके सहवर्ती स्थूल उपादानों की लपेट में नहीं आना पड़ता। उसका आनंद विशुद्ध मानसिक आनंद होता है। जिस सहृदय के हृदय में स्थायी भावों की अनुभूति जितनी ही अधिक होगी, वह उतने ही गाढ़े भाव से रस का अनुभव कर सकेगा। जो साहित्य शास्त्र का मर्मज्ञ है, उसी के चित्त में कवि की सरस वाणी प्रसार पाती है। कवि का रस-लोक अपने आप में परिपूर्ण नहीं होता। उसे मनुष्य का ग्राहक हृदय चाहिए। सहृदय चित्त ही उसका आनंद ले सकता है।" आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि "रस विश्वजनीन होता है। उसमें कोई वैयक्तिक राग-द्वेष नहीं होता। रस-बोध के समय सहृदय विभावों के साथ अपना अभेद अनुभव करता है। अभेद की अनुभूति में कोई बाधा पड़े तो रसानुभव असंभव हो जाता है।"

द्विवेदी जी की रचना 'पुनर्नवा' में आचार्य देवराज कहते हैं-शब्द का अर्थ केवल वक्ता की इच्छा का विषय नहीं है (वक्तुरिच्छा हि तात्पर्यम्) श्रोता और संदर्भ भी उसमें कुछ न

कुछ जोड़ते घटाते रहते हैं। मैं जब कभी अपनी व्याकुलता शब्दों की भाषा में अभिव्यक्त करना चाहता हूं तो सुनने वाले उसका ठीक अर्थ नहीं समझते। कुछ न कुछ यह बदलकर ही उन तक पहुंचती है। मेरे हृदय के साथ जिसका हृदय एकतान हो गया वही मेरी बात पूरी तरह समझ पाएगा। ऐसे समान हृदय वाले कम ही होते हैं, बहुत कम। मैं ऐसे ही लोगों को 'सहृदय' कहता हूं। हृदय के अतल गांभीर्य की वेदना ऐसे सहृदय ही समझ सकते हैं। इस प्रसंग में द्विवेदी जी ने इस सहृदय शब्द की व्याख्या तो की ही साथ ही इस भ्रम का निवारण भी किया है कि व्यवहार में वक्ता का अभिप्रेत अर्थ ही शब्दार्थ होता है।

5.6.2 रस व अलंकार चिंतन

रसानुभूति का आनंद उस आनंद के समान है जो योगियों को अनुभव होता है। यद्यपि अपने ही चित्त का पुनः पुनः अनुभूत स्थायी-भाव अपने आकार के समान ही अभिन्न है, तथापि काव्य-नैपुण्य से वह गोचर किया जा सकता है, आस्वादन ही इसका प्राण है, विभावादि के रहने पर ही यह रहता है। रस व्यंग्य है वाच्य नहीं। रस निर्वैयक्तिक और अलौकिक होता है। रस आस्वादयिता के बाहर नहीं होता।" रस ब्रह्मानंद सहोदर है। यही काव्य की आत्मा है।

द्विवेदी जी कहते हैं–"समूचा भारतीय काव्य-साहित्य 'रस' को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न है। यद्यपि ध्वनि-संप्रदाय अन्यान्य अलंकार संप्रदायों की अपेक्षा नवीन था तथापि 'रस' के प्राचीन सिद्धांत को आत्मसात करने की शक्ति उसी में थी। रस प्रकृत्या ही व्यंजनीय है उसे ध्वनि के अंतर्गत ही आना चाहिए था। यह तो हमें नहीं मालूम कि ध्वनिकार का दावा कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है', यह सिद्धांत पूर्वाचार्यों का है, कहां तक ठीक है, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि भरतमुनि के ग्रंथ में रस-ध्वनि का बीज हमें मिल सकता है।" रस की महत्ता के साथ औचित्य को भी महत्व प्रदान करते हुए आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि साहित्य ही मानव जाति की अंतर्निहित एकता को स्थापित करने में सहयोगी सिद्ध होता है, मानवीय संस्कृति की नींव को मजबूत करता है। इसके लिए शब्द और अर्थ के औचित्य को समझना होगा। काव्य स्थूल जगत से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकता। शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं। अर्थ शब्दों द्वारा सूचित बाह्य सत्ता को प्रकट करते हैं। एक व्यक्ति के चित्त में स्थित अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। यहां अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराने की प्रक्रिया में औचित्य आवश्यक है। वरना अर्थ, अनर्थ में या निरर्थक भी सिद्ध हो सकता है।

अलंकारों पर आचार्य द्विवेदी की संक्षिप्त और सतर्क टिप्पणी है कि "अर्थ-भारहीन शब्दालंकार न तो काव्य में प्रगाढ़ अनुभूति ही पैदा करते हैं, और न संगीत का प्रवाह ही। वे दोनों के केवल घटिया प्रभाव भर उत्पन्न करते हैं। परंतु जहां शब्दालंकार में अर्थ-भार बना रहता है, वहां वे काव्यगत प्रभाव में संगीत की सहज गति भर देते हैं। परंतु अर्थालंकार शब्द के प्राणप्रद और विशेषाधान-हेतुक, दोनों ही धर्मों में गाढ़ अनुभूति कर रस ले आते हैं। अर्थालंकार जब आवेग-सहचर होकर आते हैं, तो वाक्य में अधिक ऊर्जस्वल तेज भर देते हैं पर जब आवेगहीन होकर आते हैं, तो चमत्कारी उक्ति भर रह जाते हैं।" आचार्य द्विवेदी काव्यात्मवाद संबंधी चर्चा में 'रस' को महत्व देते हैं तथा भक्ति रस और उसके स्वरूप मधुर रस को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। आत्मा द्वारा अनुभूत यह अलौकिक रस ही उन्हें भाता है। उनके

निबंधों में यह मरमता देखी जा सकती है, अनुभव की जा सकती है। आचार्य द्विवेदी की काव्यात्मवाद संबंधी मान्यताएं, विशेष रूप से रस संबंधी चिंतन महत्वपूर्ण है।

आचार्य प. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विशेष अवसरों पर जो अपने साहित्यिक और समीक्षात्मक निबंध लिखे थे, उनके संकलन उनकी विविध समीक्षा कृतियों के रूप में प्रकाशित हुए हैं। हमारी 'साहित्यिक समस्याएं' नामक पुस्तक उनकी एक ऐसी ही रचना है जिसमें द्विवेदी जी ने सैद्धांतिक निरूपण के साथ साथ अपनी निजी मान्यताओं का भी विश्लेषण किया है।

द्विवेदी जी ने सर्वप्रथम भारतवर्ष की भाषा-समस्या को अपनी समालोचना का विषय बनाया है। उनका कहना है कि आज जिस रूप में इस समस्या को स्वरूप प्रदान किया जा रहा है, वह अत्यंत हेय और घृणित है। उनका मूल मंतव्य यही है कि संस्कृत भाषा और साहित्य को अंतस्थ किये बिना हिंदी भाषा भी हमारी वर्तमान समस्या को नहीं सुलझा सकती, क्योंकि संस्कृत भाषा-साहित्य की ज्ञान-राशि हमारी संस्कृति के अंग प्रत्यंग में रमी हुई है। वे हिंदी भाषा की शक्ति पर भी मुग्ध हैं और उन्हें भारतीय साहित्य में एक ऐसी चेतना और जीवंतता मिलती है जिसके कारण वह भारत को ही नहीं अपितु विश्व-जीवन को भी भव्यतम मार्गदर्शन करा सकता है।

5.6.3 भाषा समस्या का स्वरूप

द्विवेदी जी का साहित्य का मूल्यांकन संबंधी दृष्टिकोण अत्यंत उदार और प्रगतिशील है। यद्यपि उनका प्राचीन शास्त्रीयता का अध्ययन अत्यंत गंभीर और व्यापक है, किंतु आज के प्रगतिशील युग में वे उसकी सीमाओं से भी अपरिचित नहीं है। उनकी मान्यता है कि बिना नूतन साहित्यिक दृष्टिकोण को स्वीकार किये हम अपने आधुनिक साहित्य की समालोचना कर ही नहीं सकते और जो समालोचक अपनी रूढ़िग्रस्तता और संकीर्णता में ही उलझे हुए हैं उनमें साहित्य के सच्चे मूल्यांकन के स्थान पर समस्याओं को ही प्रश्रय देने की प्रवृत्ति है। द्विवेदी जी के अनुसार साहित्य-निर्माण का लक्ष्य भी अत्यंत पावन और आदर्शपूर्ण होना चाहिए जिससे मनुष्य दैवी गुणों की उपलब्धि की ओर उन्मुख हो। उनकी विचारधारा में वह साहित्य हीन श्रेणी का है जो केवल वाग्विलास के संकीर्ण क्षेत्र को लेकर चलता है। वे साहित्यकार की शक्ति को अद्भुत मानते हैं जिसके द्वारा महान् सांस्कृतिक क्रांतियां की जा सकती हैं और हमारा सामाजिक स्तर बहुत ऊंचा उठाया जा सकता है।

5.6.4 प्रगतिवादी साहित्यालोचन

द्विवेदी जी प्रगतिशील साहित्य के विरोधी नहीं, किंतु उसके समर्थकों की उस नीति के अवश्य विरोधी हैं जिसके द्वारा वे साहित्य की सार्वजनीनता को वर्ग, क्लास या श्रेणी का नाम लेकर धूमिल बना देते हैं। साथ ही साथ उनका यह भी कहना है कि प्रगतिवाद की धुन में अपने सहस्रों वर्षों की ज्ञान-राशियों को केवल पूंजीवादी व्यवस्था की उपज कह कर ठुकरा देना शोभनीय नहीं है। वे प्रगतिवाद की केवल उन रचनाओं के विरोधी हैं जिनमें ग्राम्य, अश्लील, जुगुप्सित या रसाभासमूलक प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। उन्होंने भविष्य के लिए समाजवादी व्यवस्था की अनिवार्यता का संकेत करके प्रगतिवादियों को व्यापक दृष्टि से सोचने की सम्मति दी है, क्योंकि कोरे मार्क्सवाद से ही किसी स्थिर और शाश्वत तत्व-ज्ञान का बोध नहीं हो सकता

ये वस्तुतः अपने देश की चिंतन-परंपरा की व्यापकता और गंभीरता में ही किसी नूतन मतवाद को ग्रहण करना समीचीन समझते हैं, क्योंकि ऐसा करने पर ही साहित्य निर्माण का श्रेयस्कर नूतन मार्ग प्राप्त किया जा सकता है।

द्विवेदी जी कहते हैं–"प्रगतिशील लेखकों में दो श्रेणी के लेखक हैं। एक तो वे, जो कम्युनिस्ट पार्टी से संबंधित हैं और पार्टी की निर्धारित नीति और अंगुलि-निर्देश पर साहित्य लिखते हैं। दूसरे वे, जो पार्टी से संबंधित नहीं हैं पर इन (मार्क्सवादी) विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते हैं–कम्युनिस्ट पार्टी से जिन साहित्यकारों का संबंध है उनको पार्टी के निर्देश पर चलना पड़ता है। पार्टी का इस प्रकार स्वतंत्र चिंतन के मार्ग में आना हितकर नहीं हो सकता। भविष्य में या तो पार्टी को अपना अंकुश उठा लेना पड़ेगा या प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों से वंचित रहना पड़ेगा" (हिंदी साहित्य)। आज द्विवेदी जी की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो रही है।

कबीर विवेचन

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिंदी साहित्य के एक प्रमुख विचारक हैं और उन्होंने साहित्य जगत को मानववादी दृष्टिकोण प्रदान किया है। हजारीप्रसाद जी की प्रतिभा में शोधपरकता और प्राचीन संस्कृति की मनन-शक्ति का प्राबल्य है, अतः वे विशुद्ध साहित्य शैली में बहुत कम समालोचना लिखने का अवकाश पाते हैं। उनका 'कबीर' नामक ग्रंथ भी इस कथन का प्रमाण है। इसमें उन्होंने अपनी शोध-प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि कुछ समालोचकों ने कबीर को केवल जुलाहा जाति का कह कर उसके जाति निर्णय पक्ष से ही छुट्टी पा ली, किंतु शोधप्रिय द्विवेदी जी को इतने से ही संतुष्टि नहीं हुई। उन्होंने प्रस्तावना के अंतर्गत जुलाहा जाति संबंधी पौराणिक मतों का उल्लेख कर उनकी कड़ी आधुनिक खोजों के साथ जोड़ दी है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वन्यजीवी जातियों की जो शाखा सरवाक अथवा जुगी जाति से संबंधित है, वह किसी प्रकार न हिंदू, न मुसलमान भाव से सम्मिलित होकर आधुनिक युग तक चली आ रही है, जिसमें जन्म लेने के कारण कबीर के मानसिक धरातल का भी वैसा ही निर्माण हुआ था। इस प्रकार द्विवेदी जी का यह विवेचन कबीर की मानसिक भूमिका को हृदयंगम कराने के लिए निश्चय ही एक प्रकार से कुंजी का काम देता है, जिसके आधार पर कबीर-विषयक हमारी अनेक उलझनों का समाधान सहज-भाव से हो जाता है।

द्विवेदी जी ने कबीरदास पर योगमत का प्रभाव निर्दिष्ट करते हुए 'अवधूत' शब्द का तात्विक और व्यावहारिक विश्लेषण भी किया है। वे 'साधारण योगी' और 'अवधूत' में अंतर मानते हैं। उनके मत से कबीर का 'अवधूत' निश्चय ही विशिष्ट श्रेणी का है। उन्होंने नाथपंथियों के सिद्धांत और उनका कबीर के मत पर पड़नेवाला प्रभाव जिस अनुशीलन और तत्व ग्राहिणी बुद्धि से व्यक्त किया है, वह हिंदी-साहित्य में अपूर्व है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसी प्रकार हठयोगी की साधना, निरंजन कौन है, योगपरक रूपक तथा उलटबाँसियां, ब्रह्म और माया, निर्गुण राम, बाह्याचार आदि पर भी अनेक विचार मनन करने योग्य है। भारतीय धर्म-साधना में कबीर का स्थान निर्धारित करते हुए उन्होंने उनके व्यक्तित्व का जो विश्लेषण किया है, वह हमारी अनेक प्रकार की कबीर-विषयक शंकाओं का समाधान करने के लिए पर्याप्त है।

5.6.5 आचार्य शुक्ल से साम्य व वैषम्य

आचार्य हजारी प्रसाद जी में शोधप्रियता के साथ साथ कार्यित्री प्रतिभा भी है किन्तु 'शांति निकेतन' के अभिवास और मार्क्सिक संस्थान के गांभीर्य ने उन्हें जो सूत्र-वृत्त और ग्राहिका शक्ति प्रदान की है, वैसी आधुनिक हिंदी साहित्य समालोचना में किसी अन्य के पास है भी या नहीं, यह एक विचारणीय विषय है। वस्तुतः द्विवेदी जी की आधुनिक समालोचनाएं केवल पिष्ट-पेषण न होकर एक मौलिक-जीवन दृष्टि से अवश्य अनुप्राणित है, जिनमें उनके गंभीर चिंतन और गवेषणापूर्ण अध्ययन के सूत्र सर्वत्र विकीर्ण मिलते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने संपूर्ण लेखन में 'चिन्मुख मानवतावादी' हैं। उनकी दृष्टि में मूलसत्ता शक्ति समवेत चेतन है। आचार्य शुक्ल की भांति आचार्य द्विवेदी किसी भावी निर्णय की प्रतीक्षा में रुके हुए नहीं हैं। शुक्ल जी 'विश्व प्रपंच' की भूमिका में कहते हैं कि 'शक्ति' का रूपांतर जगत है– पदार्थ– पर वह 'शक्ति' तत्वतः जड़ है या चेतन यह भविष्य के निर्णय पर निर्भर करता है। शुक्ल जी 'इतिहास' में आत्म-निर्णय का हस्तक्षेप भी करते जाते हैं जो वस्तुनिष्ठता में बाधक है।

आचार्य द्विवेदी की विश्व-दृष्टि निर्भ्रांत रूप से 'शक्ति समवेत चैतन्यवादी' है। उसमें निहित संपूर्ण संभावनाएं अनुरूप कार्यकारण भाव प्राप्त करने पर विकास प्राप्त करती है। उनकी दृष्टि में 'इतिहास' आपाततः 'शव' की ही साधना है–पर शव-साधना बड़ी सावधानी से हो, आंतरिक चिंताधारा और बाह्य परिस्थितियां–दोनों के सहयोगी प्रभाव में हों–अन्यथा वह साधक को ही सिद्ध कर देगा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का पक्ष है कि हिंदी का सच्चा साहित्य 'भक्तिकाल' से आरंभ होता है। आदिकाल में जो प्राणधारा है वह अध्यात्म की ही है। इसलिए उनका पक्ष है कि भारत में यदि मुसलमान न भी आए होते तो हिंदी साहित्य का इतिहास बारह आने वही होता जो है–चार आना प्रभाव परिस्थितियों का भी है। वस्तुतः इसी भिन्न दृष्टि वाले प्रस्थान में इतिहास लेखन एक व्यक्ति द्वारा संभव नहीं है–वह सहकारी लेखन से ही संभव है।

5.6.6 सौंदर्य व संस्कृति बोध

द्विवेदी जी सौंदर्य को सामंजस्य के रूप में रेखांकित करना चाहते हैं। वे अपनी बात को समझाने के लिए मानते हैं कि शक्तित्रिक् (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) के सहज योग से विशुद्ध चैतन्य की गोचर जगत के रूप में अभिव्यक्ति हो रही है, संसार का समस्त आकर्षण, उल्लास, लालित्य और सौंदर्य इसी चित् की स्वातंत्र्यात्मा इच्छाशक्ति के अनुकूल स्पंदन का नाम है। जहां विपरीत है, वहां इस मूल इच्छात्मक छंदोधारा का प्रातिकूल्य है। द्विवेदी जी मानते हैं कि पश्चिम के पंडितों ने व्यक्तिचित्त की इच्छा को सौंदर्य कहा है, जो सौंदर्य को व्यक्ति सापेक्ष तत्व की खिड़कियों में खड़ा कर अव्यवस्था और तर्क-वितर्क का कारण बनता है। अतः देश-काल-सापेक्ष और परंपरा-स्वीकृत जनवर्ग विशेष के समष्टिचित्त की इच्छा को, सौंदर्य मानने के लिए विवश होना पड़ता है। द्विवेदी जी की दृष्टि में, 'कालिदास ने भी व्यक्तिचित्त की इच्छा को ही सौंदर्य माना, परंतु उनकी व्यक्ति-इच्छा समष्टिव्यापिनी इच्छा का ही प्रतिरूप है, विशिष्ट रूप है।' समष्टि इच्छा विश्वव्यापिनी मंगलेच्छा के अनुकूल होने पर ही व्यक्तिगत इच्छा सार्थक होती है। व्यक्तिगत इच्छा उसके प्रतिकूल जाकर कुत्सित हो जाती है। समष्टि-इच्छा चेतन धर्म है–जो बात चेतन धर्म के अनुकूल है, वही सुंदर है। समष्टि-चेतना

सर्जनात्मक है, सिसृक्षा है, व्यक्तिगत इच्छा उसके अनुकूल रहकर ही चरितार्थ होती है। जिस इच्छा में अज्ञान है, मोह है, दूसरों को दुखी, उदास करने की वृत्ति है, वह पाप इच्छा है। जड़त्व से अभिभूत होती है। सौंदर्य उसमें नहीं रहता। कालिदास की लालित्य योजना के संदर्भ में 'सौंदर्य' की अपनी अवधारणा द्विवेदी जी ने स्पष्ट की है। व्यक्ति जितने अंश में विरोधी हैं, वह जड़ता का प्रकाश है और जितने में सामंजस्य है—वह चेतना की अभिव्यक्ति है। फलतः सामंजस्य का यही सामंजस्य सौंदर्य है—असामंजस्य असौंदर्य। समष्टि या समाज का मेरुदंड यही सामंजस्य है, इसके अभाव में वह टूटने लगता है, जड़ता हावी हो जाती है, चेतन की अभिव्यक्ति पर। व्यष्टि-व्यष्टि—खंड-खंड के भीतर व्याप्त अखंड मनुष्यता ही आस्वाद गोचर होकर रस रूप में प्रतीत होती है। द्विवेदी जी इस दृष्टि से साहित्य की सर्जना और मंथना में प्रवृत्त होते हैं। ये चेतना की जययात्रा के रूप में सब कुछ देखते हैं और मनुष्यता को ही सर्वोच्च सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में मानते हैं।

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी कहते हैं कि—द्विवेदी जी स्वयं कहते हैं कि अतीत के शव को यदि ठीक ढंग से साधा जाए तो यह हमारी प्रगति में साधक बन जाता है और साधना में कहीं कचाई रह जाए तो विक्षुब्ध शव हमें ही हड़प जाए। महाशक्ति शव के वक्षस पर कलात्मक नर्तन-सर्जन की सारी संभावनाएं बिखेरती रहती है। बात यह है कि द्विवेदी जी प्राचीन भारतीय साहित्य के अगाध पंडित हैं, अतीत का साक्षात्कार उसी के माध्यम से करते हैं। सवाल यह है कि इस साक्षात्कृत 'अतीत' के 'शव' का वह करें क्या? उन्हें विश्वास है कि उस 'अतीत' के 'शव' की साधना ढंग से की जाए, तो वह वर्तमान और भविष्य को अभीष्ट दिशा में परिवर्तित कर सकती है। वर्तमान की विकृति को अनुध्यात सुरूपता में बदलने की तड़पन प्रत्येक सर्जक को होती है और इस परिवर्तन के लिए साधना करनी पड़ती है। द्विवेदी जी अतीत की साधना करते हैं। इतिहास देवता की आराधना करते हैं। वे इस आराधना में महाकवि रवीन्द्र की आधुनिक दृष्टि का उपयोग करते हैं—वैसे 'दृष्टि' स्रष्टा की अपनी होती है। द्विवेदी जी भी उनकी ज्ञान-दृष्टि से अपनी ज्ञान-दृष्टि, सर्जक-दृष्टि को बल देते हैं। रवीन्द्र की सर्जक चेतना मध्यकालीन वैष्णव चेतना का ही आधुनिकीकरण है—द्विवेदी जी में भी कबीर और तुलसी के माध्यम से वह जागरूक हैं—इसीलिए सेवाभाव में मानवता की चरितार्थता मानने वाले प्रेमचंद उन्हें सबसे अधिक नजदीक लगते हैं। द्विवेदी जी की हिंदी साहित्य के 'ये ढाई अक्षर' (कबीर और तुलसी पूरे दो और प्रेमचंद आधा) हृदयग्राही लगते हैं—मानवता के पक्षधर हैं ये। इस मध्यकालीन मानवी वैष्णवी चेतना का आधुनिकीकरण ही शव साधना है।

'अनामदास का पोथा' में द्विवेदी जी कहते हैं—"तुम्हारा स्वभाव प्रेम है। उसके माध्यम से तुम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हो—यहां साध्य ही जब साधक का आत्मदान पाकर स्वयं साधन बन जाता है—तभी 'सत्य' पकड़ में आता है।" इस प्रकार द्विवेदी जी अपने चिंतन को आधुनिक बनाते हैं और चिन्मुखी मानवतावाद की पताका फहराते हैं। साहित्य को भी वे इसी मनुष्यता की उपलब्धि में सहायक मानते हैं। वे कहते हैं—मनुष्य को देवता बनाना ही काव्य का सबसे बड़ा उद्देश्य है। मनुष्य को उसकी स्वार्थबुद्धि से ऊपर उठाना, उसको इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्वगुण में प्रतिष्ठित करना, परदुखकातर और संवेदनशील बनाना काव्य का काम है। साहित्य के माध्यम से उनका सर्जक इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है, चिंतन के इसी महारस के पान से उनका साधक अवधूत सर्जक, झुलसती लू में भी शिरीष

की तरह फूलता रहा, देवदार की तरह उन्नत आकाश का स्पर्श करता रहा। वह कहता रहा–सर्वत्र आत्मानुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है दूसरों के सुख के लिए अपने आपको गलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर दे देना। इससे बड़ा तप मुझे मालूम नहीं–द्विवेदी जी साहित्य के सर्जन के माध्यम से यही तप करते हैं।

द्विवेदी जी शोधी और पंडित रहे हैं। भारतीय प्राचीन साहित्य और दर्शन के अध्येता रहे हैं। आगमों के विभिन्न रूपों का परिशीलन किया है और जिसे 'फ्री थिंकिंग'–मुक्त चिंतन कहा जाता है–उनके निबंधकार रूप में वह है ही। इतिहास की सामग्री तो लेते हैं पर उसकी प्रामाणिकता सब समय असंदिग्ध नहीं रह पाती। उससे उदासीन होकर भी बंधे रहने का रहस्य यह है कि परंपरा में–अतीत में–इतिहास की शव-साधना में उनकी गंभीर आस्था है। इस मायने में वे राष्ट्रीय होकर भी अंतर्राष्ट्रीय है। कारण, उनका ध्यान उन मूल्यों पर ज्यादा केंद्रित है जो विश्व समाज के लिए उपादेय है। समाज और राष्ट्र की समस्याओं से इनकी सर्जक चेतना सर्वत्र आक्रांत लक्षित होती है पर वे उससे आगे भी बढ़ते हैं।

द्विवेदी जी के उपन्यास ऐतिहासिक कम सांस्कृतिक ज्यादा है। भारतीय संस्कृति की देन में उन्होंने कहा है कि संस्कृति का संबंध किसी व्यक्ति विशेष, देशविदेश या कालविशेष से नहीं है–इसके विपरीत वह सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वजनीन है। उनका अभिप्राय यह है कि वह ऐसा तत्व है जिससे मानव उस भूमि का अनुभव करता है जो अविभाज्य, एक और अखंड है। जो विभक्त होने का, बंटा हुआ होने का अनुभव कराए, वह विकृति और जिससे एक और अखंड होने का अनुभव हो वह संस्कृति। इसीलिए गीतकार कहता है–

"अविभक्तं विभक्तेषु यः पश्यति स पश्यति"

उसी का देखना सही देखना है जो विभक्त में अविभक्त को देखता है। ऐसा वही देखता है जिसकी चेतना निर्मल हो। कारण, जिसकी चेतना की आंख में मल का पीलिया होगा–वह सत्य को नहीं देख पाएगा। उनका कहना है कि 'संस्कृति' तत्वतः न भारतीय होती है और न अन्यदेशीय। इसी प्रकार न तो 'प्राचीन' होती है और न ही 'आधुनिक' या 'मध्यकालीन'–'इनकी-उनकी' होने का तो सवाल ही नहीं उठता। उसका कारण यह है कि 'संस्कृति' में यदि कोई विशेषण जुड़ गया तो उसका स्वरूप परिच्छिन्न अर्थात 'विभक्त' हो जाएगा। विशेष्य (संस्कृति) की अपरिच्छिन्नता समाप्त हो जाएगी–वह सखंड हो जाएगी। अपनी अखंडता में यदि हम उसे मानव मात्र में विद्यमान 'मानवता' ही मान लें तो मान सकते हैं। पर सवाल शेष यह रह जाता है–व्यवहार प्रचलित विशिष्ट प्रयोग का या सविशेषण प्रयोग का। प्रयोग तो 'भारतीय संस्कृति' का अर्थ होता है–फिर इसका अर्थ क्या किया जाए? द्विवेदी जी का पक्ष यह है कि 'भारतीय संस्कृति' का अर्थ है : भारतीय पद्धति से प्राप्त की गई संस्कृति। मतलब यह विशिष्ट प्रयोग मध्यमपदलोपी समास है। इसमें 'पद्धति' शब्द गुप्त है। 'मानवता' को पाने का मतलब है उसका चरितार्थ होना। वह भूमा है–उससे बड़ी कोई चीज नहीं है। पर हर देश, हर काल में हर व्यक्ति या जाति उसे पाने की पद्धति अपनी प्रकृति के अनुरूप तय करते हैं। इस संदर्भ में भारतीयों की भी एक पद्धति है–वह मानवता को चरितार्थ करने के लिए उन्मुखी इच्छा स्वातंत्र्य का वरण करते हैं–अनुरूप मार्ग पकड़ते हैं–तप और साधना करती है–तीनों ऋणों–पितृ ऋण, ऋषि ऋण और देवऋण अदा कर 'अल्प' से 'भूमा' की ओर जाते हैं। मतलब समाज से जुड़कर 'संस्कृति' का साक्षात्कार करते हैं। समाज से आत्मा का सातत्य कैसे बना

रहे. इसके लिए वे लोग ब्रह्मचर्य की दृढ़ शिला पर प्रतिष्ठित रहकर गृहस्थ बनते है और 'आत्मा वै जायते पुत्रः' से पुत्र रूप में जुड़कर पितृ ऋण से मुक्ति पाते है। पुनः जिस अर्जित ज्ञान से उन्होंने स्वयं व्यवहार यात्रा की है, पुत्र को ज्ञानदान देकर उसे ऋषि ऋण से भी मुक्ति दिलाती है। इतना ही नहीं, उनकी शरीर यात्रा प्रकृति से कुछ पाकर हुई है–अतः दान कर दानशीलता पैदाकर उस देवऋण से भी मुक्त होना है। संतति पैदाकर, ज्ञान संपन्न कर और फिर दानवृत्ति से मंडितकर सेवावृत्ति से विभूषित कर, उसे समाज की धारा में विसर्जित करना है। इस पद्धति से चलकर वह 'अल्प' से 'भूमा' की ओर बढ़ता है, खंड से अखंड होता है। उन्होंने अन्यत्र भी कहा है–संस्कृति उच्चतम चिंतन का मूर्त रूप है। चिंतन मूर्त होता है आचार में और उच्चतम होता है भूमा की ओर ले जाने वाली पद्धति से जुड़कर। 'अनामदास का पोथा' में भी उन्होंने कहा है–"जिजीविषा है तो जीवन रहेगा, जीवन रहेगा तो अनंत संभावनाएं भी रहेंगी। सब चलता रहेगा। यही प्रकृति है। इसे सुनियंत्रित रूप से चलाने का प्रयास शुभ है। वही संस्कृति है। प्रकृति को सुनियंत्रित रूप से चलाने का ही नाम संस्कृति है।"

सर्वत्र सौंदर्य देखना सौंदर्य साधना की चरम परिणति है। 'भारतीय संस्कृति और साधना' में कविराज गोपीनाथ का कथन है–"एक सौंदर्य ही जब नाना सौंदर्य है एवं वह मौलिक नाना सौंदर्य ही जब जगत में भिन्न-भिन्न सौंदर्यों के रूप में प्रकाशमान है तब जगत सौंदर्य सार है–यह जाना जा सकता है। सभी वस्तुएं सुंदर हैं, सभी रसमय हैं किंतु चित्त में मल और चांचल्य रहने से देखने के समय वह अनुभूत नहीं होता है। रस तब सुख और दुख के रूप में तथा सौंदर्य और कुत्सित के रूप में विभक्त ही दिखाई पड़ता है।" हम नियम के संसार में उतर आते हैं। प्रतिभा या प्रातिभ चेतना के जगत में रहते हुए भी व्यक्ति 'नियतिकृत नियमरहित' लोक का प्राणी हो जाता है।

काव्य की अनेकानेक समस्याओं पर भी द्विवेदी जी ने प्रकाश डाला है। उन्होंने भट्टिनी से कहलवाया है–"तुम्हीं (कवि) ऐसे हो जो नररत्न से लेकर किन्नर लोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय, एक ही करुणा चित्त को हृदयंगम करा सकते हो। मनुष्य लोभवश, मोहवश, द्वेषवश पशुता की ओर बढ़ता जा रहा है। तुम (कवि) इसके हृदय को संवेदनशील और कोमल बना सकते हो।" बाणभट्ट के माध्यम से द्विवेदी जी काव्य के प्रयोजन पर भी विचार कर रहे हैं–अतीत के माध्यम से आज के संदर्भ में। आज के मानव की दवा काव्य के ही पास है। बाणभट्ट के शब्दों में कवि वही है, जिसकी प्रतिभा का आकुंठ विलास नरलोक से किन्नर-लोक तक फैले हुए एक ही रागात्मक हृदय का परिचय पा सके–तभी तो वह मनुष्य की निम्नतर वृत्तियों को सात्विक बना सकेगा।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा दृष्टि मानवतावाद से ओत-प्रोत हैं तथा परवर्ती आलोचकों को श्रेष्ठ समीक्षा के उत्तम गुणों से अवगत कराती है।

5.7 डॉ. रामविलास शर्मा

डॉ. रामविलास शर्मा हिंदी की प्रगतिवादी समीक्षा में एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व हैं। एक रचनाकार के रूप में हिंदी संसार से उनका संबंध प्रथमतः एक कवि के रूप में स्थापित हुआ था। 1934 में उन्होंने एक उपन्यास भी लिखा था 'चार दिन'। उपन्यासकार के रूप में तो वे प्रसिद्ध न हुए, लेकिन उनके कवि-व्यक्तित्व ने हिंदी जगत में यथेष्ट सम्मान प्राप्त किया।

1943 में अज्ञेय जी द्वारा संपादित 'तार सप्तक' नामक काव्य संकलन के एक कवि के रूप में भी उन्हें प्रसिद्धि मिली और 'रूप तरंग' के नाम से अपनी कविताओं का एक संकलन भी उन्होंने साहित्य जगत को भेंट किया। लेकिन प्रगतिशील आंदोलन के विकास तथा उसमें उनके सक्रिय सहयोग के साथ साथ उनका कवि व्यक्तित्व पीछे छूटता गया और अंतत: एक समीक्षक के रूप में ही वे विशेष समादृत हुए। अपने व्यक्तित्व के इस उभय पक्षी स्वरूप का विश्लेषण करते हुए संस्कृति एवं साहित्य की भूमिका में वे कहते हैं-"मैंने अपना साहित्यिक जीवन कविता लिखने से आरंभ किया था। कहा जाता है कि असफल कवि सफल समालोचक बन जाता है। यह संशयात्मक है कि कवि रूप में बिल्कुल असफल रहा हूं। इसलिए आलोचना की सफलता भी मेरे निकट संशयात्मक ही है।" लेकिन इस 'संशयात्मकता' का भी कोई आधार नहीं है। आज हिंदी संसार उन्हें प्रगतिवादी समीक्षा-धारा के प्रतिनिधि समीक्षक के रूप में स्वीकार कर चुका है, भले ही यह स्वीकृति एक वाद-विशेष की सीमा में उन्हें आबद्ध करके ही क्यों न दी गई हो?

हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में उनका प्रवेश, स्वच्छंदतावादी समीक्षक के रूप में हुआ। 1934-35 के बीच 'शैली और रवींद्रनाथ' तथा 'निराला की कविता' शीर्षक निबंधों में उनकी मार्क्सवादी तथा जनवादी दृष्टि कहीं भी स्पष्ट नहीं है। उनमें काव्य तथा कला के 'नवीन सौंदर्य' तथा 'नये स्वर परिधान' का ही प्रमुख रूप से विवेचन किया गया है। उस समय निराला के काव्य सौंदर्य का विवेचन करते हुए उन्होंने यह भी कहा था-"कविता हृदय की भाषा है, उसको समझने के लिए अधिक आवश्यकता भावुकता की है, न कि फिलॉसफी की।" लेकिन 1936 के बाद, प्रगतिशील आंदोलन के विकास के साथ डॉ. शर्मा की समीक्षा नये आदर्शों से प्रभावित तथा विकसित हुई। उस समय से लेकर अब तक समीक्षा-विषयक उनकी अनेक कृतियां प्रकाश में आ चुकी हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं-

(क) संस्कृति और साहित्य-1949 (1935 से 1947 तक के निबंधों का संग्रह)

(ख) प्रगति और परंपरा

(ग) प्रेमचंद

(घ) प्रेमचंद और उनका युग-1952

(ङ) भारतेंदु-युग

(च) भारतेंदु हरिश्चंद्र-1953

(छ) प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं-1954

(ज) निराला-1955

(झ) आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना-1955

(ञ) स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य-1956

(ट) लोक जीवन और साहित्य

(ठ) आस्था और सौंदर्य-1962

इन सभी कृतियों में डॉ. शर्मा की मार्क्सवादी तथा जनवादी दृष्टि की प्रधानता है, बल्कि कह सकते हैं कि वह इनमें उत्तरोत्तर विकसित हुई है। प्रारंभिक कृतियों में जहां हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों, कवियों, लेखकों तथा समीक्षकों की व्यावहारिक समीक्षा करने का प्रयास

किया गया है, वहां अंतिम कृतियों में, विशेषतया–'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' तथा 'आस्था और सौंदर्य' में सैद्धांतिक समीक्षा का पर्याप्त प्रौढ़ तथा निष्कर्षित रूप सामने आया है।

5.7.1 सैद्धांतिक समीक्षा

वस्तु और रूप किसी भी रचना के दो प्रमुख अंग होते हैं–1. वस्तु पक्ष और 2. रूप पक्ष। काव्य कृति में वस्तु पक्ष के अंतर्गत अनुभूति, भाव और विचार आदि की परिगणना होती है। वस्तु जगत की यथार्थता जो काव्य के रूप में परिणत होती है, इसी के अंतर्गत समाहित है। इसे काव्य का अंतरंग पक्ष भी कहा जाता है। रूप पक्ष जो काव्य का बहिरंग है, के अंतर्गत भाषा और शिल्प आदि परिगणित हैं। काव्य की लय, छंद आदि उपकरण इसी से संबद्ध हैं। रूपवादी विचारक सामान्यत: रचना में इन्हीं तत्वों की प्रधानता स्वीकार करते हैं। ऐसे विचारकों को कलावादी अथवा सौंदर्यवादी भी कहा गया है। वस्तुवादी विचारक इसके विपरीत वस्तु तत्व को ही प्रमुख मानते हैं। काव्य में नियोजित वस्तु जगत की यथार्थता पर इनकी दृष्टि प्रमुख रूप से केंद्रित रहती है। ये दोनों दृष्टियां स्वयं में एकांगी है। ये वस्तु और रूप को संयुक्त रूप से आवश्यक न मानकर पृथक रूप में आवश्यक मानते हैं।

डॉ. शर्मा का दृष्टिकोण वस्तुवादी होते हुए भी एकांगी नहीं है। यद्यपि उन्होंने प्रगतिशील साहित्य की समस्याओं में यह स्वीकार किया है कि 'कला और विषयवस्तु दोनों ही समान रूप से साहित्य रचना के लिए निर्णायक महत्व की नहीं है। निर्णायक भूमिका हमेशा विषयवस्तु की होती है। जिसके पास उच्च कोटि के विचार नहीं है, भावावेश नहीं है, यथार्थ का गहरा ज्ञान नहीं है, वह सिर्फ कला को निखारने की कोशिश करके उत्कृष्ट साहित्य नहीं रच सकता।' फिर भी वे रूप पक्ष की ओर से सर्वथा उदासीन नहीं है बल्कि वस्तु और रूप की समन्वित स्थिति को ही वे कलाकृति की श्रेष्ठता का मानदंड स्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में "कला के क्षेत्र में 'गिरा अरथ जल बीचि सम' की तरह रूप और विषयवस्तु" कहियत भिन्न न भिन्न है। ऐसी कृतियां जिनमें स्थूल रूप से वस्तुजगत की यथार्थता का ही नियोजन हो, उनकी आलोचना की पात्र बनी हैं। इस संबंध में उनका यह स्पष्ट मत है कि "प्रगतिशील साहित्य रूप-सौष्ठव का तिरस्कार करके दो कदम आगे नहीं चल सकता। यह सौष्ठव कला को प्रभावशाली बनाने में बहुत बड़ा कारण है। काव्य कौशल की ओर ध्यान न देकर रचनाकार अपनी कृति को असमर्थ ही बनाएगा।" लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि रचना में इस पक्ष की ही विशिष्टता उन्हें तभी मान्य है जबकि वह वस्तु रूप से संबद्ध हो। रचना के रूपात्मक सौंदर्य का सबसे बड़ा आधार वस्तु जगत की यथार्थता ही होती है। उनका इस संबंध में यह कथन उल्लेखनीय है– "कला का यह रूप हवा में नहीं निखरता। फूल के रूप रंग के लिए जिस तरह धरती की आवश्यकता होती है, उसी तरह किसी भी कृति के कलात्मक सौंदर्य का निखार उसकी विषय-वस्तु की सामाजिकता से जुड़ा हुआ है। जब कोई रचनाकार इस विषयवस्तु के सामाजिक महत्व के प्रति उदासीन होकर कला के सौंदर्य की ओर ही दौड़ता है, तो बहुधा उसे निराश होना पड़ता है।"

5.7.2 रूप, भावना और विचारों के समन्वय से कला-सृष्टि

डॉ. शर्मा लोक जीवन और साहित्य में कहते हैं "साहित्य में मनुष्य की बाह्य इंद्रियां, हृदय और मस्तिष्क तीनों का संबंध होता है। रूप, भावना तथा विचार की एकता से कला सृष्टि

संभव है।" जहां तक उनके द्वारा प्रस्तुत इंद्रिय बोध की प्राथमिकता का प्रश्न है तो उनका यह दृष्टिकोण मार्क्स की उस सिद्धान्त का अनुसरण है, जिसमें प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन के लिए इंद्रिय बोध को प्रस्थान बिंदु माना गया है। कला सृष्टि का आधार उनके मत से मनुष्य का इंद्रिय बोध है। स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य में वे स्वयं लिखते हैं कि "मनुष्य की चेतना में सबसे व्यापक स्तर इंद्रिय बोध का है। उसके विचार बदल जाते हैं, भाव बदल जाते हैं लेकिन उसका इंद्रिय बोध अपेक्षाकृत स्थायी होता है। साहित्य का प्रभाव दर्शन और विज्ञान से अधिक व्यापक इसीलिए होता है कि उसका संबंध इंद्रिय बोध से है। साहित्य का माध्यम ही रूपमय है। कल्पना के द्वारा साहित्य श्रोता या पाठक के मन में भिन्न-भिन्न रूपों की सृष्टि करता है। इंद्रिय बोध के अभाव में शुद्ध कल्पना असंभव होती है।" उनके मत से इंद्रिय बोध सामाजिक परिस्थितियों का सीधा प्रतिबिंब नहीं है। उनके शब्दों में "मनुष्य की आत्मगत ऐंद्रियता उसके वस्तुगत सामाजिक जीवन से ही विकसित और समृद्ध होती है लेकिन यह ऐंद्रियता उसके वस्तुगत जीवन का सीधा प्रतिबिंब नहीं है।"

इंद्रिय-बोध के साथ ही मनुष्य की भावसत्ता का भी विकास होता है। बाह्य जगत का इंद्रिय-बोध और मनुष्य के मन का भाव-जगत एक ही यथार्थ के दो पक्ष हैं जो एक-दूसरे से निरपेक्ष न होकर परंपरा संग्रथित हैं। डॉ. शर्मा के अनुसार, "मनुष्य का भाव-जगत उतना व्यापक और सार्वजनीन नहीं है जितना उसका इंद्रिय बोध, पर उसके विचार-जगत से ही वह अधिक व्यापक है। साहित्य का कार्य भावों की पुष्टि करना है।" उन्होंने कला तथा साहित्य की सरसता का मूल आधार भाव को ही माना है। उनके शब्दों में 'कला और साहित्य की सरसता' का सबसे बड़ा कारण उनका यह भावना-मूलक स्वभाव है।

काव्य तथा कला-सृष्टि का तीसरा उपादान विचार-जगत है। मनुष्य के भाव-जगत की अपेक्षा उसके धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक विचारों में अधिक परिवर्तन होता है। डॉ. शर्मा के शब्दों में 'साहित्य के सभी तत्व समान रूप से परिवर्तनशील नहीं है, इंद्रिय-बोध की अपेक्षा भाव, और भावों की अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तनशील हैं। जो लोग साहित्य में विचारों के महत्व की परख नहीं कर पाते वे साहित्य का प्रभाव कम कर देते हैं।'

वे कहते हैं कि 'श्रेष्ठ विचारों के न होने पर केवल हृदय सिन्धु से काव्य के मुक्तामणि निकालना असंभव है।'

5.7.3 काव्य का माध्यम

काव्य का माध्यम शब्द है। हीगल के अनुसार, शब्द एक मानसिक सृष्टि है और उसमें भौतिकता का पर्यवसान हो जाता है। अतः वह अतींद्रिय होता है। डॉ. शर्मा ने हीगल के इस मत का खंडन करते हुए यह स्थापना दी है कि समस्त कलाओं, यहां तक कि काव्य कला का माध्यम भी भौतिक वर्ण से मुक्त नहीं रहता। उनके शब्दों में 'कला के माध्यम की ऐंद्रियता देशकाल की सीमाओं से बंधा हुआ वह आकाश है जिसमें मनुष्य के भाव विहंग उड़ान भरते हैं। यह ऐंद्रियता उस भौतिक जगत का प्रतीक है जिसके बाहर विचार तत्व अथवा विचारधारा किसी का भी अस्तित्व नहीं है।' अपनी पुस्तक 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' में उन्होंने पंत तथा तुलसीदास जी की कुछ पंक्तियां उद्धृत करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शब्दों की ध्वनि के द्वारा उतनी ही भाव व्यंजना संभव है जितनी कि उनके अर्थ से प्रकट होती है। अपने विवेचन क्रम में फ्रांसीसी कवि बोदलेयर को उद्धृत करते हुए उन्होंने

स्पष्ट कहा है "शब्दों का चयन कर भिन्न रंगों वाले चित्र खींचे जा सकते हैं, मूर्त अर्थ द्वारा कहकर नहीं वरन ध्वनि से इंगित होकर शब्दों की ध्वनि में रेखाएं भी होती हैं।"

5.7.4 सौंदर्य की सत्ता

भाववादियों के अनुसार सौंदर्य की स्थिति रचयिता के मन में अथवा उसकी आत्मा में है। जबकि वस्तुवादी विचारक सौंदर्य की स्थिति वस्तुजगत की यथार्थता में मानते हैं। उनके अनुसार रचयिता वस्तु जगत के सौंदर्य को ही कलाकृति में नियोजित करता है।

डॉ. शर्मा ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है 'प्रकृति, मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनंददायक गुण का नाम सौंदर्य है।' इस स्थापना पर यह आपत्ति की जा सकती है कि 'कला में कुरूप और असुंदर को भी स्थान मिलता है। साहित्य में वीभत्स का भी चित्रण होता है और उसे सुंदर कैसे कहा जा सकता है।' इस आपत्ति का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है 'कला में कुरूप और असुंदर विवादी स्वरों के समान हैं जो राग के रूप को निखार देते हैं। वीभत्स का चित्रण देख कर हम उससे प्रेम नहीं करने लगते, हम उस कला से प्रेम करते हैं जो हमें वीभत्स से घृणा करना सिखाती है।... जिसे हम कुरूप, असुंदर और वीभत्स कहते हैं, कला में उसकी परिणति सौंदर्य में होती है।'

भाववादी विचारकों के अनुसार सौंदर्य आत्मगत है जबकि वस्तुवादी विचारकों ने उसे वस्तुगत यथार्थता से संबद्ध माना है। चूंकि इंद्रियों के माध्यम से इस जगत की यथार्थता का बोध होता है। अत: इंद्रियों के माध्यम से जिस सौंदर्य की प्रतीति होती है उसकी सत्ता वस्तुगत है। डॉ. शर्मा ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है "इंद्रियों से जिस सौंदर्य की अनुभूति होती है, बाह्य जगत में उसकी वस्तुगत सत्ता है।"

साहित्य-सृजन के हेतु के रूप में जिन तत्वों इंद्रिय-बोध, भाव तथा विचार के समन्वय पर उन्होंने बल दिया है, वे भी उनके अनुसार समाज-सापेक्ष हैं। इंद्रियों द्वारा जिस आनन्द का बोध होता है, उसकी वस्तुगत सत्ता बाह्य जगत में ही निहित रहती है। भाव-जगत का आधार भी इसी प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की वे अनुभूतियां ही हैं जिनका विकास सामाजिक जीवन के धरातल पर ही संभव है। सामाजिक जीवन की परिस्थितियां मनुष्य के विचार जगत में परिवर्तन ला देती हैं। अत: रूप, भावना और विचार की अन्विति जिस कला को जन्म देती है उसका समाज निरपेक्ष होना किसी प्रकार संभव नहीं है। इस संबंध में अपना मत स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है "कलाकार जिस सौंदर्य की सृष्टि करता है वह समाज निरपेक्ष किसी व्यक्ति की कल्पना की उपज नहीं है, वरन सामाजिक जीवन और सामाजिक विकास से उसका घनिष्ठ संबंध होता है।"

काव्य और कला का सौंदर्य-स्रोत, सामाजिक जीवन ही है। समाज के भीतर जो जीर्ण और मरणशील तत्व हैं, जो जीवन और उदीयमान तत्व हैं, इनसे बाहर सौंदर्य की सत्ता नहीं। जो जीर्ण और मरणशील है उनके लिए सुंदरता मृत्यु में है, अन्याय और अत्याचार के फरेब को ढंकने में है, भविष्य से त्रस्त होने और क्षण में ही जीवन की साधें पूरी करने की हैं। जो जीवित और उदीयमान हैं, उनके लिए सुंदरता सत्य में है, मृत्यु को जीतने में है, अज्ञान, अत्याचार और अन्याय की दुनिया को दफनाने में है, सुख और शांति के उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ने में है। साहित्य उस मंजिल तक पहुंचने का शक्तिशाली साधन है।

5.7.5 रस संबंधी विवेचन

डॉ. शर्मा का रस संबंधी विवेचन भी सौंदर्य सापेक्ष है। सौंदर्य दर्शन की परिणति उनके अनुसार रसानुभूति में होती है। इसका विवेचन करते हुए उन्होंने कहा "सौंदर्य यानी सृष्टि वस्तु में हुई प्रेरणा (स्त्रीमूलम)। नारी नामक प्रेरणाकेंद्र पुरुष को स्त्रीकांत्व से बाधित करता रहा है। नारी हुई 'कंडीशंड स्त्रीमूलम', पुरुष की रसानुभूति हुई 'कंडीशंड स्त्रिलैंग्म'। रस और सौंदर्य का यही मौलिक संबंध है।" उनके मत से सौंदर्य वस्तुतः कलाकृति का उत्कर्ष है और रस उस उत्कर्ष की सहृदयजन्य प्रतीति। भारतीय काव्य शास्त्र में रस-प्रतीति के संबंध में जो विभिन्न मत प्रस्तुत किये गए हैं उन्हें वे एक-दूसरे का विरोधी न मानकर पूरक के रूप में स्वीकार करते हैं। डॉ. शर्मा ने भी इस संबंध में कहा– "रस निष्पत्ति के सिद्धांत या उत्पत्तिवाद, अनुमानवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद नाम से जो चार मत प्रचलित हैं, वे एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक साबित हो सकते हैं।"

भारतीय काव्य शास्त्रियों ने आनंदानुभूति को काव्य अथवा कला का साध्य माना है। इसके विपरीत डॉ. शर्मा आनंदानुभूति को काव्य तथा कला का परम साध्य न मानकर साहित्यशास्त्र का प्रस्थान बिंदु स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि 'साहित्य से आनंद मिलता है, यह अनुभव सिद्ध बात है, लेकिन साहित्यशास्त्र यहां समाप्त नहीं होता बल्कि यहीं से उसका श्रीगणेश होता है। साहित्य से जिस आनंद की उपलब्धि होती है, उसकी सत्ता मानव कर्म में है और उसको प्रभावित करने में ही उसकी उपयोगिता सिद्ध होती है। सौंदर्य और उपयोगिता थोड़ी देर के लिए परस्पर विरोधी भले ही प्रतीत होते हों परंतु उनकी द्वंद्वात्मक एकता के अभाव में साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती।' अतः 'साहित्य शास्त्र की उपयोगिता यह होगी कि वह साहित्य और जीवन के संबंध की वास्तविकता प्रकट कर दे, जनता के लिए अहितकर साहित्य और अहितकर साहित्यशास्त्र से भ्रम का पर्दा उठा दे', क्योंकि 'साहित्य जनता के लिए–यह हमारा जातीय सिद्धांत बन चुका है।'

5.7.6 साहित्यकार की भूमिका

डॉ. शर्मा के अनुसार 'यदि साहित्य समाज का दर्पण होता तो संसार को बदलने की बात न उठती। कवि का काम यथार्थ जीवन को प्रतिबिंबित करना ही होता तो वह प्रजापति का दर्जा न पाता। वास्तव में प्रजापति ने जो समाज बनाया है, उससे असंतुष्ट होकर नया समाज बनाना कवि का जन्मसिद्ध अधिकार है।' प्रजापति के धरातल पर कवि की यह प्रतिष्ठा ही उसे अनुकर्ता मात्र नहीं रहने देती। उसकी कृति सामाजिक जीवन का प्रतिबिंब न होकर सामाजिक जीवन पर आधारित एक स्वतंत्र सौंदर्यमयी सृष्टि बनकर प्रस्तुत होती है। मात्र प्रतिबिंब ग्रहण करने में कवि का स्वतंत्र व्यक्तित्व कैसे उभर सकता है? डॉ. शर्मा के मतानुसार कवि का व्यक्तित्व पूरे वेग से तभी निखरता है जब वह समर्थ रूप से परिवर्तन चाहने वाली जनता के आगे कवि-पुरोहित की तरह बढ़ता है।

साहित्य सामाजिक जीवन में स्फूर्ति और प्रेरणा का संचार करता है। डॉ. शर्मा के शब्दों में "साहित्य का पांचजन्य समर भूमि में उदासीनता का राग नहीं सुनाता। वह मनुष्य को भाग्य के आसरे बैठने और पिंजड़े में पंख फड़फड़ाने की प्रेरणा नहीं देता। इसी तरह की प्रेरणा देने वालों के वह पंख कतर देता है।"

प्रत्येक साहित्यकार के लिए यह आवश्यक है कि वह सामाजिक यथार्थता को ग्रहण करते हुए जनशक्ति को चेतना की नई भूमिकाओं की ओर अग्रसर करे, सुख और जनकल्याण का प्रशस्त आधार प्रस्तुत करे। यही साहित्य का सामाजिक उपयोग होगा। वैयक्तिक तथा कल्पनात्मक साहित्य की भावधारा समाज को सुख और शांति का स्वप्न नहीं दे सकती क्योंकि "साहित्य की अमर सरिता भी आर्थिक और राजनीतिक उत्पीड़न के महापर्वत को काटकर प्रवाहित की जाती है। अपनी कुदाल फेंककर इस पर्वत की चट्टान के नीचे बैठा हुआ साहित्यकार कल्पना की आकाश गंगा से धरती के हृदय को सरस नहीं बना सकता।"

डॉ. शर्मा ने शिवदानसिंह चौहान की इस स्थापना का, कि कलाकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है, इसी दृष्टि से खंडन किया है। कहा है कि 'अगर कलाकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है तो साहित्य में प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी का भेद करना निरर्थक है।'

डॉ. शर्मा का कथन है "जो लोग कहते हैं साहित्य स्वभाव से प्रगतिशील रहता है, वे अप्रत्यक्ष रूप से यह मानकर चलते हैं कि साहित्य प्रतिक्रियावादी भी होता है। प्रगतिशील शब्द सापेक्ष अर्थ का बोधक है। कोई भी घटना-प्रवाह किसी की तुलना में ही प्रगतिशील होगा। इसीलिए निरपेक्ष अर्थ में प्रगतिशील शब्द का व्यवहार कर सकना मुमकिन नहीं है।"

डॉ. शर्मा के मत से 'न तो साहित्यकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है न आलोचक। वे प्रगतिशील तभी होते हैं जब वे जन साधारण का पक्ष लेते हैं।'

प्रगतिशील साहित्यकार के लिए दो चीजें आवश्यक हैं– समाज के परस्पर विरोधी संबंधों का चित्रण तथा विकासमान संभावना की कल्पनापरक अभिव्यक्ति। आज के युग का सत्य यह है कि एक तरफ जनता साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रही है दूसरी तरफ साम्राज्यवादी ताकतें और उसके हिमायती उसे दबाने और बनाए रखने की कोशिश कर रहे हैं। इस द्वंद्व में कलाकार किसी अद्वैत युग सत्य का सहारा न लेकर जनता या उसके विरोधियों का पक्ष लेता है इसलिए स्वभावत: प्रगतिशील होकर उस युग विशेष और समाज विशेष और जनता का पक्ष लेने पर ही उसे प्रगतिशील कहा जा सकता है।

5.7.7 मार्क्सवाद की परख

डॉ. शर्मा के शब्दों में "मार्क्सवाद सिखाता है कि संस्कृति किसी समाज की आर्थिक व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिंब है। आर्थिक व्यवस्था अगर नींव है तो संस्कृति उसके ऊपर की इमारत है।"

फिर भी यह समझना कि समाज व्यवस्था के परिवर्तन के साथ ही सांस्कृतिक धरातल पर भी तत्कालिक परिवर्तन का आभास होने लगता है, एक भ्रम मात्र है।

डॉ. शर्मा के अनुसार, "मार्क्स ने जब यह कहा था कि आर्थिक व्यवस्था के आधार पर संस्कृति का महल बनता है तो इसका मतलब यह नहीं था कि पिछली संस्कृति में ग्रहण करने लायक कोई बात नहीं होती।" वस्तुत: नई संस्कृति तथा नवीन सामाजिक चेतना को समृद्ध करने में पूर्ववर्ती युगों की सांस्कृतिक चेतना का भी महत्वपूर्ण योग होता है। वे कहते हैं–

"नई संस्कृति और नई सामाजिक चेतना के भीतर नये साहित्यकार और लेखक का कर्तव्य होता है कि वे पुरानी संस्कृति के तत्व और रूपों को अपने भीतर समेट कर उन्हें अधिक पुष्ट और विकसित करें।" उनके अनुसार इस विषय में स्वयं मार्क्सवादियों ने भ्रम की

गुंजाइश नहीं रहने दी है। फिर भी अगर कोई यह दावा करे कि मार्क्सवाद प्राचीन संस्कृति का विरोधी है तो इसका कारण मार्क्सवाद का अज्ञान हो सकता है।

डॉ. रामविलास शर्मा की व्यावहारिक समीक्षा भी मूलतः मार्क्सवादी आदर्शों पर आधारित है। वे कवि, लेखक तथा समीक्षक ही उनके लिए प्रमुख रूप से विवेच्य हैं, जिनकी कृतियों में जनवादी तत्वों की प्रधानता रही है अथवा जिनके अंतर्गत स्वस्थ सामाजिक मूल्यों की स्थापना हो सकी है। इस दृष्टि से आधुनिक हिंदी साहित्य के अंतर्गत उन्हें निराला, प्रेमचंद और आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतीत हुए।

5.7.8 मध्ययुगीन काव्यचिंतन

मध्ययुगीन साहित्य के प्रथम प्रमुख कवि थे कबीर। मनुष्यत्व की सामान्य भावना के आधार पर साधारण जनता में आत्म गौरव की प्रतिष्ठा, शर्मा के अनुसार उनकी महत्वपूर्ण देन थी। इस कार्य में उन्होंने निम्न वर्ग की सामाजिक चेतना को निखारा, उसे बल प्रदान किया। लेकिन कबीर की प्रतिभा वास्तव में ध्वंसात्मक थी, तुलसी की भांति स्थापनामूलक नहीं। डॉ. शर्मा के मत में, "उनके रहस्यवाद में रचनात्मक तत्व कम हैं।" इसके विपरीत तुलसी की संपूर्ण प्रतिभा, उनका समस्त साहित्य सामाजिक जीवन में लोकहित की दृष्टि में नये आदर्शों की स्थापना के लिए संलग्न है। उनके सामाजिक वर्णन में, उपमाओं में, शब्द-चयन आदि में एक ऐसे व्यक्ति की छाप है, जिसमें अपनी भौतिक पृष्ठभूमि के प्रति असाधारण जागरुकता है। लेकिन इस पृष्ठभूमि को, जो युगीन समस्याओं से आच्छादित थी उन्होंने समाधान रहित नहीं छोड़ा है। "किसान दुःखी है, प्रजा पीड़ित है, राजा उत्तरदायित्व-शून्य है, परंतु इस व्यूह से निकलने का मार्ग क्या है?" उनके रामराज्य की कल्पना, शर्मा जी के अनुसार, इस मार्ग की ओर ही संकेत है।

लेकिन तुलसी साहित्य के सामंत-विरोधी मूल्यों को भुलाकर मध्ययुग के अवसान के समय जिस ह्रासशील प्रवृत्ति का रीतिकाव्य के रूप में आविर्भाव हुआ, डॉ. शर्मा ने बड़ी ही तीव्रता के साथ उसकी भर्त्सना की है। उनके अनुसार, उस युग की कविता में नायिकाओं की भरमार, प्रकृति वर्णन के नाम पर घिसे-पिटे अलंकार, दरबारों की उर्दू शायरी में हुस्न और इश्क की आतिशबाजी, ये सब सामंती शासक वर्ग की विकृत रुचि के परिचायक हैं।

भूषण तथा उनकी परंपरा के कतिपय अन्य कवियों द्वारा वीर गाथा काल का एक लघु-संस्करण अवश्य इस युग में मूर्त हुआ, फिर भी, वे कवि शर्मा जी के अनुसार, 'युगीन प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त नहीं थे और इन्हें अधिक लोकप्रियता मिलने का कारण भी वही था कि वे अपने आश्रयदाताओं के भक्त पहले थे तथा देश के भक्त बाद में।'

5.7.9 आधुनिक युग चिंतन

भारतेंदु हरिश्चंद्र के साहित्य का मूल स्वर देशभक्ति है इसे स्वीकार करते हुए शर्मा जी ने उन्हें जातीय नवजागरण के वैतालिक की संज्ञा दी है। उनकी दृष्टि में, भारतेंदु साहित्य की सबसे बड़ी विशिष्टता उसकी यथार्थवादी भावभूमि है, जिसके आधार पर युगीन साम्राज्य प्रेमी और रूढ़िवादी विचारधारा का खंडन किया गया है। संस्कृति और साहित्य में वे कहते हैं 'भारतेंदु की दृष्टि जनवादी विचारों से प्रभावित है, जहां धर्म, संस्कृति, साहित्य, शिष्टाचार पर पुरोहितों, मौलवियों का इजारा तोड़ने के उपाय हैं, विधवा विवाह का समर्थन तथा बाल-विवाह

का विरोध है और कुलीनता, जाति प्रथा, छुआछूत आदि का जोरदार खंडन है।' इसी प्रकार, काव्य में भी यथार्थवादी पद्धति का समावेश करते हुए उन्होंने, यह प्रमाणित किया कि कविता का भविष्य देश की जनता के भविष्य के साथ जुड़ा हुआ है। इस युग के अन्य कवियों तथा लेखकों राधाचरण गोस्वामी, बालमुकुंद गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालकृष्ण भट्ट आदि की सामाजिक तथा रचनात्मक चेतना का उल्लेख करते हुए डॉ. शर्मा ने कहा है इस युग की मूल धारा राष्ट्रीय और जनवादी है। राष्ट्रीय इसलिए है कि उस युग के लेखकों में स्वाधीनता का भाव था और अंग्रेजी साम्राज्यवाद की भर्त्सना का अपूर्व साहस। भारतेंदु-युग का साहित्य 'जनवादी' इसी अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के प्राचीन ढांचे से संतुष्ट न होकर सुधार की आकांक्षा रखता है। वह राजनीतिक स्वाधीनता का ही साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का भी साहित्य है।

भारतेंदु युग के पश्चात साहित्य के क्रमिक-विकास में द्विवेदी-युग का भी अपना महत्वपूर्ण योग है। शर्मा जी के अनुसार, "साहित्य प्रगति की दृष्टि से पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनके साथियों ने जो महत्वपूर्ण काम किया, उसने पद्य में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित किया। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली का परिष्कार किया और उसकी व्याकरण तथा अन्य अशुद्धियों को दूरकर उसे एक निश्चित रूप दिया। काव्य के क्षेत्र में द्विवेदी-युग की महत्वपूर्ण देन, शर्मा जी के मत से, मैथिलीशरण गुप्त हैं। उनकी कविता में व्यक्तिवाद की परंपरा का मूलोच्छेदन है, उनका काव्य वैयक्तिक कुंठा का काव्य नहीं है।"

छायावादी काव्यधारा के अंतर्गत यद्यपि महाकवि निराला ही डॉ. शर्मा के द्वारा प्रमुख रूप से विवेच्य रहे हैं, फिर भी उन्होंने प्रसाद, पंत तथा महादेवी वर्मा के संबंध में भी अपनी मान्यताएं प्रस्तुत की हैं। उनके मत से, प्रसाद का अधिकांश साहित्य विशेषतया उनका कथा साहित्य यथार्थवादी भूमिका पर आधारित है। पंत के काव्य की समीक्षा करते हुए जहां एक ओर उनकी 'ग्राम्या' को उन्होंने, 'प्रगतिशील कविता का ऐतिहासिक मार्ग चिह्न कहा है, वहीं उनकी नव्यतम कृतियों 'स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, उत्तरा' आदि की पर्याप्त आलोचना भी की है। महादेवी के काव्य की अतिशय वैयक्तिकता एवं वेदना की आलोचना करने के बावजूद उन्होंने यह स्वीकार किया है "निराला को छोड़कर किसी अन्य कवि में जीवन के प्रति इतनी चाह नहीं है जितनी महादेवी में।"

छायावादी काव्य के पश्चात डॉ. शर्मा ने प्रगतिशील काव्य-धारा की विवेचना की है। प्रगतिशील कविता ने, उनके अनुसार, "छायावादी काव्य की अस्पष्टता, भाषा की दुरूहता, निराशावादी भावनाओं और पलायनवादी प्रवृत्ति को दूर किया, जीवन में आस्था, दलित और शोषित जनता के लिए मुक्ति की उत्कंठा, सामाजिक दायित्व की भावना व्यक्त की।" सुमन, नागार्जुन, दिनकर तथा केदारनाथ अग्रवाल जैसे कवियों की सामाजिक चेतना शर्मा जी के अनुसार पूंजीवादी असंगतियों का विरोध करती है तथा श्रमजीवी वर्ग को प्रश्रय देती है। लेकिन इस काव्यधारा के अंतर्गत कतिपय कमियां भी थीं, जिनका उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा 'प्रगतिशील कविता की कमजोरी थी विचार पक्ष की अस्पष्टता और कलात्मक शिथिलता।'

छायावादी कवियों के अंतर्गत डॉ. शर्मा ने निराला को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। उनकी दृष्टि में निराला जनवादी परंपरा के कलाकार हैं जिनके साहित्य की जड़ें देश की धरती और देश की साधारण जनता में गहराती चली गई है।

हिंदी कथा साहित्य के अंतर्गत प्रेमचंद का कृतित्व उनके समाजवादी आदर्शों के सर्वाधिक निकट है। डॉ. शर्मा के अनुसार प्रेमचंद का साहित्य अपने युग का इतिहास है, ऐसा इतिहास, जो कतिपय घटनाओं एवं व्यक्तियों पर आश्रित न रहकर उस अन्तर्भाग का सजीव चित्रण करता है, जो समाज की रीढ़ है। अपनी यथार्थवादी लेखनी से उन्होंने जीवन की सच्चाइयों का उद्‌घाटन किया है तथा समाज के दुर्बलपक्षों पर हास्य एवं व्यंग्य की प्रगल्भता से प्रहार किया है।

शर्मा जी के अनुसार जिस विशिष्टता और मौलिकता के अधिकारी हिंदी साहित्य में प्रेमचंद और निराला हैं उन्हीं गुणों से समन्वित आचार्य शुक्ल का भी व्यक्तित्व है।

शर्मा जी की दृष्टि में आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण मूलत: वस्तुवादी है।

भारतीय आदर्शवाद ही उनके साहित्य चिंतन को प्रमुख रूप से निर्देशित करता है। पश्चिम का भौतिकवादी दर्शन नहीं, भले ही उनमें आदर्शवाद के साथ-साथ बुद्धिवाद का भी समावेश था। पश्चिम के मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों का भी उन पर यथेष्ट प्रभाव था इसके अतिरिक्त उनमें आंख मूंदकर शास्त्रीय आदर्शों तथा परंपरागत मान्यताओं को न स्वीकार करने की प्रवृत्ति भी थी। अत: उनके चिंतन में एक साथ हमें कई ऐसे तत्व दिखाई पड़ते हैं जो प्रगतिवादी समीक्षा के अंतर्गत भी समान रूप से विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए उनकी लोकमंगल विषयक दृष्टि को मार्क्सवादी चिंतन की सामाजिक सोद्देश्यता मूलक दृष्टि से अभिन्न कह सकते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत कलावाद के विरोध में भी मार्क्सवादी विचारकों सी तीव्रता है। इन यत्र तत्र लक्षित होने वाले समान तत्वों के आधार पर कहा जा सकता है कि डॉ. शर्मा को शुक्ल जी की परंपरा में रख सकते हैं। लेकिन दृष्टि भेद तथा आदर्शों की भिन्नता के कारण इस प्रकार का स्थान निर्धारण अधिक वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

आचार्य शुक्ल के बाद डॉ. शर्मा ने छायावादी समीक्षकों के अंतर्गत अपने आदर्शों के समर्थन में यदि किसी अन्य विचारक को उद्‌धृत किया है तो वे हैं नंददुलारे वाजपेयी। प्रगतिवादी समीक्षा के प्रदेय के संबंध में तथा व्यक्ति स्वातंत्र्य के नाम पर उठाए गए नये प्रश्नों, जो मूलत: स्वार्थ प्रेरित पश्चिम के अस्तित्ववादी सिद्धांतों से परिचालित हैं, के संबंध में अपनी मान्यताएं प्रस्तुत करते हुए आचार्य वाजपेयी के दृष्टिकोण को विशेष रूप से उन्होंने उद्‌धृत किया है।

प्रगतिवादी समीक्षा के क्षेत्र में भी डॉ. शर्मा का अपने सहयोगियों से पर्याप्त मतभेद है। उनके दृष्टिकोण और उसके अंतर्गत व्यक्त उनके असंतोष तथा विरोध को प्राय: सर्वत्र देखा जा सकता है। कुछ लोगों ने इसे आलोचना-प्रत्यालोचना कहकर एक विशेष संदर्भ में देखने का प्रयास भी किया है।

समीक्षा-शैली की दृष्टि के विचार करने पर डॉ. शर्मा के विवेचन में नकारात्मक वृत्ति का ही प्राधान्य है। उनकी शैली को आचार्य वाजपेयी के शब्द में 'वाद-विवादात्मक' अथवा Polymical की संज्ञा दे सकते हैं। वैयक्तिक आरोप-प्रत्यारोप के साथ उनमें व्यंग्य का प्राचुर्य है, विरोधियों को मर्माहत कर देने की क्षमता है, लेकिन साथ ही साहित्यिक मर्यादा तथा संतुलन का अभाव भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होता है। इस अर्थ में उनकी समीक्षा-शैली को हम विशुद्ध रूप से साहित्यिक शैली की संज्ञा नहीं दे सकते।

फिर भी डॉ. शर्मा की शैली में एक प्रकार की विशेषता है, और वह है उनकी सरलता। उनकी समीक्षा बिल्कुल स्पष्ट तथा सहज ग्राह्य है। जिस सहजता के साथ डॉ. शर्मा ने मार्क्सवादी आदर्शों की साहित्यिक परिणति दिखाई है वह इस धारा के अन्य समीक्षक नहीं कर सके हैं। सरलता तथा स्वच्छंदता से युक्त डॉ. शर्मा जी की समीक्षा शैली को कुछ आलोचकों ने पत्रकारिता की शैली कहा। तथापि वैयक्तिक आरोप प्रत्यारोप तथा खंडन मंडन की प्रक्रिया से यह जहां कहीं भी मुक्त है वहां वह पर्याप्त विचारोत्तेजक है। उनकी अंतिम कृतियों में, विशेषतया, 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' तथा 'आस्था और सौंदर्य' में, इस शैली को देखा जा सकता है।

5.8 मुक्तिबोध

हिंदी आलोचना की एक लंबी परंपरा है जिसमें प्रगतिवादी प्रखर एवं गंभीर कवि आलोचक मुक्तिबोध का नाम प्रमुख है। मुक्तिबोध ने भाववादी-कलावादी सौंदर्यशास्त्र के प्रतिमानों का खंडन करते हुए मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के वस्तुपरक प्रतिमानों को प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। मुक्तिबोध ने क्षणवाद, धनवाद, अस्तित्ववाद, हीगलीय सौंदर्यवाद, अमरीकी आधुनिकतावाद, स्वच्छंतावाद आदि का खंडन किया तथा आस्था के स्थान पर आस्थावादी को आश्रय दिया। मुक्तिबोध ने अपने आलोचना दर्शन में पूंजीवाद व्यवस्था का प्रतिफलक 'लघु मानव का सिद्धांत' को भी समय-समय पर खंडित किया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मुक्तिबोध मार्क्सवादी विचारधारा एवं समाजशास्त्रीय विचारधारा से प्रभावित रहे हैं। कला के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों- मानों की प्रतिष्ठा के लिए मुक्तिबोध ने विश्व भर की प्रतिगामी शक्तियों की आलोचना भी की है। उन्होंने रचना प्रक्रिया, कलानुभव, सौंदर्य-दृष्टि के साथ ही अनुभूति की ईमानदारी को भी काव्य प्रतिमान बनाया। मुक्तिबोध रचना को एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के स्थान पर एक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं। उनके द्वारा नई कविताओं में प्रयुक्त प्रयोगवादी कवियों इलियटीय सिद्धांतों को प्रतिक्रियावादी कहते हुए खंडन किया गया तथा पुराने प्रगतिवाद के समीक्षकों पर टिप्पणी करते हुए नई समीक्षा दृष्टि के निर्माण का प्रयास किया गया। मुक्तिबोध की आलोचना पद्धति की प्रमुख विशेषता यह भी रही है कि उनके द्वारा किसी मार्क्सवादी-समाजवादी आधार को अपनाने के साथ-साथ आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धांतों की दृष्टि का भी समर्थन किया गया। उनके द्वारा रस की शब्दावली का नये तरीके से प्रयोग किया गया। आचार्य शुक्ल के समान ही उनके द्वारा काव्यानुभूति एवं जीवनानुभूति को एक साथ देखा गया।

गजानन माधव मुक्तिबोध के चिंतन ने हिंदी मार्क्सवादी साहित्य-शास्त्र तथा सौंदर्य-शास्त्र का मार्ग प्रशस्त किया है। पाश्चात्य साहित्य, साहित्यालोचन, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषणशास्त्र, सौंदर्यवाद, मार्क्सवाद आदि का मुक्तिबोध ने गंभीर अध्ययन किया था। अत: उन सभी का प्रभाव उनके समीक्षा-दर्शन पर है।

डॉ. नामवर सिंह ने 'कविता के नये प्रतिमान' नामक पुस्तक की भूमिका में मुक्तिबोध के अवदान को स्वीकार करते हुए कहा, "यह तथ्य अनदेखा नहीं किया जा सकता कि कविता के नये प्रतिमान के केंद्र में मुक्तिबोध हैं। मूल्यों के अन्वेषण की प्रक्रिया में

कभी-न-कभी प्राय: सब के सामने आदि काव्य का यह प्रश्न उपस्थित होता है- कोन्वस्मिन साम्प्रतं लोके- ? इसके उत्तर में मुक्तिबोध ही दिखाई देते हैं। नई कविता में मुक्तिबोध की स्थिति वही है जो छायावाद में निराला की थी। निराला के समान मुक्तिबोध ने भी अपने युग के सामान्य काव्य मूल्यों को प्रतिफलित करने के साथ ही उनकी सीमा को चुनौती देकर उस सर्जनात्मक विशिष्टता को चरितार्थ किया जिससे समकालीन काव्य का सही मूल्यांकन संभव हो सका।"

मुक्तिबोध की रचना एवं समीक्षा प्रक्रिया को आत्मसात करने के लिए आवश्यक है कि उनकी प्रतिपादित शब्दावलियों को जाना जाए जो बार-बार उनकी समीक्षाओं में प्रयुक्त हुई हैं। बाह्य का आभ्यंतरीकरण ऐसी ही एक शब्दावली है। यह शब्दावली मुक्तिबोध की यथार्थवादी दृष्टि को स्पष्ट करती है। उनका यथार्थ केवल बाह्य की भावनात्मक प्रतिकृति नहीं है। उसमें बाह्य यथार्थ को आंतरिक तत्वों की गतिशीलता के साथ एकाकार किया जाता है। बाह्य एवं अंतर दोनों अपनी गतिशीलता में क्रिया प्रतिक्रिया करते हुए एक निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। बाह्य अंतर का अंग बनकर ही संपूर्ण यथार्थ बन सकता है क्योंकि तभी वह लक्ष्योन्मुखता प्राप्त करता है। इसके बिना मुक्तिबोध साहित्य को निरर्थक मानते हैं। दूसरा शब्द समुच्चय ही उनकी समीक्षा का प्राण है, वह है संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन। मुक्तिबोध ने ज्ञान और संवेदन को सापेक्षिक महत्व दिया है।

रचना एवं समीक्षा दोनों में ही संवेदनात्मक ज्ञान एवं ज्ञानात्मक संवेदनों की आवश्यकता होती है। इसी से कृति महत्वपूर्ण एवं उपयोगी बनती है। मुक्तिबोध के अनुसार समीक्षक या रचनाकार में भोक्ता एवं दर्शक दो व्यक्तित्व अंतर्भूत रहते हैं। इस प्रकार का ही पारस्परिक आदान-प्रदान रचना-कथाकार को सार्थक बनाता है। मुक्तिबोध के ही शब्दों में- "दर्शक का ज्ञान और भोक्ता की संवेदना परस्पर विलीन होकर अपने से परे उठने की भंगिमा को प्रोत्साहित करती रहती है। इस प्रकार की सृजन-प्रक्रिया के विशिष्ट में सर्व-सामान्य महत्व प्रतिबिंबित होता-सा प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में संवेदना के स्थितिबद्ध गहरे रंगदृष्टि के स्थिति मुक्त रूप से परिष्कृत होकर प्रतिनिधिक हो उठते हैं।"

मुक्तिबोध की सबसे बड़ी आलोचना उपलब्धि उनका रचना-प्रक्रिया का विवेचन है। मुक्तिबोध की आलोचनात्मक दृष्टि सदा रचना प्रक्रिया के गूढ़ तत्वों को समझने और उन्हें विश्लेषित करने पर रही है। इसी कारण वे कला की सार्थक परिभाषा करने में भी सफल रहे हैं- रचना प्रक्रिया को सुस्पष्ट ढंग से व्यक्त करने के लिए मुक्तिबोध ने उसका विश्लेषण किया है। और उसके तीन क्षण निर्धारित किए हैं। जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। "कला के प्रथम क्षण में ही उत्कट तीव्र अनुभव की प्रतीति होती है। अर्थात दर्शकत्व और भोक्तृत्व का योग होता है।" अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूल से पृथक हो जाना और एक फैंटेसी का रूप धारण करना। "कला के दूसरे क्षण में उपस्थित फैंटेसी की इकाई में संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना कुछ इस प्रकार समायी रहती है कि लेखक उन्हें शब्दबद्ध करने के लिए तत्पर हो उठता है।" फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमयता।

मुक्तिबोध ने रचना प्रक्रिया में 'फैंटेसी' पर विशेष बल दिया है। यह उनकी रचना प्रक्रिया की अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों हैं। उनके अनुसार- "भाषा फैंटेसी को काटती-छांटती

है, और इस प्रक्रिया के विपरीत फैंटेसी भाषा को संपन्न और समृद्ध भी करती है। इसमें कवि-भाषा का निर्माण होता है।"

मुक्तिबोध द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में अत्यधिक विश्वास रखते हैं और रचना प्रक्रिया की गतिशीलता में उन्हें उसका बोध निरंतर होता रहा है। उनके अनुसार, "प्रवृत्तियों द्वारा प्राप्त जीवनानुभव में संवेदना अपनी अग्नि, किंतु तत्व बाह्यगत होते हैं। उनकी दृष्टि में बाह्य और अंतर का यह द्वंद्व ही विभिन्न समस्याएं उत्पन्न करता है। और रचना शक्ति का विकास करता है। अतएव जीवन सापेक्ष रचना-प्रक्रिया भी द्वंद्व की उपज है और समस्याएं यहां भी समाधान पाती हैं, किंतु कलात्मक स्तर पर ही। मनुष्य की चेतना वह समस्त अंत:करण है जिसका अपने बाह्य से निरंतर सापेक्षिक संबंध है। यदि अंतर का संबंध अपने बाह्य से कर चुका है तो वहां मुक्तिबोध को जड़ता और निर्जीवता दिखाई पड़ती है। ऐसी रचनाओं को वे निरर्थक मानते हैं क्योंकि वे युग सापेक्ष नहीं होती।

मुक्तिबोध के लिए संक्षेप में कहा जा सकता है कि वे उग्र सिद्धांतवादी अहंकार से पीड़ित न होकर, लक्ष्योन्मुख उदार मानवतावाद से प्रेरित हैं। उनके आलोचना-सिद्धांतों से स्पष्ट है कि जितनी आवश्यकता लेखक को 'ईमानदारी' की है, उतनी ही समीक्षक को 'चरित्र' की रहती है।

5.8.1 चिंता एवं चिंतन का स्वरूप

मुक्तिबोध ने वास्तविक दुनिया निम्न मध्यवर्ग और उत्पीड़ित जनों के क्षेत्र से 'जीवन विवेक' प्राप्त किया और इसी पर उनके साहित्य-विवेक का आधार टिका हुआ है। मुक्तिबोध के अनुसार "हम केवल साहित्यिक दुनिया में ही नहीं वास्तविक दुनिया में रहते हैं। इस जगत में रहते हैं।" मुक्तिबोध का यह कथन उनके समग्र समाजपरक एवं सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन की प्राथमिक कुंजी है। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में श्रम और विज्ञान एक ही साथ समानांतर धुरी पर रहते हैं। साहित्य और कला की स्थिति भी इन्हीं के साथ हैं। इस प्रक्रिया में मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार प्रकृति का रूपांतरण करता है। यह कर्म से ही संभव होता है। सृजन भी इसी प्रक्रिया का एक हिस्सा है। अपने सच्चे समय में इतिहास-विज्ञान और मनुष्य की समाजशास्त्रीय-आर्थिक अवस्था को विस्मृत कर सृजन असंभव है। मुक्तिबोध का समग्र चिंतन इसी दृष्टि और कोशिश का परिणाम है। वैसे मुक्तिबोध स्वयं को मूलत: कवि ही मानते थे किंतु उनका विचारक व्यक्तित्व भी उतना ही महत्वपूर्ण है।

मुक्तिबोध चिंतनशील प्रकृति के थे। निरंतर अशांत और व्यग्र रहने वाला उनका मन जीवन-समाज और साहित्य से जुड़े हर सवालों से जूझने लगता था। उनका आत्म-मंथन, उनकी डायरी, निबंधों, समीक्षाओं ओर पत्रों में अनवरत अबाध रूप से व्यक्त होता रहा है।

मुक्तिबोध का चिंतन द्वंद्वात्मक है और जीवन-संघर्ष तथा सौंदर्यशास्त्र के दुहरे स्तर पर सक्रिय रहा है। मुक्तिबोध बर्गसां से लेकर मार्क्स तक के उपलब्ध चिंतन को आत्मसात करते हुए भी सारे प्रश्नों से निजी स्तर पर मुठभेड़ करते हैं। वे हिंदी समीक्षा की दरिद्रता और इकहरी काट्री से बहुधा क्षुब्ध रहते थे। पूर्व ज्ञात सत्य और पूर्व निश्चित निषेध की प्रवृत्ति के विरुद्ध वे अन्वेषण की प्रणाली में विश्वास रखते थे। इसलिए उनका गद्य अपनी कतिपय दुर्बलताओं और अंतर्विरोधों के बावजूद एक सच्चे रचनाकार के आत्मसंघर्ष, जीवन-संघर्ष और सृजनात्मक संघर्ष का प्रामाणिक दस्तावेज बन गया है।

मुक्तिबोध के चिंतन का चरित्र संश्लिष्ट है। वे एक कवि मन की विकलता और मार्क्सवादी वैचारिकता के साथ गतिशील दुनिया की वास्तविकता को परखते हैं। उनके यहां भीतरी और बाहरी दुनिया का सरल द्वैत भाव नहीं है। एक कवि की तरह उन्होंने हमेशा अनुभव किया है। डायलन टॉमस के शब्दों में "भीतरी और बाहरी दुनिया एकदम अलग-अलग नहीं है। तकलीफ भीतरी जगहों में रंग भरती है और संभवत: उन्हें सुंदर भी करती है... शायद महान कला वह है जो संपूर्ण भाव से भीतरी और बाहरी का संयोजन करती है।" मुक्तिबोध के चिंतन में भी हमें यही विशेषता दिखाई देती है।

मार्क्सवादी-दृष्टि, गहरी प्रतिबद्धता और प्रखर मूल्य चेतना के अतिरिक्त मुक्तिबोध एक ऐसी नैतिकता के तहत साहित्यिक बहसों में शामिल होते हैं जो अमूर्त मानवतावादी नैतिकता मात्र नहीं है। इसीलिए मुक्तिबोध चीजों, तथ्यों और शब्दों तक के वर्गीय चरित्र को पहचानने में चूक नहीं करते हैं। निंदा-स्तुति या स्थापना आदि की सामान्य बहसों से परे उन्होंने अपने चिंतन को हमारे समाज की शोषित जनता के पक्ष में एक शस्त्र की तरह प्रस्तुत करने की कोशिश की है। इसी कारण अपनी साहित्यिक विरासत और परंपरा का पुनर्मूल्यांकन उन्हें जरूरी लगा। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में परंपरा को प्रगतिशील दृष्टि से देखने का जोखिम है। रचनात्मक सौंदर्य को प्रमुख मानते हुए भी रचना के वैचारिक परिप्रेक्ष्य को वे कम महत्वपूर्ण नहीं मानते। उनकी दृढ़ मान्यता रही है कि किसी भी कवि की वैचारिक चेतना के निर्माण में उसके वर्ग का एक निर्णायक योगदान होता है।

मुक्तिबोध का चिंतन उनके कथा-साहित्य और उनकी कविताओं में भी प्रकट है। उनके सारे शब्द एक आवेशित वैचारिकता से संपन्न हैं। मुक्तिबोध ऐसे अकेले कवि हैं जिन्होंने विवेचना और विश्लेषण को कविता में व्यक्त किया है। इसके बीज उनके स्वभाव में ही हैं। मुक्तिबोध जताने के लिए नहीं जानने के लिए बहस करते हैं। उनका चिंतन आत्मालाप से परे वस्तु जगत के भीतर होने वाले आत्म-मंथन का परिणाम है। कथा-साहित्य में उन्होंने मनुष्य की नियति को लेकर जो विचार व्यक्त किए हैं वे इसी के प्रतीक हैं। इसीलिए मनुष्य और समाज के अंत:संबंधों को प्रकट करनेवाली मुक्तिबोध की दुनिया जटिल है।

'कामायनी : एक पुनर्विचार' को छोड़कर मुक्तिबोध का समस्त साहित्य उनकी मृत्यु के पश्चात ही प्रकाशित हुआ। अपने जीवन काल में मुक्तिबोध को उल्लेखनीय चिंतक या समीक्षक के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया गया। बाद में मुक्तिबोध के निबंध, आलोचना, डायरी, कहानी आदि प्रकाशित होते गए। अब यह समग्र साहित्य मुक्तिबोध रचनावली की 6 जिल्दों में उपलब्ध है। रचनावली खंड 3 से 6 में चार जिल्दों में उनका गद्य साहित्य है। खंड 6 में उनके पत्रकारिता के दिनों के नाम और छद्म नाम से लिखी गई अनेक टिप्पणियों में से संकलित है। मित्रों को लिखे गए पत्रों का महत्वपूर्ण हिस्सा भी है। मुक्तिबोध के कलाकार, चिंतक और मानवीय व्यक्तित्व को समझने की दृष्टि से उनकी डायरी और पत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। अपने निबंधों में भी कला और साहित्य के महत्वपूर्ण सवालों का सामना करते हुए मुक्तिबोध ने समकालीन साहित्य चिंतन को समृद्ध किया है।

मुक्तिबोध के चिंतन के कई स्तर हैं। डायरी में वे सदैव द्वंद्वात्मक प्रणाली का प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त सिद्धांत, पुनर्मूल्यांकन, सृजनात्मक-चिंतन, खंडन-मंडन आदि उनके चिंतन के रूपगत वर्ग हो सकते हैं। इसके साथ ही सौंदर्यशास्त्र के मूल प्रश्नों के विश्लेषण

में भी उनकी गहरी दिलचस्पी रही है। पुस्तक-समीक्षा आदि के रूप में उनकी व्यावहारिक समीक्षा का महत्वपूर्ण हिस्सा है। संक्षेप में मुक्तिबोध के चिंतन का विन्यास और आयाम बहुमुखी तथा गुंफित है।

मुक्तिबोध की चिंता और अनंत समय के बीच की वैसी चिंता नहीं है जिसमें ईश्वर का मनुष्य के अस्तित्व में हस्तक्षेप होता है। उनकी व्यग्रता का उत्स उनके जन्म और अतीत के बीच सीमित भी नहीं है। मनुष्य की मूलभूत मानवीय चिंता अपने समय के भीतर की चिंता या व्यग्रता होती है। मुक्तिबोध की चिंता अपने समय में मनुष्य के नैतिक और भौतिक प्रश्नों के आसपास बिखरी है। यह आसपास के सामाजिक संबंधों और संदर्भों से जुड़ती हुई मनुष्य के भविष्य के क्षेत्र में भी संक्रमण करती है।

5.8.2 कला : जीवन की पुनर्रचना

मुक्तिबोध कलाकार के स्वानुभूत जीवन और संपन्न जीवनानुभव के आधार पर जीवन के सार रूप में 'सौंदर्य' को परिभाषित करते हैं। अर्थात सौंदर्य के मूल तत्व यथार्थ जीवन के अनुभूत तत्वों से ही आकार ग्रहण करते हैं। मुक्तिबोध ने कला के तीन क्षणों का विशेष रूप से विश्लेषण किया है। अपने अनुभवों को आत्मसात करते हुए सर्जन प्रक्रिया के उन क्षणों से गुजरता है और काव्य का प्रणयन करता है। मुक्तिबोध द्वारा बताये रचना के इन तीन क्षणों का विवेचन हम इकाई चार में कर आये हैं।

व्यक्ति के अनुभव जगत में चलनेवाली प्रक्रिया निरपेक्ष रूप से उस व्यक्ति को समाज विच्छिन्न व्यक्ति नहीं बनाती। दूसरे शब्दों में रचनात्मक अनुभव, जिसे सौंदर्यानुभूति कहेंगे महज वैयक्तिक भूमिका नहीं हो सकती। मुक्तिबोध की स्पष्ट धारणा है कि सौंदर्यानुभूति जीवनानुभवों का संवेदनात्मक कलात्मक रूप है और यह भी है कि "सौंदर्यानुभूति केवल कलाकार की विशेषता नहीं है वरन् वह उन सबकी विशेषता है जिन्हें हम मनुष्य कहते हैं। यह मनुष्यत्व का एक लक्षण है।"

कविता और कला की रचना का संबंध मनुष्य की इसी सौंदर्यानुभूति से है। यही जीवन-जगत का साधारण अनुभव कलाकार या लेखक द्वारा पुनर्रचित होने पर कला रूप में परिणत हो जाता है। मुक्तिबोध ने मानवीय चेतना पर पड़ने वाले प्रभावों और अनुभवों तथा उन्हीं अनुभवों की पुनर्रचना की व्याख्या अनेक बार की है, और तरह-तरह से यही बताने की कोशिश की है कि कला का संबंध जगत के वास्तविक अनुभवों से है। कला को जीवन की पुनर्रचना कहते हुए वे यह भी मानते हैं कि पुनर्रचना कवि-कलाकार का ही नहीं मानव मात्र का गुण है। वयस्क कवि की पुनर्रचना के बारे में वे कहते हैं कि "बाह्य जीवन-जगत के रूप-स्वरूप और गति-प्रगति के जो अपने नियम हैं, वे इस पुनर्रचित जीवन के नहीं। पुनर्रचित जीवन किसी संवेदना की पूर्ति के लिए ही होता है। वह वास्तविक जीवनानुभवों के ठोस आधार पर खड़ा हुआ है और उनके बिना वह असंभव है। इस आधार पर ही संवेदना से परिपूर्ण उद्देश्य एवं कल्पना के विविध रूप गढ़े जाते हैं।"

इस प्रकार कला ही नहीं सृजन प्रक्रिया को भी मुक्तिबोध जीवनानुभवों के ठोस आधार पर स्थित मानते हैं, साथ ही कला की स्वायत्तता को भी स्वीकार करते हैं सापेक्षता की शर्त के साथ।

मुक्तिबोध ने सौंदर्यशास्त्र रचने की आकांक्षा से नहीं, बल्कि अपने रचनात्मक अनुभवों को व्यापक जीवन से जोड़कर पुनर्रचना करने वाले कलाकार के मन के रहस्यलोक को परखने के उद्देश्य से विचार किया है। मुक्तिबोध कहते हैं "सारा मनोमय जीवन कलात्मक नहीं होता। जिन क्षणों में मन निजबद्ध स्थिति में रहता है वह कल्पना द्वारा पुनर्गठित जीवन में तन्मय और तदाकार होकर अपनी निजबद्धता नहीं खो सकता। अर्थात जब वह मुक्ति और बद्धता, तटस्थता और तन्मयता, सामीप्य और दूरी, विशिष्टता और सामान्यता, के मूल द्वंद्वों को, उच्चतर स्तर पर एकीभूत स्थिति में नहीं पहुंच सकता, तब वैसी हालत में उसका मनोमय जीवन कलात्मक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के अकलात्मक मनोमय जीवन में मन को उसके व्यक्तिगत सुख-दुख और राग-द्वेष ही घेरे रहते हैं। फलतः मन को अपने से मुक्ति नहीं, छुटकारा नहीं...दूसरे शब्दों में-मनोमय जीवन के कलात्मक क्षणों में अपने आपसे छुटकारा होकर जीवन का प्रगाढ़ और व्यापक अनुभव होता है।" इसी क्रम में उनका यह कथन भी द्रष्टव्य है- "अभिव्यक्ति प्राप्त होने पर भावपक्ष का सामान्यीकरण हो जाता है।" दरअसल यहां मुक्तिबोध सौंदर्यानुभव और उसके कलात्मक रूप के साधारणीकरण की व्याख्या ही करते प्रतीत होते हैं। किंतु यहां भी उल्लेखनीय यह है कि मुक्तिबोध यथार्थ के अमूर्तिकरण के विपरीत कविता को परिवेश के साथ द्वंद्व-स्थिति में निरूपित करते हैं और विवेकपूर्ण यथार्थ की पड़ताल पर जोर देते हैं। उनकी दृष्टि में समाज-विच्छिन्न सृजन-प्रक्रिया में मूल्यों का अस्तित्व ही नहीं है।

5.8.3 मार्क्सवादी मूल्य

मार्क्सवादी वैचारिक-आधार और मानवीय दृष्टि से पुष्ट होकर मुक्तिबोध का काव्य विकसित होने लगा। सन् 1950 के पहले मुक्तिबोध ने जो कहानियां, डायरी लेख आदि लिखे हैं उनमें भी बाद की उनकी परिपक्व दृष्टि और सोच के ताने-बाने दिखाई पड़ते हैं, कभी अस्पष्ट तो कभी स्पष्ट और कहीं-कहीं धुंधले भी। पर एक चीज जो चमकते कणों-सी दिखाई पड़ती है, वह है उनकी जिंदगी के साथ गहरी संलग्नता और समाज के स्वास्थ्य के प्रति उनका प्रगतिशील जुड़ाव। यहां आकर मुक्तिबोध का चिंतन, भौगोलिक स्थितियों, वर्ग-चेतना, वर्ग-विभाजित-समाज की धारणा और रंगों से यहां भी प्रगाढ़ होता है। उनकी प्रारंभिक कहानियों में ही जटिलता के बावजूद सूने मैदान, संवलायी हवा, उत्पीड़ित मध्यवर्ग, स्त्रियों की व्यक्तित्वहीनता आदि प्रश्नों की गहरी गूंजें हैं।

अपनी प्रारंभिक डायरी में मुक्तिबोध निजी उलझनों से आक्रांत दिखाई देते हैं। उनके शुरू के निबंध या लेख परिचयात्मक हैं, पर उनमें भी ज्ञान और भाव के सामंजस्य के तत्व विद्यमान हैं। मुक्तिबोध व्यक्ति की सामाजिकता और उसकी निजता दोनों ही के हिमायती थे। अपने वयस्क मार्क्सवादी चिंतन के दौर में भी व्यक्ति की सत्ता के प्रति उनकी दृष्टि कभी यांत्रिक नहीं हो पाई। 'वाद' के घेरे में बंधी आलोचना दृष्टि के विरोध में वे कहते हैं- "साहित्य के वाद वैज्ञानिक या दार्शनिक प्रणालियां नहीं हैं, वे केवल साहित्य के दृष्टिकोण हैं।" इसी तरह उनका पचास के पहले का निबंध है- 'आधुनिक हिंदी कविता में यथार्थ' जिसमें मुक्तिबोध छायावाद को प्रतिक्रियाजन्य निरूपित करते हुए उसकी कल्पना शक्ति आदि के पुरानी पड़ जाने की घोषणा करते हैं। इस निबंध में मुक्तिबोध ने बच्चन, दिनकर, नवीन, अज्ञेय आदि की काव्यधारा को 'अत्याधुनिक काव्यधारा' की संज्ञा देकर कहा है कि यह

यथार्थ को 'अत्यंत सहानुभूति से देखती है।' उन्हें बच्चन का यथार्थवाद अत्यंत मानवीय, दिनकर में करुणा, युद्ध-भावावेश, 'नवीन' में ओज स्फूर्ति तथा अज्ञेय में कर्म की अथक ताकत दृष्टिगोचर होती है। मुक्तिबोध निरंतर मार्क्सवाद को आत्मसात करते रहे। मूल्यों के प्रति मुक्तिबोध की अधीरता ही उन्हें हर प्रश्न के संदर्भ में जीवनोन्मुखी बनाती रही। इसीलिए उन्होंने कहा है- "मनुष्य जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं जो साहित्याभिव्यक्ति के अनुपयुक्त हो।" अपने इसी विश्वास के सहारे मुक्तिबोध का आत्म-संघर्ष अनेक रूपों में व्यक्त होता रहा। वे मानव चेतना की प्रक्रिया को प्राणिशास्त्रीय आधार पर विकसित मानकर भी मूलतः मनोवैज्ञानिक मानते हैं। इसलिए मुक्तिबोध जीवन के किसी भी पक्ष की उपेक्षा के विरुद्ध हैं।

यहां यह भी विचारणीय है कि मुक्तिबोध मार्क्सवादी सुदृढ़ आस्था के बावजूद मनोविज्ञान से परहेज नहीं करते। वे उन लोगों से भिन्न हैं जिनकी स्थूल दृष्टि में व्यक्ति केंद्रित होने के कारण मनोविज्ञान और मार्क्सवाद विचार में साथ नहीं चल सकते, हालांकि जीवन में ऐसा करना किसी के बूते की चीज नहीं है। मुक्तिबोध की जीवन संबंधी धारणा कई अर्थों में वैज्ञानिक होते हुए भी किन्हीं प्रणालियों से सीमित नहीं है। इसीलिए वे कहते हैं- "विश्व के प्रत्येक स्पंदन से कलाकार का संबंध है। यह संबंध ही उनके चिंतन के निरंतर विस्तार की बुनियाद है। इसलिए सौंदर्य और कला संबंधी प्रतिमानों की गहरी छानबीन और प्रतिमान निर्मित करने के बाद भी मुक्तिबोध के लिए साहित्य की अंतिम कसौटी जीवन ही है क्योंकि 'साहित्य जीवन से प्रस्तुत होकर जीवन को प्रभावित करता है।'

'समाज और साहित्य' नामक अपने चौंतीस पृष्ठ के लंबे लेख में मुक्तिबोध ने साहित्य के अनेक प्रश्नों को ही नहीं किंतु सामाजिक ढांचे और विकास को भी विस्तार से विवेचित किया है। मूलाधार और बाह्य ढांचे या अधिरचना के आधार पर भी उन्होंने उत्पादन और जीवन-यापन की प्रणालियों को मानव संबंधों का निर्धारिक निरूपित किया है। इसीलिए मुक्तिबोध कहते हैं कि मानव-चेतना, वस्तुतः मानव संबंधों से निर्मित तथा उससे उद्गत चेतना है। इसी तथ्य को मुक्तिबोध ने अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया है- "हमारा सामाजिक व्यक्तित्व हमारी आत्मा है। आत्मा का सारा सारतत्व प्राकृत रूप से सामाजिक है।" दरअसल मुक्तिबोध मार्क्स की इस प्रसिद्ध उक्ति को अपने ढंग से स्पष्ट करते हैं कि "सामाजिक अस्तित्व ही चेतना का निर्धारण करता है।" मुक्तिबोध ने अपने सारे चिंतन के दौरान जीवन की सर्वोपरिता को अनेक ढंग से दोहराया है। कदाचित् यही उनकी आधारभूत पकड़ रही है इस मान्यता के आलोक में मुक्तिबोध व्यक्ति और समाज के बीच विरोध नहीं मानते। विरोध यदि है तो गलत विचारधाराओं का है। व्यक्ति और समाज के विरोध को वे मात्र बौद्धिक विक्षेप मानते हैं, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। श्रीकांत वर्मा को '56 में लिखे पत्र में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "हम लोगों की बुद्धि को अपील करने के बदले उनकी भावनाओं से खिलवाड़ करते हैं...हमें लोगों की बुद्धि को सोचने के लिए प्रेरित करना चाहिए वह भी स्वतंत्र रूप से।" मुक्तिबोध व्यक्ति और समाज के संबंधों के बीच व्यक्ति की सामाजिक चेतना और उसके दायित्वों की सजगता को महत्वपूर्ण समझते थे। फिर भी वे जड़वाद के विरोधी थे। समाजवाद उनकी दृष्टि में जन साधारण की मुक्ति का राजपथ है जिसकी मूल आत्मा जनतांत्रिक है। इस तरह वे मार्क्स की समग्र मुक्ति की धारणा के बेहद निकट थे। इसीलिए उनका मत रहा कि "किसी को भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य खरीदने का अधिकार नहीं हो, न बेचने का। व्यक्ति-स्वातंत्र्य को रहन न रखा जाए, न कोई किसी को रहन रखने दे।" इसका अर्थ

यह नहीं है कि वे पूंजीवादी व्यक्ति स्वातंत्र्य के चरित्र के प्रति अनभिज्ञ थे। वे न केवल व्यक्ति स्वातंत्र्य के पूंजीवादी पाखंड से परिचित थे वरन उसकी साजिश भी ठीक तरह से पहचानते थे। मुक्तिबोध कहते हैं- "अब तक साम्यवाद पर यह आरोप लगाया जाता है कि वहां व्यक्ति स्वतंत्रता का, कलाकार की स्वतंत्र चेतना का हनन होता है। जब हमारे सामने पोलैंड जैसा प्रकाशमान देश भी है, जिसे सामने रखकर यह कहा जा सकता है- लोगों को समझाकर कहा जा सकता है उन्हें बताया जा सकता है साम्यवाद के ऐसे महान देश भी हैं जिनमें स्वतंत्रता के उच्च आदर्श विद्यमान हैं।"

5.8.4 मुक्तिबोध का समाज

समाज के प्रति मुक्तिबोध का दृष्टिकोण केवल आलोचनात्मक नहीं था। समाज उनके लिए केवल शब्द नहीं चतुर्दिक बिखरी ऐसी धड़कती सच्चाई थी जिसके बिना व्यक्ति का कोई अर्थ नहीं बच रहता। मुक्तिबोध के ये शब्द गौरतलब हैं- समाज रेत का ढेर नहीं... समाज एक वृक्ष की भांति है।

भारतीय सामाजिक संरचना के आर्थिक मूल्यों और वर्ग व्यवस्था के प्रश्नों को भी मुक्तिबोध ने उठाया है। सामंतवाद और पूंजीवाद के चरित्र और उनकी शोषण-विधियों के बीच भ्रमित मध्य वर्ग की स्थिति उनके लिए सदैव चिंता का विषय रही। मध्य वर्ग का उन्होंने खाते-पीते वर्ग और उसी वर्ग को गरीब श्रेणी में विभाजित कर अनेक स्थलों पर खाते-पीते मध्य वर्ग की इस तर्क से आलोचना की है कि वह व्यक्तिगत स्वार्थों का शिकार हो जाता है। मध्य वर्ग के गरीब परिवार और उनके युवकों की मानसिकता के उतार-चढ़ाव और द्वंद्व के बीच मुक्तिबोध उस आवश्यक संघर्ष की दिशा भी स्पष्ट करते हैं जिसके अभाव में वे व्यक्तित्वहीन हो उच्च वर्ग की साजिश में समाप्त हो जाते हैं। ये ही वे स्थितियां हैं जिनमें सही वैचारिक समझ जरूरी है। व्यक्तिगत संघर्ष को सामाजिक संघर्ष में रूपांतरित किया जा सकता है। मुक्तिबोध कहते हैं, "ये गरीब श्रेणी अब इस नतीजे पर पहुंच रही है कि उसका पूरा उद्धार सभी गरीब वर्गों की मुक्ति के साथ है।" कविता में भी उन्होंने कहा है-

याद रखो,
कभी अकेले में मुक्ति न मिलती,
यदि वह है तो सबके साथ है।"

मुक्तिबोध साधारण मनुष्य की नैतिकता और उसकी शक्ति में गहरा विश्वास रखते हैं।

5.8.5 नारी विश्लेषण

भारतीय परिवारों, विशेषकर मध्य और निम्न वर्ग के परिवारों में व्याप्त वैचारिक दासता और अहंवाद का ताना-बाना भी मुक्तिबोध की दृष्टि से ओझल नहीं रह पाया है। दरअसल वे सौंदर्यशास्त्र या चिंतन के झरोखे से जीवन को नहीं देखते। परिवार में भी श्रेणियां और वर्ग बने हैं। गरीब घर से आई लड़की की स्थिति सबसे खराब है। मुक्तिबोध के काव्य और चिंतन में भारत की शोषित नारी के प्रति चिंता भी कम नहीं है। मध्ययुगीन स्थिति से लेकर आधुनिक नारी की त्रासदी को मुक्तिबोध ने पहचाना है। 'सामंती वर्ग की वासना-प्रणाली ही को नहीं वे 'सीता' की यातना को भी स्त्री-शोषण के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं- "वर्ग-समाजों में पहले स्त्री की स्वतंत्रता की हत्या की गई। उसे देवी बनाया गया या दासी

अथवा वेश्या। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।" नारी के तथाकथित आदर्शीकरण का अर्थ स्त्री को यातना देने के लाइसेंस से अधिक नहीं है।

मुक्तिबोध की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन के दैनिक संघर्षों और संताप के मार्मिक चित्र हैं। बीमार समाज और संस्कृति के अभिशाप से ग्रस्त कमजोर लोग हैं, मुक्ति के लिए छटपटाती स्त्रियां और भावनाओं के लिए तरसती अवश महिलाएं हैं, विपात्र कहानी संस्कृति ही नहीं, आत्मा के संकट का व्यंग्यात्मक आख्यान है।

5.8.6 ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दृष्टि

मुक्तिबोध परंपरा की ताकत को पहचानते थे। इतिहास को उन्होंने न केवल सांस्कृतिक वरन् समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी परखा है। फिर भी उन्हें असुविधा होती थी कि विद्वानों ने "भारत के सांस्कृतिक इतिहास के क्षेत्र में बहुत अन्वेषण किए हैं। किंतु सामाजिक, आर्थिक विकास के इतिहास के क्षेत्र में अभी तक कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ है। मुक्तिबोध ने मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन की वर्गीय दृष्टि से गहरी छानबीन की और जातिवाद तथा सामंतवाद के दबावों के तहत निम्नवर्गीय भक्ति मार्ग के जनवादी संदेश के दांत उखाड़ लिए जाने का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। भक्ति-आंदोलन की जड़ों में वे साधारण जन की सांस्कृतिक आकांक्षाओं के बीच मनुष्य सत्य की प्रतिष्ठा की गुहार सुनते हैं। धार्मिक दासता ने जाति विरोधी चेतना को कुचल दिया। मुक्तिबोध जहां भक्ति आंदोलन के प्रसंग में शुक्लजी के मुस्लिम विरोधी अभिप्राय से असहमत हैं, वहीं वे हजारी प्रसाद जी की इस मान्यता से सहमत हैं कि भक्ति-आंदोलन की जड़ें गहरी थीं और उनका संबंध जनता के कष्ट से था। प्रगतिवादी क्षेत्रों में भी तुलसीदास की स्वीकृति से मुक्तिबोध असहमत थे। उनकी राय में शुक्लजी की 'वर्णाश्रयधर्मी जातिवाद ग्रस्त सामाजिकता' थी जिसे जनवाद में ऐसे घोल दिया गया मानो शुक्लजी सच्ची जनवादी सामाजिकता के पक्षपाती हों। मुक्तिबोध के लिए साहित्य की पहचान के प्रसंग में जहां सांस्कृतिक धरातल महत्वपूर्ण था वहीं वे गतिशील सामाजिक शक्तियों को भी अनदेखा नहीं रहने देते थे। मुक्तिबोध के पास इतिहास का सांस्कृतिक एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवादी आधार था। इसी आधार के बूते उन्होंने साहित्य और समाज की परंपरा का विश्लेषण किया है।

5.8.7 वैज्ञानिक चेतना

विज्ञान के प्रति उनकी जिज्ञासा और मनुष्य की नियति के साथ विज्ञान की संबद्धता मुक्तिबोध के लिए दिलचस्प विषय था। मार्क्सवाद के संदर्भ में तो वे वैज्ञानिक दृष्टि को महत्व देते थे पर न्यूटन, आइंस्टाइन आदि वैज्ञानिकों का उल्लेख भी करते हैं। उन्होंने आधुनिकता बोध को विज्ञान-टेक्नालाजी के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर परखा है। औद्योगीकरण को मुक्तिबोध जन कष्ट-निवारण की प्रक्रिया के रूप में देखते थे। विज्ञान के नये आविष्कार और निर्माण कार्य को आशा और उत्साहवर्धक घटना मानते थे। विज्ञान पर विचार करते हुए उनकी दृष्टि में इस विशालकाय देश के करोड़ों लोगों की वर्तमान स्थिति और भविष्य की चिंता रहती थी। विज्ञान और टेक्नालॉजी के कारण पैदा हुई असंतुलित संवेगात्मक स्थिति से वे परिचित थे और इसलिए नई जीवन दृष्टि के हिमायती थे। इस नई जीवन दृष्टि के लिए वे व्यक्ति और जीवन के रचनात्मक मूल्यों पर बेहद जोर देते थे। वे अपनी वैज्ञानिक मानववाद की धारणा की रोशनी

में अमूर्त मानवतावाद के भावात्मक प्रतिमानों के अंधेरे को जानते थे। मुक्तिबोध मनुष्य के वास्तविक सुख (भौतिक संघर्ष), वास्तविक आशावाद (वैज्ञानिक मानववाद) और वास्तविक प्रगति (यथार्थ जीवन) के संदर्भों में सोचते थे। इसीलिए उनकी दृष्टि मानव जीवन की कल्पित आवश्यकताओं के बदले रोजमर्रा की वास्तविक आवश्यकताओं पर केंद्रित रही और इसी परिपेक्ष्य में उन्होंने संस्कृति, इतिहास, विज्ञान और मानववाद को परखा।

'काव्य एक सांस्कृतिक प्रक्रिया' निबंध में आधुनिक भावबोध का पक्ष लेते हुए कहते हैं- "लेकिन, वस्तुतः आधुनिक भावबोध क्या है? मैं अपनी खुद की जिंदगी और दोस्तों की जिंदगी के तजुर्बे से बता सकता हूं कि अन्याय के खिलाफ आवाज बुलंद करना आधुनिक भावबोध के अंतर्गत है। आधुनिक भावबोध के अंतर्गत यह भी है कि मानवता के भविष्य निर्माण के संघर्ष में हम भी अधिक दत्तचित्त हों तथा हम वर्तमान परिस्थिति को सुधारें, नैतिक ह्रास को थामें, उत्पीड़ित मनुष्य के साथ एकात्म होकर उसकी मुक्ति की उपाय योजना करें।

कुल मिलाकर मुक्तिबोध के चिंतन में समकालीन भारतीय जीवन-व्यवस्था की जड़ें हमेशा गहरे स्तर पर मौजूद रहीं। उन्होंने अपने साहित्य में मनोवैज्ञानिक आधार पर अनुभव को कलात्मक अनुभव में परिणित किया है।

5.9 डॉ. नामवर सिंह

हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में नामवर सिंह एक सशक्त हस्ताक्षर के रूप में उभर कर आए हैं। 'कविता के नए प्रतिमान' नामक पुस्तक के कारण नामवर सिंह की हिंदी समीक्षा में विशेष पहचान बनी है।

5.9.1 नयी सोच, उदार दृष्टि

मुक्तिबोध प्रगतिवादी आलोचकों से जिस मांग को जोर-शोर से करते रहे हैं कि उन्हें नई कविता तथा नये साहित्य का व्यापक तथा उदार दृष्टि से विवेचित-विश्लेषित करना चाहिए- वह कार्य नामवर सिंह के द्वारा पूर्ण किया गया। नामवर सिंह ने प्राचीन काव्य में 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', द्विवेदी जी के साथ 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' का संपादन एवं तेर-सोतेही के प्रख्यात भाषा शास्त्रीय ग्रंथ 'प्राचीन राजस्थानी' का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया है। डॉ. नामवर सिंह का 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' नामक शोध प्रबंध काफी प्रसिद्ध है। डॉ. नामवर सिंह जी ने आलोचना के क्षेत्र में 'इतिहास और आलोचना', 'छायावाद', 'कहानी - नयी कहानी' और 'कविता के नए प्रतिमान' नामक पुस्तकों पर काम किया। डॉ. सिंह हिंदी साहित्य के इतिहास की ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से पुनर्लेखन की मांग को आरंभ से ही रेखांकित करते रहे हैं। मार्क्सवादी पद्धति से 'छायावाद' नामक पुस्तक में उनके द्वारा गहन विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है।

5.9.2 छायावाद का सामाजिक सत्य

डॉ. नामवर सिंह ने 'छायावाद' नामक पुस्तक की भूमिका में कहा है कि 'यह निबंध छायावाद की काव्यगत विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए छायावाद में निहित सामाजिक सत्य का उद्घाटन

करने के लिए लिखा गया है।' सामाजिक सत्य के उद्घाटन के लिए ही वे 'छायावादी स्वानुभूति' तथा भक्तों के आत्म निवेदन की भिन्नता ममता को खोजते हैं तथा स्वानुभूति, कल्पना, प्रकृति का मानवीकरण, अप्रस्तुत विधान आदि को कार्य कारण संबंध' में व्याख्यान विश्लेषित करते हैं। वे इसमें 'सामाजिक पृष्ठभूमि' नामक आरोपित अध्याय न लिखने के कारण भी देते हैं, "सामाजिक सत्य कविता से खोज निकालने की चीज है, ऊपर से आरोपित करने की नहीं।" छायावादी चिंतन को 'सामाजिक सत्य' के साथ जोड़कर डॉ. सिंह कहते हैं कि "छायावादी काव्य के द्वारा सौंदर्य व्यक्ति की स्वाधीनता की भावना से उत्पन्न हुआ है और यह स्वाधीनता भी व्यक्ति के माध्यम से संपूर्ण समाज की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति है।" छायावाद में राष्ट्रीय जागरण का दर्शन कराते हुए वे कहते हैं कि "छायावाद की कविताएं अपने पीछे एक विशाल परिदृश्य का पता देती हैं। छायावाद में जो सार्वभौम और शाश्वत तत्व दिखाई पड़ते हैं, वे सौंदर्यशास्त्र के किसी अलौकिक नियम से नहीं आए हैं अपितु उनके ऐतिहासिक कार्यों के ही पुरस्कार हैं।"

5.9.3 सैद्धांतिक आलोचना

डॉ. नामवर सिंह की 'इतिहास एवं आलोचना' नामक पुस्तक में अनेक निबंध सैद्धांतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। मार्क्सवादी दृष्टि से 'व्यापकता और गहराई', 'कलात्मक सौंदर्य का आधार', 'सामाजिक संकट और साहित्य', 'प्रगतिवादी वस्तु और प्रयोगवादी रूप 'भ्रम और वास्तविकता', 'आधुनिक छंदों का विकास' छंद के कुछ नये प्रयोग', 'नई कविता की भाषा', 'नई कविता में लोक भाषा का प्रभाव', 'हिंदी साहित्य के इतिहास में लोक साहित्य का स्थान', आदि नवीन आलोचनाएं अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

'व्यापक तथा प्रथम गहराई' नामक निबंध में प्रथम वाक्य के साथ डॉ. नामवर सिंह कहते हैं कि "अक्सर देखते हैं कि पानी के सोते की तरह लेखक साफ होता है तो उथला कहा जाता है और गहला होता है तो गहरा।"

जो आलोचक व्यक्तिवादी मनोविश्लेषण शास्त्र के अवचेतन-सिद्धांत से साहित्य का मूल्यांकन करते हैं उन पर डॉ. नामवर सिंह ने 'व्यापकता तथा गहराई' में प्रबल आक्रमण किया है। क्योंकि इन व्यक्तिवादियों को पता नहीं है कि "साहित्य व्यक्ति से शुरू होकर अनेक अंतर्वैयक्तिक सामाजिक संबंधों में चला जाता है।"

'कविता के नये प्रतिमान' में डॉ. सिंह ने प्राचीन तथा नवीन सर्जनात्मकता का मूल्यांकन करने के लिए और न्याय दिलाने के लिए लक्ष्मीकांत वर्मा की पुस्तक 'नई कविता के प्रतिमान' नामक पुस्तक से दिशा-दृष्टि में अलग हटते हुए देश-विदेश के सिद्धांतों से नया काव्य-शास्त्र निर्मित किया है। जब नयी कविता का शास्त्र बना तो पहली पुस्तक श्री लक्ष्मी कांत वर्मा की 'नई कविता के प्रतिमान' लिखी गई। दृष्टि प्रतिगामिता के कारण इस पुस्तक को डॉ. सिंह ने कहा "पहला दुर्भाग्यपूर्ण प्रयास लक्ष्मीकांत वर्मा का ग्रंथ है। नई कविता के प्रतिमान के बारे में डॉ. रामविलास शर्मा का कहना है कि डॉ. नामवर सिंह ने 'कविता के नये प्रतिमान' पुस्तक को इस उद्देश्य से लिखा "समूची नई कविता को ठीक-ठीक देखने के लिए न केवल नई कविता के प्रतिमान की जरूरत है, बल्कि कविता के नये प्रतिमान को ठीक-ठीक देखने के लिए नई कविता के प्रतिमान जरूरत है।" अत: सभी कालों की कविता

के काव्यबोध को परखने के लिए डॉ. सिंह ने 'कविता के नये प्रतिमान' की रचना की है। इस प्रकार 'कविता के नये प्रतिमान' में कविता के लगभग सभी पक्षों पर नामवर सिंह ने विचार किया है। आलोचक की भूमिका के विषय में वे लिखते हैं कि–

"आलोचक की वस्तुनिष्ठता इस बात में है कि वह किसी कृति के मूल्यांकन की प्रक्रिया में उसके रूप की जो पुनः सृष्टि अपने लिए करता है वह यथासंभव अधिक से अधिक मूल कृति के निकट हो। इस प्रयास में एकमात्र अवलंब उस कविता की भाषा है। उस कविता से संबंधित चाहे जितनी बाहरी सूचनाएं उसे उपलब्ध हों किंतु 'खेल के नियम' के मुताबिक आलोचक उन सूचनाओं से सर्वथा अनभिज्ञ है।"

डॉ. नामवर सिंह की 'दूसरी परंपरा की खोज' साहित्य विधा की दृष्टि से एक सर्वथा नवीन एवं मौलिक रचना मानी जाती है। इसमें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पर विचार के बहाने भारतीय संस्कृति और साहित्य की लोकोन्मुखी क्रांतिकारी परंपरा को खोजने का सर्जनात्मक प्रयास किया गया है जो कबीर के विद्रोह और सूर के माधुर्य के बीच अर्थपूर्ण अविरोध देखने में सक्षम हैं। डॉ. परमानंद श्रीवास्तव द्वारा इस संबंध में कहा गया है कि- "नामवर सिंह की आलोचना की सार्थकता इसलिए है कि वह तीखे वैचारिक संघर्ष और साहस के एक तरह की रचनाशीलता और प्रखर जीवंत संवादोत्मकता का साक्ष्य भी है। विचारधारावादी आलोचक और भी हैं पर वे अक्सर उस ढंग की सर्जनात्मक विकलता से वंचित हैं जो नामवर सिंह की आलोचना का सहज गुण है। केवल स्थापनाएं करने वाली या परिभाषाएं देने वाली आलोचना ही आलोचना को दर्शन बना सकती है। सर्जनात्मक साहित्य नहीं। नामवर सिंह की आलोचना सर्जनात्मक साहित्य है।"

5.9.4 रस विवेचन

डॉ. नामवर सिंह ने 'रस को प्रतिमान की प्रसंगतानुकूलता' पर बहस को केंद्रित किया है। उनके अनुसार "प्रायः सभी नये लेखक इस बात से एकमत दिखाई पड़ते हैं कि नये प्रतिमानों का संबंध रस से नहीं हो सकता।" डॉ. नामवर सिंह यहां अनुभूति की प्रामाणिकता पर आ जाते हैं। यहीं उनकी सीधी टक्कर नयी कविता पर भी एक सिद्धांत का शास्त्र पनपाने वाले डॉ. नगेंद्र से होती है। डॉ. नगेंद्र सार्वभौम काव्य-सिद्धांत बनाने में प्रवृत्त रहे हैं, उनका डॉ. नामवर सिंह ने जोरदार विरोध किया है। वे मानते हैं 'रस सिद्धांत' में डॉ. नगेंद्र ने 'अर्थ मीमांसा' तथा 'ध्वनि' से निपट विरक्ति रखते हुए एक निराधार स्थापना की है।

5.9.5 काव्य भाषा का स्वरूप

'काव्य भाषा तथा सृजनशीलता' की रूपात्मक समीक्षा या नई समीक्षा के प्रभाव से नई कविता में यह बहुचर्चित रहा है। मार्क्सवादी खेमे से बाहर के रचनाकारों तथा आलोचकों ने इस काव्य-प्रतिमान का जोरदार समर्थन किया है। इस परंपरा को अज्ञेय ने ही शुरू किया। सर्वप्रथम उन्होंने 'काव्य-भाषा' को एक प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसे डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'भाषा तथा संवेदना' नामक पुस्तक में सैद्धांतिक स्वीकृति दी है। इसी प्रतिमान को डॉ. देवराज ने 'प्रतिक्रियाएं' नामक अपनी पुस्तक में 'काव्य भाषा' को 'संदर्भवाद' कहा है। इन्होंने डॉ. चतुर्वेदी के मत का खंडन करते हुए उसे 'संदर्भपरक घपला' कहा है। पश्चिम के नये आलोचक रेन्सम आदि काव्य-भाषा या कविता के रूप

पक्ष को प्रधानता देकर कथ्य-पक्ष या वस्तु पक्ष को नकारने पर तुले रहे हैं। इसी दृष्टि को स्वीकृति देकर नये प्रयोगवादियों ने कहा, "कवि की दृष्टि में भाषा कवि के प्रयोग का साधन है और इस प्रकार 'कविता भाषा का प्रयोग' है।" डॉ. नामवर सिंह यहां रूपवादी खतरा महसूस करके भी 'काव्य-भाषा' के रूपवादी समर्थकों के साथ हो जाते हैं। उन पर पश्चिमी रूपवादी आलोचना का प्रभाव है।

'काव्य बिंब और सपाटबयानी' नामक निबंध में बिंब को काव्य प्रतिमान मानने वाले पश्चिमी आलोचकों की चर्चा है। यहां वे हिंदी समीक्षा में आचार्य शुक्ल जी के 'बिंब ग्रहण' से शुरू करते हैं, पल्लव की भूमिका में घोषित 'चित्र भाषा की आवश्यकता' के साथ निराला जी के 'विराट चित्रों' की दृष्टि का संकेत देते हैं। वे डॉ. नगेंद्र की 'काव्य बिंब' दृष्टि का खंडन करते हुए डॉ. केदारनाथ सिंह के साथ हो जाते हैं। यहीं पर डॉ. नामवर सिंह पर एफ.आर. लीविस की दृष्टि का प्रभाव है। बिंबों में लीविस का काव्य-मूल्य के रूप में 'गतिमयता का सिद्धांत' इन्हें पसंद है। धीरे-धीरे डॉ. सिंह टी.एस. इलियट के बिंब प्रतीकवादी सिद्धांत के प्रति उन्मुख लगते हैं।

5.9.6 आवयविक सिद्धांत का वस्तुनिष्ठ रूप

'काव्य संरचना : प्रगीतात्मक और नाटकीय' में डॉ. सिंह ने निराला जी के 'संरचना' से संबंधित वक्तव्य को उद्धृत करने के बाद प्राणिशास्त्रीय दृष्टि के आवयविक सिद्धांत को स्वीकृति दी है। ध्यातव्य है कि यह सिद्धांत स्वच्छंदतावादियों तथा मार्क्सवादियों को पश्चिम में समान रूप से मान्य रहा है। स्वच्छंदतावादी इसे आत्मनिष्ठ दृष्टि से और मार्क्सवादी वस्तुवादी दृष्टि से ग्रहण करने का आग्रह रखते हैं। डॉ. नामवर सिंह ने आवयविक सिद्धांत को वस्तुनिष्ठ रूप में ग्रहण करने का मार्ग निर्दिष्ट भी किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि "भावबोध की यह तीव्रता संदर्भ के जिस प्रभावशाली चित्र से संबद्ध है वह स्वयं मुक्तिबोध के शब्दों में 'भाव का वस्तुमूलक आकलन' है। इसे ही आचार्य शुक्ल ने 'विभावन व्यापार' की संज्ञा दी है और टी.एस. इलियट ने 'आब्जेक्टिव को रिलेटिव की'।"

निष्कर्षत: डॉ. नामवर सिंह में आचार्य शुक्ल के साथ मुक्तिबोध, आई.ए. रिचर्ड्स, टी.एस. इलियट तथा डॉ. एफ.आर. लीविस एक साथ बोलते दृष्टिगत होते हैं।

गतिविधि

आचार्य रामचंद्र शुक्ल एवं डॉ. नगेंद्र की समीक्षा पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

क्या आप जानते हैं?

किसी कृति की निंदा या प्रशंसा करना आलोचना नहीं कहलाती बल्कि कृति या विचारधारा का विश्लेषण करने के लिए आलोचना में पद्धति एवं प्रणाली महत्वपूर्ण होती है।

5.10 सारांश

आचार्य शुक्ल के आलोचना के क्षेत्र में आने के समय हिंदी साहित्य बढ़ने के साथ संस्कृत, बांग्ला और अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव ग्रहण कर रहा था। अंग्रेजी समालोचकों के ग्रंथों का भारतीय महाविद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन अबाध गति से होने लगा था। सांस्कृतिक पुनरुत्थान के फलस्वरूप गुरुकुलों एवं पाठशालाओं में संस्कृत भाषा एवं साहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन पर बल दिया जाने लगा था। इस प्रकार इस युग में उत्पन्न हुए समालोचक अंग्रेजी और संस्कृत के समान प्रभाव से ग्रस्त थे। इस युग के समालोचकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने कृति की गहराई में प्रविष्ट होकर कृतिकार के सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया। आचार्य शुक्ल ने काव्य में लोकमंगल की भावना को महत्व देने के साथ ही अपनी विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली के माध्यम से व्याख्यात्मक आलोचना की स्थापना भी की।

आचार्य शुक्ल युग-निर्माता आलोचक थे। इन्होंने आलोचना साहित्य को नवीन दिशा प्रदान की। परंपरा से चली आ रही आलोचना पद्धतियों की त्रुटियों का निराकरण कर उन्हें निर्दोष स्वरूप प्रदान कर साहित्य की महती सेवा की तथा आलोचना-साहित्य में एक युग का सूत्रपात किया। साहित्य-समालोचन और निबंध साहित्य में उनके समान कोई मेधावी लेखक नहीं हुआ। यही कारण है कि उनका साहित्य सेवाकाल समालोचना साहित्य के विकास में 'शुक्ल युग' के नाम से प्रख्यात है। शुक्ल जी द्वारा उपस्थित 'चिंतनपरक विवेचन' के काव्यात्मवाद का आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। शुक्ल जी ने एक ओर जहां काव्य के सैद्धांतिक पक्ष का विवेचन कर अपनी तथ्यग्राहिणी प्रज्ञा का परिचय दिया है वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं द्वारा भी समालोचना का बहुत उच्च और व्यापक प्रतिमान स्थापित किया।

उन्होंने रसवादी परंपरा को समृद्ध किया एवं परवर्ती चिंतकों को चिंतन की नई धारा और दिशा प्रदान की। रस-मीमांसा जैसे गंभीर विषय को उन्होंने नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चिंतन का विषय बनाया है। इसी प्रकार आधुनिक युग की अनेकानेक प्रवृत्तियों का विश्लेषण उन्होंने अपने पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व की चेतना से जिस प्रणाली में किया है, वह हिंदी समालोचना का आधारभूत प्रतिमान बन गई। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धांतों का व्यापक और गहन अध्ययन किया तथा अपनी प्रतिभा के बल पर मौलिक उद्भावनाएं प्रस्तुत कीं। उन्होंने समालोचना--साहित्य में एक अद्भुत क्रांति और युग-प्रवर्तन किया। उनका आविर्भाव-काल भारतेंदु युग का अवसान और द्विवेदी युग का प्रारंभ था, किंतु वे अपने सम्मुख प्रवाहित युग-धारा के ही अनुवर्ती नहीं रहे, अपितु वे उसे बहुत दूर तक आगे ले गए। उन्होंने एक सफल समालोचक के रूप में अपने युग की प्रवृत्तियों का सम्यक् आलोचन किया। उन्होंने रसवाद की मीमांसा भारतीय और पश्चिमी विचारधारा का सम्यक् सामंजस्य करते हुए की और वे अलंकारवाद की रूढ़िग्रस्तता को दूर कर उसे जीवन-सौंदर्य का पर्याय बना कर ग्रहण सके।

उन्होंने अपनी आलोचनाओं द्वारा साहित्य को यह संदेश दिया कि वह अपने सर्वांगीण विकास की ओर उन्मुख होकर चले। उन्होंने उन आलोचकों पर कठोर व्यंग्य किया जो समीक्षा

के एक ही अंग अथवा उसकी संकीर्ण परिधि में सिमट कर रह जाते हैं तथा जिनमें अधिकतर लोगों में अपने पक्ष के समर्थन का दुराग्रह प्रबल होता है। उन्होंने ऐसी आलोचनाओं को किसी भी दृष्टि से साहित्य की वृद्धि के लिए उपादेय नहीं बताया। शुक्ल जी की उच्च काव्य भावना का ही परिणाम था कि समालोचना के क्षेत्र में उनकी विचारधारा एक निश्चित मानदंड बना सकी और वे आलोचना के नवीन रूप और प्रकारों को प्रतिष्ठित कर सके।

प्रगतिवादी आलोचना सिद्धांतों की सैद्धांतिक दृष्टि को व्यापक स्तर पर स्पष्ट करने में शिवदान सिंह चौहान का महत्वपूर्ण स्थान है। मार्क्सवाद में उनकी गहरी आस्था होने के कारण वे कहते हैं कि "मार्क्सवाद को स्वीकार करना एक प्रगतिवादी के लिए आवश्यक है।" उनकी मूल आलोचना-दृष्टि को निर्मित करने में मार्क्स तथा काडवेल का बहुत प्रभाव रहा है। शिवदान सिंह चौहान फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र तथा सार्त्र के अस्तित्ववाद की नकल भारतीय समीक्षा में होते हुए देखकर वे अत्यंत दुखी होते हैं– इसका कारण ये कि लेखकों तथा आलोचकों ने उनकी नकल करके आस्था, कुंठा, मानवद्रोह और समाज-निरपेक्ष को साहित्यिक कृतित्व का लक्ष्य बना लिया है। 'कला कला के लिए' रूपवादी सिद्धांत का वे घोर प्रतिक्रियावादी दृष्टि अपनाने के कारण खंडन करते हैं। उनकी दृष्टि में प्रतीकवाद, प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद चेतना, प्रवाहवाद आदि मानव को भटकाने वाले जीवन विरोधी सिद्धांत हैं। अपने तीखे स्वर में शिवदान सिंह ने 'पश्चिमी प्रयोगवाद' की आलोचना करते हुए उसे पूंजीवाद की दलाली का दर्शन और आई.ए. रिचर्ड्स, टी.एस. इलियट, जान क्रोरेन्सस, माडेन आदि को उसका प्रचारक बताया। रूसी विचारक वेलिन्स्की और टॉलस्टाय द्वारा रचित यथार्थवादी आलोचना सिद्धांतों ने उन्हें बेहद प्रभावित किया। वे कलाकृति को समग्र जीवन का वैविध्यपूर्ण और मूर्त प्रतिबिंब मानते हैं इसलिए उनके अनुसार काव्य में मानव-संबंधों, कार्यों, भावों, विचारों, नैतिक मान्यताओं, सामाजिक और व्यक्तिगत संघर्षों और समस्याओं की मूर्त और सजीव झांकी होती है। प्रयोगवादी कवियों की निंदा करते हुए उन्होंने उनकी विचारधारा को आधुनिक रीतिवाद की तरह भटकाव की संज्ञा देते हुए सलाह दी कि ऐसी स्थिति में रचना की 'साहित्यिकता', 'सामाजिकता', 'वास्तविकता' को परखने के लिए मार्क्सवादी-सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि को ग्रहण करना चाहिए। शिवदान सिंह चौहान की समीक्षा में भारतीय तथा पाश्चात्य प्रगतिशील काव्यों का समन्वय दिखाई देता है।

नंददुलारे वाजपेयी आधुनिक काल के स्वच्छंदवादी (छायावादी) युग के समीक्षकों में एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। उन्होंने आधुनिक साहित्य के साथ-साथ संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों पर भी समीक्षात्मक दृष्टि डाली है। आचार्य नंददुलारे काव्यात्मा के रूप में 'रस' को स्वीकार करते हैं। वे मानव हृदय में उत्पन्न होने वाले सौंदर्य संवेदन को 'रस' कहते हैं। भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद, शंकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक के भुक्तिवाद एवं अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद इन चारों वादों को आधुनिक मनोवैज्ञानिक या सौंदर्यशास्त्र संबंधी दृष्टि से देखने की भी आवश्यकता है। 'संयोग' और 'निष्पत्ति' का अर्थ समझाने के लिए चार आचार्यों भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनव ने अपनी-अपनी व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। आचार्य वाजपेयी ने इन चारों व्याख्याओं की विस्तार से समीक्षा की और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ये चारों मत क्रमशः काव्य की प्रेषणीयता और काव्य-रस के आस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं और उनमें से प्रत्येक मत समस्या के एक-एक पहलू को लेकर आगे बढ़ता है।

वाजपेयी जी का छायावाद विषयक विवेचन तो अत्यंत प्रौढ़ और व्यापक धरातल पर अभिव्यक्त है। उनके पूर्व जिन आचार्यों ने छायावाद की विवेचना की थी, उसमें उसके प्रति आक्रोश का स्वर ही उदात्त था, जिसका परिणाम यह हुआ कि छायावाद का सौंदर्य-पक्ष उनमें उद्घाटित नहीं हो सका। उस युग में छायावादी कवियों ने स्वयं उक्त वाद के विषय में अपनी धारणाएं व्यक्त कीं, किंतु उनके समर्थन की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही थी। वाजपेयी जी का छायावाद-विषयक विश्लेषण ऐसे समय में अत्यंत उपयुक्त सिद्ध हुआ। उनके मतानुसार व्यक्ति या समाज के बीच चलने वाले स्वाभाविक आदान-प्रदान को सचेत होकर ग्रहण करना काव्य-साहित्य को प्रगतिशील ही नहीं बनाता, अपितु उसे उत्थान भी प्रदान करता है। इस प्रकार उन्होंने प्रगतिशील साहित्य के लिए किन्हीं विशेष प्रकार की जीवन आस्थाओं अथवा बंधी-बंधाई परंपराओं में चलना अहितकर माना है, क्योंकि ऐसा करने से हम साहित्य के उस उदात्त लक्ष्य की अवहेलना कर देते हैं जिसके कारण उसे शाश्वत गौरव प्राप्त होता है। उनका स्पष्ट कहना है कि 'बाह्य संघर्ष की अपेक्षा बौद्धिक और मानसिक संघर्ष का प्रगतिशील साहित्य में अधिक महत्व है।' उन्होंने प्रगतिशील साहित्य को समय-सापेक्ष निर्दिष्ट कर ऐसे तीन सूत्रों की आयोजना की है जिसके द्वारा प्रगतिशील साहित्य का स्वरूप अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। वाजपेयी जी का प्रयोगवाद-विषयक विवेचन अत्यंत व्यापक और युक्ति संगत है। प्रयोगवाद को उन्होंने 'बैठे-ठाले का धंधा' बताते हुए कहा कि प्रयोक्ताओं के पास न तो काव्य-संबंधी कोई कौशल था और न किसी प्रकार की कथनीय वस्तु थी। वाजपेयी जी मुख्यत: आधुनिक साहित्य के समालोचक हैं, अत: उन्होंने आधुनिक साहित्यकारों के साथ उन कृतियों का भी विशेष रूप से मूल्यांकन और समीक्षण किया है जो आधुनिक युग में महत्वपूर्ण समझी जाती है।

वाजपेयी जी की समालोचना में सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों का मेल है। आचार्य शुक्ल की भांति वे भी काव्य-कला और जीवन दर्शन के विषय में अपनी निश्चित धारणा रखते हैं और अपने एक निर्धारित प्रतिमान से ही काव्यकारों और उनकी कृतियों का परीक्षण करते हैं। उन्होंने कला को रूप और अरूप दोनों के चित्रण में समर्थ बतलाकर उसे श्री शोभा-संपन्न नारी-रूप में देखा है जिसके मोहिनी वेश में भावों की प्रतिभा सौंदर्य-राशि से अलंकृत होकर प्रकट होती है। वाजपेयी जी ने पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह की भावना से दूर रह कर एक निर्णायक समीक्षक के रूप में समालोच्य साहित्यकारों के संबंध में अपनी विवेकपूर्ण सम्मति निस्संकोच भाव से प्रकट की है। वे शुक्ल-युग की नैतिकता और मर्यादा में ही काव्य-समीक्षा का व्यापक रूप न देख कर उसे सौंदर्यमूलक स्वच्छंदतावादी दृष्टि से विवेचित करना अच्छा समझते हैं। वाजपेयी जी का हिंदी समीक्षकों की श्रेणी में विशेष महत्वपूर्ण स्थान है।

हिंदी आलोचना में स्वच्छंतावादी आलोचकों में डॉ. नगेंद्र का नाम आता है। उनकी आलोचना पद्धति प्रमुख विशेषता है– भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रों का समन्वय। उनकी व्यावहारिक समालोचना का क्षेत्र मुख्यत: आधुनिक हिंदी पर ही है। डॉ. नगेंद्र ने हिंदी-आलोचना को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों दृष्टियों से संवर्द्धित किया है। वे रसवादी आलोचक हैं, 'रस सिद्धांत' में रस की सांगोपांग विवेचना की है। डॉ. नगेंद्र के सुमित्रानंदन पंत, साकेत एक अध्ययन, विचार और अनुभूति, विचार और विवेचन तथा विचार और विश्लेषण प्रमुख समीक्षात्मक निबंध संग्रह हैं जिनमें सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों समालोचनाओं के उदाहरण हैं।

वे छायावादी काव्य के प्रति शंकालु और शास्त्र को लेकर आश्वस्त रहे हैं। 'छायावाद की परिभाषा' शीर्षक अपने आरंभिक और प्रसिद्ध निबंध में वे लिखते हैं, "यह तो स्पष्ट ही है कि छायावाद का काव्य प्रथम श्रेणी का विश्व-काव्य नहीं है- कृत्रा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती।" अपने दूसरे प्रिय क्षेत्र रीति काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवेचन आरंभ करते हुए इस काल की कविता को वे 'क्षयग्रस्त' बताते हैं छायावाद की दूसरी महत्वपूर्ण और सर्वाधिक प्रचलित परिभाषा में उसे स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह कहा गया है। इस परिभाषा को सूत्रबद्ध कर सर्वसुलभ बनाने का श्रेय डॉ. नगेंद्र को है। अपनी पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत' में उन्होंने कहा था- स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है।

प्रगतिवादी विचारधारा पर बात करते हुए डॉ. नगेंद्र कहते हैं कि आज का प्रगतिवादी आलोचक जिन मंत्रणाओं से ग्रस्त है उनमें मूल प्रवृत्ति द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की है। डॉ. नगेंद्र ने पंत को हिंदी में प्रगतिवाद का सर्वप्रथम लेखक कह कर तदंतर यशपाल, नवीन, दिनकर और अंचल आदि को समाहित किया है। प्रयोगवादी काव्य को नगेंद्र ने अत्यंत दुरुह बताया है। उनका मानना है कि प्रयोगवादी भावतत्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक स्थान पर बुद्धिगत संबंध हैं।

डॉ. नगेंद्र ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर भी विस्तार से विचार किया है। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यानुभूति का सूक्ष्म विवेचन है और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में कवि की मन:स्थिति तथा काव्य निर्माण में प्रेरणा देने वाले सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण है। इसलिए 'विचार एवं विश्लेषण' में उनका कहना है कि "इस प्रकार में दोनों एक-दूसरे के विरोधी न होकर सहायक या पूरक हैं। इनके तुलनात्मक अध्ययन की सबसे बड़ी उपयोगिता यह हो सकती है कि इनका समन्वय करके पूर्णतर काव्यशास्त्र का निर्माण किया जाए। जिसमें सृष्टा और भोक्ता के पक्षों का व्यापक विवेचन हो।" रस को डॉ. नगेंद्र ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचित किया है। रस विवेचन पर उनकी 'रस सिद्धांत' पुस्तक अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। रीति-काव्य के वैशिष्ट्य को रेखांकित करने में उनके अध्ययन का ऐतिहासिक महत्व है। नगेंद्र शुद्धतवादी हैं। वे साहित्य को साहित्येतर विषयों से मुक्त रखना चाहते हैं। साहित्यिक स्तर की रक्षा के लिए पहली आवश्यकता यह है कि साहित्य में राजनीतिक मूल्यों का प्रवेश निषिद्ध रहना चाहिए। राजनीति से अभिप्राय है भेदनीति। जो सांसारिक या भौतिक लाभालाभ पर आश्रित रहती है।

डॉ. नगेंद्र ने हिंदी-आलोचना को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों दृष्टियों से संवर्द्धित किया है। वे रसवादी आलोचक हैं उन्होंने 'रस-सिद्धांत' में रस की सांगोपांग विवेचना की। उनकी व्यावहारिक आलोचना तथा सैद्धांतिक आलोचना में प्रीतिकर एकसूत्रता दिखायी पड़ती है। उन्होंने पूर्व और पश्चिम के महत्वपूर्ण काव्यशास्त्रों का हिंदी-अनुवाद करने-कराने में सबसे अधिक योग दिया है। इस प्रकार आपने जाना कि आधुनिक हिंदी आलोचना को समृद्ध करने में डॉ. नगेंद्र का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी के लब्धप्रतिष्ठित लेखक व समालोचक रहे हैं। उनकी समीक्षा दृष्टि मानवतावाद से ओत-प्रोत हैं तथा परवर्ती आलोचकों को श्रेष्ठ समीक्षा के उत्तम गुणों से अवगत कराती है।

काव्यात्मवाद संबंधी चर्चा में 'रस' को महत्व देते हैं तथा भक्ति रस और उसके स्वरूप मधुर रस को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रसानुभूति के आनंद को उस आनंद के समान माना जो योगियों को अनुभव होता है। आत्मा द्वारा अनुभूत यह अलौकिक रस ही उन्हें भाता है। उनके अनुसार रस विश्वजनीन होता है। उसमें कोई वैयक्तिक राग-द्वेष नहीं होता। रस-बोध के समय सहृदय विभावों के साथ अपना अभेद अनुभव करता है। अभेद की अनुभूति में कोई बाधा पड़े तो रसानुभव असंभव हो जाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी समूचा भारतीय काव्य-साहित्य 'रस' को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न है। यद्यपि ध्वनि-संप्रदाय अन्यान्य अलंकार संप्रदायों की अपेक्षा नवीन था तथापि 'रस' के प्राचीन सिद्धांत को आत्मसात करने की शक्ति उसी में थी। रस प्रकृत्या ही व्यंजनीय है उसे ध्वनि के अंतर्गत ही आना चाहिए। रस की महत्ता के साथ आचार्य द्विवेदी औचित्य को भी महत्व प्रदान करते हैं और कहते हैं कि साहित्य ही मानव जाति की अंतर्निहित एकता को स्थापित करने में सहयोगी सिद्ध होता है। मानवीय संस्कृति की नींव को मजबूत करता है। इसके लिए शब्द और अर्थ के औचित्य को समझना होगा। काव्य स्थूल जगत से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकता। शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं। अर्थ शब्दों द्वारा सूचित बाह्य सत्ता को प्रकट करते हैं। एक व्यक्ति के चित्त में स्थित अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। यहां अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराने की प्रक्रिया में औचित्य आवश्यक है। वरना अर्थ, अनर्थ में या निरर्थक भी सिद्ध हो सकता है।

द्विवेदी जी ने सर्वप्रथम भारतवर्ष की भाषा-समस्या को अपनी समालोचना का विषय बनाया है। द्विवेदी जी का साहित्य का मूल्यांकन संबंधी दृष्टिकोण अत्यंत उदार और प्रगतिशील है। यद्यपि उनका प्राचीन शास्त्रीयता का अध्ययन अत्यंत गंभीर और व्यापक है, किंतु आज के प्रगतिशील युग में वे उसकी सीमाओं से भी अपरिचित नहीं है। उनकी मान्यता है कि बिना नूतन साहित्यिक दृष्टिकोण को स्वीकार किये हम अपने आधुनिक साहित्य की समालोचना कर ही नहीं सकते। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिंदी साहित्य के एक प्रमुख विचारक हैं और उन्होंने साहित्य जगत को मानववादी दृष्टिकोण प्रदान किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का पक्ष है कि हिंदी का सच्चा साहित्य 'भक्तिकाल' से आरंभ होता है। आदिकाल में जो धारा प्राणधारा है वह अध्यात्म की ही है। इसलिए उनका पक्ष है कि भारत में यदि मुसलमान न भी आए होते तो हिंदी साहित्य का इतिहास बारह आने वही होता जो है-चार आना प्रभाव परिस्थितियों का भी है। वस्तुतः इसी भिन्न दृष्टि वाले प्रस्थान में इतिहास लेखन एक व्यक्ति द्वारा संभव नहीं है-वह सहकारी लेखन से ही संभव है। द्विवेदी जी शोधी और पंडित रहे हैं। भारतीय प्राचीन साहित्य और दर्शन के अध्येता रहे है। आगमों के विभिन्न रूपों का परिशीलन किया है और जिसे 'फ्री थिंकिंग'-मुक्त चिंतन कहा जाता है-उनके निबंधकार रूप में वह है ही। इतिहास की शव-साधना में उनकी गंभीर आस्था है। इस माने में वे राष्ट्रीय होकर भी अंतर्राष्ट्रीय है।

डॉ. रामविलास शर्मा हिंदी की प्रगतिवादी समीक्षा में एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व हैं। हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में उनका प्रवेश, स्वच्छंदतावादी समीक्षक के रूप में हुआ। साहित्य में मनुष्य की बाह्य इंद्रियां, हृदय और मस्तिष्क तीनों का संबंध होता है। रूप, भावना तथा

विचार की एकता से कला सृष्टि संभव है।" जहां तक उनके द्वारा प्रस्तुत इंद्रिय बोध की प्राथमिकता का प्रश्न है तो उनका यह दृष्टिकोण मार्क्स की उस चिन्तनधारा का अनुसरण है, जिनमें प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन के लिए इंद्रिय-बोध को प्रस्थान बिंदु माना गया है। कला-सृष्टि का आधार उनके मत से मनुष्य का इंद्रिय-बोध है। मनुष्य की चेतना में सबसे व्यापक स्तर इंद्रिय बोध का है। उसके विचार बदल जाते हैं, भाव बदल जाते हैं लेकिन उसका इंद्रिय बोध अपेक्षाकृत स्थायी होता है। साहित्य का प्रभाव दर्शन और विज्ञान से अधिक व्यापक इसीलिए होता है कि उसका संबंध इंद्रिय बोध से है। साहित्य का माध्यम ही रूपमय है। कल्पना के द्वारा साहित्य श्रोता या पाठक के मन में भिन्न-भिन्न रूपों की सृष्टि करता है। इंद्रिय बोध के अभाव में शुद्ध कल्पना असंभव होती है। उनके अनुसार साहित्य-सृजन के हेतु के रूप में जिन तत्वों इंद्रिय-बोध, भाव तथा विचार के समन्वय पर उन्होंने बल दिया है, वे भी उनके अनुसार समाज-सापेक्ष हैं। इंद्रियों द्वारा जिस आनन्द का बोध होता है, उसकी वस्तुगत सत्ता बाह्य जगत में ही निहित रहती है। भाव-जगत का आधार भी इसी प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की वे अनुभूतियां ही हैं जिनका विकास सामाजिक जीवन के धरातल पर ही संभव है। सामाजिक जीवन की परिस्थितियां मनुष्य के विचार जगत में परिवर्तन ला देती हैं।

भारतीय काव्य शास्त्र में रस-प्रतीति के संबंध में जो विभिन्न मत प्रस्तुत किये गए हैं उन्हें वे एक-दूसरे का विरोधी न मानकर पूरक के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके मत से सौंदर्य वस्तुतः कलाकृति का उत्कर्ष है और रस उस उत्कर्ष की सहृदयजन्य प्रतीति। डॉ. शर्मा ने रस निष्पत्ति के सिलसिले में उत्पत्तिवाद, अनुमानवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद नाम से जो चार मत प्रचलित हैं, उनको एक-दूसरे के विरोधी न मानकर पूरक माना। प्रत्येक साहित्यकार के लिए यह आवश्यक है कि वह सामाजिक यथार्थता को ग्रहण करते हुए जनशक्ति को चेतना की नई भूमिकाओं की ओर अग्रसर करे, सुख और जनकल्याण का प्रशस्त आधार प्रस्तुत करे। यही साहित्य का सामाजिक उपयोग होगा।

छायावादी काव्यधारा के अंतर्गत यद्यपि महाकवि निराला ही डॉ. शर्मा के द्वारा प्रमुख रूप से विवेच्य रहे हैं, फिर भी उन्होंने प्रसाद, पंत तथा महादेवी वर्मा के संबंध में भी अपनी मान्यताएं प्रस्तुत की हैं। उनके मत से, प्रसाद का अधिकांश साहित्य विशेषतया उनका कथा साहित्य यथार्थवादी भूमिका पर आधारित है। पंत के काव्य की समीक्षा करते हुए जहां एक ओर उनकी 'ग्राम्या' को उन्होंने, 'प्रगतिशील कविता का ऐतिहासिक मार्ग चिह्न कहा है, वहीं उनकी नव्यतम कृतियों 'स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, उत्तरा' आदि की पर्याप्त आलोचना भी की है। महादेवी के काव्य की अतिशय वैयक्तिकता एवं वेदना की आलोचना करने के बावजूद उन्होंने यह स्वीकार किया है कि निराला को छोड़कर किसी अन्य कवि में जीवन के प्रति इतनी चाह नहीं है जितनी महादेवी में।

प्रगतिवादी समीक्षा के क्षेत्र में भी डॉ. रामविलास शर्मा का अपने सहयोगियों से पर्याप्त मतभेद हैं। उन्होंने शिवदानसिंह चौहान की इस स्थापना का कि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, का खंडन किया है। कहा है कि 'अगर कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है तो साहित्य में प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी का भेद करना निरर्थक है।' डॉ. शर्मा ने माना कि 'न तो साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है न आलोचक। वे प्रगतिशील तभी

हो सकते हैं जब वे जन साधारण का पक्ष लेते हैं।' प्रगतिशील साहित्यकार के लिए दो चीजें आवश्यक है– समाज के परस्पर विरोधी संबंधों का चित्रण तथा विकासमान संभावना की कल्पनापरक अभिव्यक्ति। आज के युग का सत्य यह है कि एक तरफ जनता साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रही है दूसरी तरफ साम्राज्यवादी ताकतें और उसके हिमायती उसे दबाने और बनाए रखने की कोशिश कर रहे हैं। इस द्वंद्व में कलाकार किसी अदृश्य युग सत्य का सहारा न लेकर जनता या उसके विरोधियों का पक्ष लेता है इसलिए स्वभावत: प्रगतिशील होकर उस युग विशेष और समाज विशेष और जनता का पक्ष लेने पर ही उसे प्रगतिशील कहा जा सकता है। डॉ. रामविलास शर्मा की व्यावहारिक समीक्षा भी मूलत: मार्क्सवादी आदर्शों पर आधारित है। वे कवि लेखक तथा समीक्षक ही उनके लिए प्रमुख रूप से विवेच्य हैं, जिसकी कृतियों में जनवादी तत्वों की प्रधानता रही है अथवा जिनके अंतर्गत स्वस्थ सामाजिक मूल्यों की स्थापना हो सकी है। इस दृष्टि से आधुनिक हिंदी साहित्य के अंतर्गत उन्हें निराला, प्रेमचंद और आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतीत हुए। इस प्रकार प्रगतिशील आंदोलन के विकास के साथ डॉ. शर्मा की समीक्षा नये आदर्शों से प्रभावित तथा विकसित हुई, हिंदी आलोचना साहित्य में उन्होंने अपना अमिट प्रभाव छोड़ा।

हिंदी आलोचना की एक लंबी परंपरा है जिसमें प्रगतिवादी प्रखर एवं गंभीर कवि आलोचक मुक्तिबोध का नाम प्रमुख है। मुक्तिबोध ने भाववादी-कलावादी सौंदर्यशास्त्र के प्रतिमानों का खंडन करते हुए मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के वस्तुपरक प्रतिमानों को प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। मुक्तिबोध की सबसे बड़ी आलोचना उपलब्धि उनकी रचना-प्रक्रिया का विवेचन है। मुक्तिबोध की आलोचनात्मक दृष्टि सदा रचना प्रक्रिया के गूढ़ तत्वों को समझने और उन्हें विश्लेषित करने पर रही है। इसी के कारण वे कला की सार्थक परिभाषा करने में भी सफल रहे हैं– रचना प्रक्रिया को सुस्पष्ट ढंग से व्यक्त करने के लिए मुक्तिबोध ने उसका विश्लेषण किया है। और उसके तीन क्षण निर्धारित किए हैं। मुक्तिबोध चिंतनशील प्रकृति के थे। निरंतर अशांत और व्यग्र रहने वाला उनका मन जीवन-समाज और साहित्य से जुड़े हर सवालों से जूझने लगता था। मुक्तिबोध का चिंतन द्वंद्वात्मक है और जीवन-संघर्ष तथा सौंदर्यशास्त्र के दुहरे स्तर पर सक्रिय रहा है। मुक्तिबोध बर्गसां से लेकर मार्क्स तक के उपलब्ध चिंतन को आत्मसात करते हुए भी सारे प्रश्नों से निजी स्तर पर मुठभेड़ करते हैं। वे हिंदी समीक्षा की दरिद्रता और इकहरी काठी से बहुधा क्षुब्ध रहते थे। पूर्व ज्ञात सत्य और पूर्व निश्चित निषेध की प्रवृत्ति के विरुद्ध वे अन्वेषण की प्रणाली में विश्वास रखते थे। मुक्तिबोध ऐसे अकेले कवि हैं जिन्होंने विवेचना और विश्लेषण को कविता में व्यक्त किया है। इसके बीज उनके स्वभाव में ही हैं। मुक्तिबोध जताने के लिए नहीं जानने के लिए बहस करते हैं। उनका चिंतन आत्मालाप से परे वस्तु जगत के भीतर होने वाले आत्म-मंथन का परिणाम है। मुक्तिबोध कलाकार के स्वानुभूत जीवन और संपन्न जीवनानुभव के आधार पर जीवन के सार रूप में 'सौंदर्य' को परिभाषित करते हैं। अर्थात सौंदर्य के मूल तत्व यथार्थ जीवन के अनुभूत तत्वों से ही आकार ग्रहण करते हैं। कविता और कला की रचना का संबंध मनुष्य की इसी सौंदर्यानुभूति से है। यही जीवन-जगत का साधारण अनुभव कलाकार या लेखक द्वारा पुनर्गठित होने पर कला रूप में परिणत हो जाता है। मुक्तिबोध ने

मानवीय चेतना पर पड़नेवाले प्रभावों और अनुभवों तथा उन्हीं अनुभवों की पुनर्रचना की व्याख्या अनेक बार की है, और तरह-तरह से यही बताने की कोशिश की है कि कला का संबंध जगत के वास्तविक अनुभवों से है। मुक्तिबोध ने रचना प्रक्रिया में 'फैंटेसी' पर विशेष बल दिया है। यह उनकी रचना प्रक्रिया की अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों है। उनके अनुसार- "भाषा फैंटेसी को काटती-छांटती है, और इस प्रक्रिया के विपरीत फैंटेसी भाषा को संपन्न और समृद्ध भी करती है। इससे कवि-भाषा का निर्माण होता है। मुक्तिबोध द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में अत्यधिक विश्वास रखते हैं और रचना-प्रक्रिया की गतिशीलता में उन्हें उसका बोध निरंतर होता रहा है।

मुक्तिबोध के लिए केवल शब्द नहीं चतुर्दिक बिखरी ऐसी धड़कती सच्चाई थी जिसके बिना व्यक्ति का कोई अर्थ नहीं बच रहता। उनके ये शब्द गौरतलब हैं- समाज रेत का ढेर नहीं...समाज एक वृक्ष की भांति है। 'समाज और साहित्य' नामक अपने चौंतीस पृष्ठ के लंबे लेख में मुक्तिबोध ने साहित्य के अनेक प्रश्नों को ही नहीं किंतु सामाजिक ढांचे और विकास को भी विस्तार से विवेचित किया है। मुक्तिबोध मार्क्स की इस प्रसिद्ध उक्ति को अपने ढंग से स्पष्ट करते हैं कि "सामाजिक अस्तित्व ही चेतना का निर्धारण करता है।" मुक्तिबोध ने अपने सारे चिंतन के दौरान जीवन की सर्वोपरिता को अनेक ढंग से दोहराया है। कदाचित् यही उनकी आधारभूत पकड़ रही है इस मान्यता के आलोक में मुक्तिबोध व्यक्ति और समाज के बीच विरोध नहीं मानते। विरोध यदि है तो गलत विचारधाराओं का है। व्यक्ति और समाज के विरोध को वे मात्र बौद्धिक विक्षेप मानते हैं, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। भारतीय सामाजिक संरचना के आर्थिक मूल्यों और वर्ग व्यवस्था के प्रश्नों को भी मुक्तिबोध ने उठाया है। सामंतवाद और पूंजीवाद के चरित्र और उनकी शोषण-विधियों के बीच भ्रमित मध्य वर्ग की स्थिति उनके लिए सदैव चिंता का विषय रही। मध्य वर्ग का उन्होंने खाते-पीते वर्ग और उसी वर्ग को गरीब श्रेणी में विभाजित कर अनेक स्थलों पर खाते-पीते मध्य वर्ग की इस तर्क से आलोचना की। परिवार में भी श्रेणियां और वर्ग बने हैं। गरीब घर से आई लड़की की स्थिति सबसे खराब है। मुक्तिबोध के काव्य और चिंतन में भारत की शोषित नारी के प्रति चिंता भी कम नहीं है। मध्ययुगीन स्थिति से लेकर आधुनिक नारी की त्रासदी को मुक्तिबोध ने पहचाना है। 'सामंती वर्ग की वासना-प्रणाली ही को नहीं वे 'सीता' की यातना को भी स्त्री-शोषण के रूप में देखते हैं।

मुक्तिबोध वैज्ञानिक दृष्टि को महत्व देते थे पर न्यूटन, आइंस्टाइन आदि वैज्ञानिकों का उल्लेख भी करते हैं कि उन्होंने आधुनिकता बोध को विज्ञान-टेक्नालॉजी के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर परखा है। विज्ञान और टेक्नालॉजी के कारण हुए असंतुलित संवेगात्मक स्थिति से वे परिचित थे और इसलिए नई जीवन दृष्टि के हिमायती थे। इस नई जीवन दृष्टि के लिए वे व्यक्ति और जीवन के रचनात्मक मूल्यों पर बेहद जोर देते थे। वे अपनी वैज्ञानिक मानववाद की धारणा की रोशनी में अमूर्त मानवतावाद के भावात्मक प्रतिमानों के अंधेरे को जानते थे। विज्ञान के नये आविष्कार और निर्माण कार्य को आशा और उत्साहवर्धक घटना मानते थे। विज्ञान पर विचार करते हुए उनकी दृष्टि में इस विशालकाय देश के करोड़ों लोगों की वर्तमान स्थिति और भविष्य की चिंता रहती थी। औद्योगीकरण को मुक्तिबोध जन कष्ट-निवारण की प्रक्रिया के रूप में देखते थे।

वे उस सिद्धांतवादी अहंकार से पीड़ित न होकर, लक्ष्योन्मुख उदार मानवतावाद से प्रेरित हैं। उनकी दृष्टि मानव जीवन की कल्पित आवश्यकताओं के बदले रोजमर्रा की वास्तविक आवश्यकताओं पर केंद्रित रही और इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने संस्कृति, इतिहास, विज्ञान और मानवाद को परखा। उनके आलोचना-सिद्धांतों से स्पष्ट है कि जितनी आवश्यकता लेखक को 'ईमानदारी' की है, उतनी ही समीक्षक को 'चरित्र' की रहती है।

मुक्तिबोध प्रगतिवादी आलोचकों से नई कविता तथा नये साहित्य का व्यापक तथा उदार दृष्टि से विवेचित-विश्लेषित करने की मांग को जोर-शोर से करते रहे। यह कार्य नामवर सिंह के द्वारा पूर्ण किया गया। हिंदी साहित्य के इतिहास की ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से पुनर्लेखन की मांग को आरंभ से ही रेखांकित करते रहे हैं। मार्क्सवादी पद्धति से 'छायावाद' नामक पुस्तक में उनके द्वारा गहन विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। 'कविता के नये प्रतिमान' में डॉ. सिंह ने प्राचीन तथा नवीन सर्जनात्मकता का मूल्यांकन करने के लिए और न्याय दिलाने के लिए लक्ष्मीकांत वर्मा की पुस्तक 'नई कविता के प्रतिमान' नामक पुस्तक से दिशा-दृष्टि में अलग हटते हुए देश-विदेश के सिद्धांतों से नया काव्य-शास्त्र निर्मित किया है। कविता के काव्यबोध को परखने के लिए 'कविता के नये प्रतिमान' में कविता के लगभग सभी पक्षों-पर नामवर सिंह ने विचार किया है। आलोचक की भूमिका को वे महत्वपूर्ण मानते हैं। उनकी दृष्टि में आलोचक की वस्तुनिष्ठता इस बात में है कि वह किसी कृति के मूल्यांकन की प्रक्रिया में उसके रूप की जो पुनः सृष्टि अपने लिए करता है वह यथासंभव अधिक से अधिक मूल कृति के निकट हो। इस प्रयास में एकमात्र अवलंब उस कविता की भाषा है। उस कविता से संबंधित चाहे जितनी बाहरी सूचनाएं उसे उपलब्ध हों किंतु 'खेल के नियम' के मुताबिक आलोचक उन सूचनाओं से सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

'काव्य-बिंब और सपाटबयानी' नामक निबंध में बिंब को काव्य-प्रतिमान मानने वाले पश्चिमी आलोचकों की चर्चा है। यहां वे हिंदी समीक्षा में आचार्य शुक्ल जी के 'बिंब ग्रहण' से शुरू करते हैं, पल्लव की भूमिका में घोषित 'चित्र भाषा की आवश्यकता' के साथ निराला जी के 'विराट चित्रों' की दृष्टि का संकेत देते हैं। वे डॉ. नगेंद्र की 'काव्य बिंब' दृष्टि का खंडन करते हुए डॉ. केदारनाथ सिंह के साथ हो जाते हैं। यहीं पर डॉ. नामवर सिंह पर एफ.आर. लीविस की दृष्टि का प्रभाव है। डॉ. परमानंद श्रीवास्तव के शब्दों में हम डॉ. नामवर सिंह का मूल्यांकन कर सकते हैं कि "नामवर सिंह की आलोचना की सार्थकता इसलिए है कि वह तीखे वैचारिक संघर्ष और साहस के एक तरह की रचनाशीलता और प्रखर जीवंत संवादोत्मकता का साक्ष्य भी है। विचारधारावादी आलोचक और भी हैं पर वे अक्सर उस ढंग की सर्जनात्मक विकलता से वंचित हैं जो नामवर सिंह की आलोचना का सहज गुण है। केवल स्थापनाएं करने वाली या परिभाषाएं देने वाली आलोचना, आलोचना को दर्शन बना सकती है। सर्जनात्मक साहित्य नहीं। नामवर सिंह की आलोचना सर्जनात्मक साहित्य है।" डॉ. सिंह की समीक्षा पद्धति की यह विशेषता है कि उनमें आचार्य शुक्ल के साथ मुक्तिबोध, आई.ए. रिचर्ड्स, टी.एस. इलियट तथा डॉ. एफ.आर. लीविस की विचारधाराओं का समन्वय दिखाई देता है।

इस प्रकार इस इकाई में आपने साहित्य समीक्षा को ऊंचाइयों तक ले जाने और उसे नयी दिशा प्रदान करने वाले विद्वान समालोचकों व उनकी मान्यताओं को जाना।

5.11 मुख्य शब्दावली

- **विधा** : शैली।
- **टांग खींचना** : निरर्थक आलोचना करना।
- **उन्मेष** : किसी भाव का प्रकट होना।
- **समाहित** : समाया हुआ।
- **प्रयोगवाद** : परंपराओं को तोड़ना।
- **उत्कर्ष-अपकर्ष** : उत्थान-पतन।
- **वैनोदिक** : मनोरंजनात्मक।
- **उपादान** : मुख्य कारण (जैसे घड़े के लिए मिट्टी)।
- **कदर्थित** : तिरस्कृत।
- **चिरंतन** : बहुत दिनों से चला आता रहने वाला, पुरातन।
- **द्राक्षा** : अंगूर।
- **भूमा** : ऐश्वर्य।
- **सातत्य** : निरंतरता, स्थायित्व।
- **अभ्यंतर** : अंत:करण।

5.12 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1. रसवादी
2. आनंद की साधनावस्था और सिद्धावस्था
3. दार्शनिक चिंतन की
4. तीन
5. लोक-हृदय की पहचान
6. रस-दशा
7. आचार्य रामचंद्र शुक्ल को
8. विलायती चीजों का मुरब्बा
9. पूंजीवादी प्रवृत्ति का
10. 'समाज की गतिशीलता की अभिव्यक्ति
11. काडवेल
12. दो
13. अभिनवगुप्त

14. औचित्य सिद्धांत
15. 'पश्चिमी प्रयोगवाद' को
16. आधुनिक युग का रीतिवाद
17. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी
18. रस को
19. छायावादी कवियों को
20. नंददुलारे वाजपेयी को
21. आक्रोश का
22. समाजवादी विचारों के
23. प्लेटो और अरस्तू
24. सात
25. स्वच्छंदतावादी
26. महाकाव्य
27. सुमित्रानंदन पंत
28. 'रस सिद्धांत'
29. स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह
30. डॉ. नगेंद्र को
31. निषिद्ध
32. शिव और सुंदर
33. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
34. शृंगार
35. सार्थक
36. पावन एवं आदर्शपूर्ण
37. इच्छा, ज्ञान और क्रिया
38. मनुष्य को देवता मानना
39. कबीर, तुलसी और प्रेमचंद
40. मानवतावादी
41. स्वच्छंदतावादी
42. वस्तु का रूप पक्ष
43. रूप, भावना तथा विचार की
44. विषयवस्तु की

45. वस्तु जगत की यथार्थता

46. मनुष्य का इंद्रिय बोध

47. सौंदर्य

48. प्रजापति का

49. सांस्कृतिक प्रक्रिया

50. फैंटेसी

51. वास्तविक दुनिया में

52. द्वंद्वात्मक

53. सौंदर्यानुभूति

54. समाजवाद से

55. औद्योगीकरण को

56. आशा और उत्साहवर्धक घटना

57. ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण

58. मार्क्सवादी

59. छायावादी काव्य में

60. कविता के नये प्रतिमान

61. दूसरी परंपरा की खोज

62. रस से

63. रस को

64. टी.एस. इलियट

5.13 अभ्यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. लोकमंगल की भावना पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. छायावाद पर प्रकट आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचारों की समीक्षा कीजिए।
3. मार्क्सवादी समीक्षा एवं शिवदान सिंह चौहान की तुलना कीजिए।
4. प्रगतिवादी साहित्य चिंतन से आप क्या समझते है? समझाइए।
5. साधारणीकरण की सीमा से क्या अभिप्राय है? स्पष्ट कीजिए।
6. छायावाद पर डॉ. नगेंद्र के विचारों की समीक्षा कीजिए।
7. काव्य में शुद्धता के आग्रह से आप क्या समझते हैं? वर्तमान साहित्य से उदाहरण देकर समझाइए।

8. हजारी प्रसाद द्विवेदी के सौंदर्य एवं संस्कृति बोध पर एक निबंध लिखिए।
9. डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार एक साहित्यकार की भूमिका को परिभाषित कीजिए।
10. मुक्तिबोध के काव्य में चित्रित समाज का सोदाहरण विवेचन कीजिए।
11. छायावाद का 'सामाजिक सत्य' क्या है? परिभाषित कीजिए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. हिंदी साहित्य के समालोचना जगत में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के योगदान का विस्तार से विवेचन कीजिए।
2. शिवदान सिंह की आलोचना शैली की समीक्षा कीजिए।
3. आधुनिक काल के स्वच्छंदतावादी समीक्षकों में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का महत्व प्रतिपादित कीजिए।
4. 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों का समन्वय करने के साथ डॉ. नगेंद्र ने आधुनिक हिंदी आलोचना साहित्य को एक प्रखरता प्रदान की'– इस कथन के परिप्रेक्ष्य में डॉ. नगेंद्र की आलोचना पद्धति की समीक्षा कीजिए।
5. आलोचना में भी मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाले समीक्षक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के काव्य सिद्धांतों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
6. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मतवैभिन्य का सोदाहरण विश्लेषण कीजिए।
7. प्रगतिवादी समीक्षा के विकास में डॉ. रामविलास शर्मा के योगदान का विवेचन कीजिए।
8. मुक्तिबोध के चिंतन के स्वरूप का विस्तार से विवेचन कीजिए।
9. मुक्तिबोध के काव्य में मार्क्सवादी मूल्यों का विश्लेषण कीजिए।
10. 'डॉ. नामवर सिंह की आलोचना सर्जनात्मक साहित्य है'– इस कथन के परिप्रेक्ष्य में हिंदी समीक्षा जगत में डॉ. नामवर सिंह के योगदान का विवेचन कीजिए।

5.14 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. डॉ. भगीरथ मिश्र, *काव्यशास्त्र*, विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर-1957
2. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, *हिन्दी साहित्य में विविध वाद*, पद्मजा प्रकाशन कानपुर 2010-वि.सं.
3. डॉ. वेंकट शर्मा, भूमिका नगेंद्र, *आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास*. आत्माराम एंड संस दिल्ली-1967
4. डॉ. जगदीश प्रसाद कौशिक, *काव्य दर्पण*, साहित्यागार, जयपुर-1988
5. डॉ. जगदीश प्रसाद कौशिक, *भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमान*, साहित्यागार जयपुर -1988

6. चदकांत देवताले, *मुक्तिबोध कविता और जीवन विवेक*, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
7. सत्यदेव मिश्र, *पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांत और वाद*, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा,1975
8. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, *सहृदय और साधारणीकरण*, हिंदुस्तान एकेडमी इलाहाबाद, 1984
8. डॉ. लक्ष्मी पांडेय, *अधुनातन काव्यशास्त्री : आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी*, उर्मिल प्रकाशन, गाजियाबाद।
10. डॉ. रामचंद्र तिवारी, *हिंदी आलोचना: शिखरों का साक्षात्कार*, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
11. डॉ. हुकुमचंद राजपाल, *आधुनिक हिंदी आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव*, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
120 डॉ. रामकृपाल पांडेय, *आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साहित्य सिद्धांत*, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
13. डॉ. निर्मला जैन, *नयी समीक्षा के प्रतिमान*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
14. डॉ. बच्चन सिंह, *आलोचक और आलोचना*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
15. विश्वनाथ त्रिपाठी, *हिंदी आलोचना*, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली
16. नंद किशोर नवल, *हिंदी आलोचना का विकास*, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली

Institute of Distance Education

Rajiv Gandhi University

A Central University

Rono Hills, Arunachal Pradesh

Contact us:

+91-98638 68890 Ide Rgu Ide Rgu helpdesk.ide@rgu.ac.in